आजाद / भगतसिंह / गणेशशंकर विद्यार्थी
के बलिदान की अर्धशताब्दी के लिए
विशेष रूप से प्रकाशित पुस्तक


निधि प्रकाशन
1590, मदरसा रोड
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक इतिहास

मन्मथनाथ गुप्त



मूल्य : चालीस रुपये

प्रकाशक : निधि प्रकाशन
1590, मदरसा रोड
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

क्रमांक : 21

प्रथम संस्करण : दिसम्बर, 1980

मुद्रक : मित्तल प्रिण्टर्स
के-13, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

KRANTIKARI ANDOLAN KA VAICHARIK ITIHAS : (History)
by Manmath Nath Gupta o Rs. 40 00

दो शब्द

इस समय भारत के विश्वविद्यालयों में बहुत-से छात्र, और मेरी सूचना यह है कि छात्रो से अधिक छात्राएं, इस शोध में दिन-रात एक कर रहे हैं कि—भारत कैसे स्वतत्र हुआ, स्वातन्त्र्य-योद्धा किन आदर्शों और विचारो से प्रेरित थे, उनके विचारों मे कितना दिखाऊ था और कितना वास्तविक था : कितना असली सोना था और कितनी खोट थी ? क्या स्वातंत्र्य-योद्धाओं के मानस-नेत्रों के सामने स्वतंत्र भारत का कोई चित्र था, और यदि था तो क्या राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ के घात-प्रतिघात से उसका किसी प्रकार विकास होता गया ? क्या स्वराज्य से वह चित्र उभरा ?

मैं गत चालीस साल से भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन पर लिख-बोल रहा हू। मेरी इस सम्बन्ध में पहली पुस्तक का, जो ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर ली गई थी, प्रतिपाद्य यही था कि भारतीय क्रान्तिकारी आंदोलन एक नदी के रूप में रहा है, जो हर क्षण बदलती है, पर नाम वही रहता है। 1857 ई० के प्रत्येक क्रांतिकारी के मन में भारत के भविष्य के सबध मे इतनी ही सामान्य धारणा थी कि अग्रेज नही रहेगे। बाकी मामलों में कोई कुछ सोचता था, कोई कुछ। कुछ लोग तो टटोलते-टटोलते समाजवाद तक पहुंचे थे जैसा कि डा० भगवानदास माहौर ने अपने सुप्रसिद्ध शोधग्रंथ में दिखलाया है। धीरे-धीरे नदी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गई, उसमें नये-नये सोते और नाले आकर मिले। कुछ नाले बहुत गंदे थे, जैसे सर्वइस्लामवाद तथा हिंदूपदशाही के। मुख्यधारा इन गंदगियों को पचाकर, परास्त कर कैसे आगे बढ़ती गई, कैसे वह रूसी क्रांति जैसी जीवनदायिनी घटना से तुष्ट-पुष्ट होकर आगे सरकी—यह हमारे इतिहास का एक अत्यन्त सनसनीपूर्ण और रोमांचकारी अध्याय है।

क्रांतिकारियों ने सबसे पहले पूर्ण स्वाधीनता का नारा दिया, उन्होंने ही समाजवाद की विचारधारा को सबसे पहले अपने हृदय से चिपकाया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उन्हीके नेताओं ने सबसे पहले बोअर जैसी छोटी से छोटी जातियो के द्वारा साम्राज्यवाद के विरोध का साथ दिया। क्रांतिकारियों को ही इस बात का श्रेय है कि धर्मनिरपेक्षता को ढोंग-ढकोसलों से भरी परस्पर-प्रशंसा के दलदल से निकाल-

कर उसे आत्मसमालोचना के ठोस आधार पर स्थापित किया।

धर्मनिरपेक्षता के क्षेत्र मे आज जो कुछ भी हो रहा है, उसको सफलता इस कारण नही मिली, न मिलेगी कि उसका एकमात्र लक्ष्य वोट बटोरना रहा है। सभीने बीमारी की जड तक न जाकर उसकी फुनगियों की सिंचाई की। नतीजा यह रहा कि पाकिस्तान बना, गांधी निराशा मे तड़प-तडपकर जीते रहे। यह तथ्य इस बात से छिप गया कि एक महामूर्ख हिंदू ने उनको गोलियां मारकर शहीद बना दिया। आज वोट प्राप्त करने की लालसा मे राजनीतिक नेता मजारों पर चादरें चढाने के साथ-साथ मदिरों मे घंटा बजा रहे हैं। अफसोस है कि अपनेको कम्युनिस्ट, समाजवादी बतानेवाले लोग भी इस भेडियाधसान के सातवें सवार बने हुए है, यह तब जबकि दढ़ियल बाबा मार्क्स उन्हें वह नुसखा और गुर बता गए और तिजोरी की चाभी दे गए कि धर्म जनता के लिए अफीम है। पर धन्य है वोट देवी के गेसू, उनपर वे सब कुछ न्योछावर करके 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' का कलमा और गायत्री जप रहे है।

इस इतिहास मे वह राजनैतिक प्रश्न भी सामने रखा गया कि क्या संसद्वाद तक सीमित व्यक्ति, गुट या दल अपनेको साम्यवादी या क्रांतिकारी कहलाने का हकदार है। इसमें और भी बहुत-सी पचड़ेवाली गुत्थिया सुलझाई गई है।

मैं जानता हू कि मेरे इस इतिहास से, जिसमे दूध का दूध और पानी का पानी कर देने की चेष्टा की गई है, कोई गुट खुश नही होगा। चलते हुए यह बता दिया जाए कि दूध का दूध और पानी का पानी कर देने का श्रेय मुझे नही, शहीदों को प्राप्त है। मैंने तो केवल उनके चिन्तन को, जिसे उन्होने रक्त से सिंचित किया, सामने कर दिया है; बावजूद इसके कि उनके चिंतन को ब्लैकआउट करने का बड़ा भारी षड्यंत्र है। इस इतिहास का उद्देश्य केवल अतीत का आकलन नही, भविष्य के लिए सकेत खोज देना है।

रूसी क्रांति दिवस
7 नवम्बर, 1980

—मन्मथनाथ गुप्त

प्रकाशकीय

निधि प्रकाशन ऐतिहासिक साहित्य की निधि को समृद्ध करने को कृतसंकल्प है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समृद्धि गणनात्मक ही होगी, अपितु प्रयत्न यह रहेगा कि विद्वान लेखकों, शोधकर्ताओं की लेखनी के माध्यम से इसे गुणात्मक भी बनाया जाए।

इस क्रम में, इतिहास के अध्येताओं एवं भारत-प्रेमी पाठकों के सम्मुख, वर्ष अस्सी में यह तीसरी पुस्तक है। इससे पूर्व हम दो पुस्तकें—'तिलक से आज तक' तथा 'अमर शहीद सुखदेव' प्रकाशित कर चुके हैं, जिनका विषय के विद्वानों एवं सुधी पाठकों में स्वागत हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक इतिहास' स्वतंत्रता-संग्राम के क्रान्तिकारी, इतिहासविद् एवं कथाकार मन्मथनाथ गुप्त के अथक प्रयास का सुफल है। इस पुस्तक में पहली बार बीसवीं सदी के भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का विचारात्मक इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसका सूत्रपात 1857 ई० में हो चुका था। विगत समय में स्वातन्त्र्य-आन्दोलन-सम्बन्धी जो भ्रामक एवं पक्षपातपूर्ण इतिहास-साहित्य प्रकाश में आया, उससे हटकर यह पुस्तक उन कोणों को उजागर करती है जो जानते-बूझते उपेक्षित कर दिए गए थे।

वैसे, स्वतन्त्रताकालीन इतिहास का पुनःस्मरण एवं पुनर्मूल्यांकन आज भी प्रासंगिक है और इससे भटक रही नई पीढ़ी को चरित्रगत दिशा-निर्देश मिल सकता है; और इसी लक्ष्य की पूरक यह पुस्तक सर्वत्र अभिनन्दनीय होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

—विनीत

9 नवम्बर, '80 (भैया दूज)

कृष्ण विकास
व्यवस्था-सम्पादक
निधि प्रकाशन

क्रम

विषय-प्रवेश

हमेशा मैं इस रोने के विरुद्ध (क्रान्तिकारी भाई भी इसमें शामिल रहे हैं) रहा कि लोगों ने क्रान्तिकारियों को भुला दिया। मैंने इसके विरोध में बराबर भाषण दिए और लेख लिखे। सचाई तो यह है कि लोगों ने यदि किसीको सही तौर पर रखा तो गाधी जी को। और क्रान्तिकारियों को, जो हमारे इतिहास की नींव के पत्थर थे, जैसा कि इस विषय पर लिखने वालों ने माना, ठीक रूप में रखा ही नहीं गया। गांधी जी जब तक भारतीय राजनैतिक गगन पर छाए रहे, तब तक यह चेष्टा प्रबल रूप से चलती रही कि क्रान्तिकारी और अहिंसावादी योद्धाओं के बीच में जातपात की तरह एक लक्ष्मणरेखा बनाई जाए; पर जनमानस एक और अभिन्न है। वह इतनी बारीकियों में अपनेको खो देने को तैयार नहीं। वह जिस गगनभेदी स्वर से महात्मा गाधी की जय कहता है, उसी तेजी और तर्रारी से भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद या अशफाक उल्ला की जय या जिन्दाबाद बोलता है। महात्मा गांधी आजीवन यह जेहाद करते रहे कि क्रान्तिकारियों के साहस और त्याग की सराहना करते हुए, उन्हें गुमराही के कोढ़ से ग्रस्त मानकर राजनीति के सिंहद्वार के बाहर रखा जाए, पर वह इसमें बराबर बुरी तरह असफल रहे।

गांधी, नेहरू आदि के सरकारी पृष्ठपोषण एवं रेडियो, दूरदर्शन के अत्यन्त प्रबल माध्यमों से अनवरत प्रचार के बावजूद स्थिति यह है कि गाधी पर भारत सरकार ने जो लगभग सौ जिल्दों की ग्रन्थावली निकाली है, उसका कोई क्रेता नहीं, इसलिए भारत सरकार ने उन जिल्दों से किसी तरह छुट्टी पाने के लिए कई सालों से एक अनोखा तरीका यह निकाला है कि जो भी विदेशी महामहिम यहां पधारता है, उसे ये जिल्दें भेंट में दी जाती हैं। इस तरह भारतीय दीमक की बजाय ये बुलगेरिया या अल्जीरिया या कुवैत की दीमकों की खुराक बनती हैं। नेहरू की आत्मकथा अब भी बिकती है, हमेशा बिकेगी क्योंकि उसमें साहित्यिक गुण है। पर राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा के प्रथम छापने वाले का, कहते हैं, दीवाला निकल गया, यद्यपि सरकारी बिक्री तो हुई होगी। मेरा मतलब स्वतंत्रता के पहले की प्रादेशिक कांग्रेस सरकारों (1937-39) से भी है।

लाल बहादुर लगभग दो वर्ष प्रधानमंत्री रहे और आदमी भी यह अच्छे थे,

सच्चरित्र थे, काला धन नही पैदा किया, न उनका स्विट्जरलैंड के बैंक में खाता है, फिर भी आज उनपर लिखने, शोध करने की किसीमे प्रवृत्ति नही है। कोई करेगा तो भूखों मरेगा।

जव लालबहादुर की यह स्थिति है, तो गाधी के दूसरे शिष्यों-उपशिष्यो की कौन कहे? मुझे याद है कि 1950 के वाद कुछ दिनो तक विनोवा-साहित्य (?) की वडी धूम रही, पर जव भूदान आन्दोलन का पेंदा खुल गया, तो उनके गाड़ियों ग्रन्थो को दीमक से वचाने के लिए कवाडियों के हवाले कर दिया गया। आज सस्ता साहित्य मण्डल भी विनोबा साहित्य को शायद चिमटों से छूने के लिए तैयार नही।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के सम्वन्ध मे इस समय जितनी जिज्ञासा है, उतनी किसी और आन्दोलन के सम्वन्ध मे नही है। यह इस तथ्य के वावजूद है कि सारी पाठ्यपुस्तको मे क्रान्तिकारी आन्दोलन को जहां तक सम्भव है ब्लैक आउट किया जा रहा है। किराये पर लिखने वाले इतिहासकारों ने इस ब्लैक आउटीकरण में उत्साह के साथ हाथ वटाया है। व्यक्तिगत रूप से कुछ लोग भुला तो दिए ही जाएंगे। पर मैं यहा वात कर रहा हू आन्दोलन और उसके नेताओ की।

हमे इस सम्वन्ध मे क्रान्तिकारी राजकुमारसिंह ने वहुत अच्छी बात कही थी। उन्होंने कहा था, "लोगो की यह शिकायत कोई अर्थ नही रखती कि मैं भुला दिया गया। इतिहास हर स्वयसेवक को याद नही रख सकता।"

किसीका दिमाग उस याद का वोझ वर्दाश्त नही कर सकता। 1941-45 के रूस-जर्मनी युद्ध मे प्रतिदिन लगभग 2 लाख सोवियत नागरिक मरते रहे। क्या इतिहास इन सवका नाम रिकार्ड करेगा? कही न कही रिकार्ड तो है ही, पर उसे पढेगा कौन? अवश्य ही उनमे से हरेक ने नाजियों से लडते हुए कोई न कोई वीरता दिखाई होगी और वह वीरता दिलचस्प भी होगी, पर उसको किसने देखा और उसपर किसने लिखा? इसलिए हमे यह असम्भव माग नही करनी चाहिए। अज्ञात सैनिक या शहीद के प्रति सम्मान प्रदर्शन का प्रयोजन यही है। यह घटिया लोगों के हाथों मे पडकर रस्म अदायगी तक ही रह जाता है, पर यह उससे कही ऊची और गहरी चीज है। रोज दो लाख वलिदान, जरा सोचने की वात है। इससे कौम का सिर ऊचा होता है।

द्वितीय महायुद्ध (1939-45) मे फासिस्टवाद के विरुद्ध लडते हुए दो करोड़ सोवियत नागरिक शहीद हुए। क्या उन सवको कोई याद करेगा? इसी कारण अज्ञात सैनिक की पूजा अपनाई गई कि उसमें सब आ जाते हैं। मैंने लन्दन में देखा, प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध में खेत रहे हुए लोगों की सूची की बहुत मोटी जिल्दें रखी हैं, लोग उन्हे देखते है, यदि किसीका पूर्वपुरुष शहीद हुआ, वे उसका नाम ढूढकर तृप्त होते है।

गांधी का सोता सूख गया

गांधी एक विराट् शिष्य मण्डली छोड़ गए, उनको राष्ट्रपिता की पदवी मिली, फिर भी आज का युवक गांधी क्या सोचते थे, इसपर जरा भी समय देने को तैयार नहीं। रेडियो, दूरदर्शन ने कई साल पहले 'गांधी आज कहां तक प्रासगिक हैं' इसपर एक कार्यक्रम चलाया था। उससे पता लगा कि पढा-लिखा युवक-वर्ग गांधी मे किसी प्रकार की कोई दिलचस्पी नही रखता। पर क्रान्तिकारियो पर बराबर कौतूहल और उत्साह बना हुआ है। इसका रहस्य यह है कि क्रान्तिकारी बराबर युग के साथ बदलते रहे। वे स्वातंत्र्य-योद्धा के साथ समाजवादी बने।

ऐसे वातावरण मे जब कि गाधी-नेहरू के बुत टूट चुके हैं, उनके अनुयायी तथा नामलेवा-पानीदेवा नालायक स्वार्थी और कपटी करके सिद्ध-प्रसिद्ध हो चुके है, उस स्थिति मे क्या यह आश्चर्य की और उससे भी अधिक हर्ष की बात नहीं है कि किसी सरकारी प्रोत्साहन के बिना बराबर क्रान्तिकारियो पर लिखा जा रहा है ? जब उपन्यासकार देखते है कि उनकी कहानी कुछ ठण्डी पड़ रही है, तो जैनेन्द्र से लेकर मृदुला गर्ग तक सभी अपने कथानक मे गलत या सही तरीके से एक क्रान्तिकारी को कुदाकर दिलचस्पी की ढीली पडती हुई चोली को कस लेते है। बराबर क्रान्तिकारियो पर पुस्तकें निकलती रहती हैं और खूब बिकती हैं। इस विषय पर स्वय क्रान्तिकारियो ने—यशपाल, बिस्मिल, शचीन्द्र सान्याल, डा० माहौर, शिव वर्मा आदि ने लिखा। बनारसीदास जी ने क्रान्तिकारियों पर कई विशेषांक निकाले। जगेश, विष्णु प्रभाकर, रामसिह बघेले ने लिखा।

पहले ही कह चुका हू कि क्रान्तिकारियो के त्याग और बलिदान के सम्बन्ध मे कभी किसीकी दो राय नही रही। ब्रिटिश काल की हमारी आजादी की सारी लड़ाई की यही सबसे बड़ी विशेषता रही। यों राजनीति हमेशा से बड़ी गन्दी रही। महाभारत का युद्ध ऋषियों द्वारा मुलम्मा चढ़ाने पर भी अन्तिम विश्लेषण में भाइयों का आपसी युद्ध ठहरता है। एकदम उतरकर औरंगजेब को लें। उसने अपने सगे भाइयों की हत्या की, बहनों की शादी रोकी, बाप को बुरी तरह कैद रखा। उसके बारे मे समझा जाता है कि वह कट्टर मुसलमान था, क्योंकि शिवाजी के साथ लड़ा, पर हिसाब लगाकर देखा जाए तो उसने हिन्दू उतने न मारे होंगे जितने मुसलमान मारे। जब वह दक्षिण में मरा है, तो मुस्लिम विद्रोहियों से आतंकित था। मेरा मतलब यह है कि जब शक्ति ही एकमात्र लक्ष्य है, तो उस राजनीति पर विचारधारा का टैग केवल खुशामदी ही लगा सकते हैं।

जाने क्या जादू हुआ

पर जाने क्या जादू हुआ, हमारे ब्रिटिश शासनकाल (1857-1947) में

राजनीति पर से शोहदों का पुट दूर हुआ। शहीदों की विचारधारा चली। बलिदान का डंका बजा। जनता ने स्वयं लोगों को लोकमान्य, महात्मा, शहीदे आजम, क्रान्तिवीर की उपाधियां दी। उस युग मे कांग्रेसाध्यक्ष राष्ट्रपति कहलाता था और उसकी इज्जत आज के राष्ट्रपति के मुकाबले पदेन नहीं, बल्कि स्वतःस्फूर्त थी। लोग उनका दर्शन पाकर कृतकृत्य हो जाते थे, उनकी लाशों पर आंसू बहाते थे। कन्हाईलाल की लाश के साथ (10 नवम्बर, 1908) एक लाख, तथा यतीन्द्रनाथ दास की लाश (1929) के साथ छह लाख की भीड़ थी, जो रेकार्ड है। कलकत्तावासियों ने यह सम्मान केवल रवीन्द्रनाथ की देह (1941) को दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिश के साथ संग्राम के युग के पहले और 1947 के बाद राजनीति का, राजनैतिक शक्तिधरों का जो पतन दिखाई पड़ता है, वह हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम की पुनीत परम्पराओं का एक तरह से हनन है, क्योंकि पहले भी राजा, सुलतान, सम्राट्, शोहदे गौरवप्राप्त डाकू होते थे और 1947 के बाद वही युग फिर लौट आया है। किसी राजनेता का शोहदापन जरा छिपा है, किसीका जल्दी खुल गया।

क्रान्तिकारी आन्दोलन (1857-1947) मंगल पाडे से लेकर नौसैनिक विद्रोह (1946) तक फैला है। वह अब भी जारी है। भारत मे और बंगला देश मे, पाकिस्तान मे भी कुछ-कुछ होता है। अब भुट्टो को शहीद के आसन पर बैठाकर आन्दोलन की चेष्टा है। जैसा देश वैसा शहीद। भुट्टो ने ही पाकिस्तान के दो टुकड़े कराए। यदि वह मुजीब को पाकिस्तान का प्रधान मान लेता, तो उस समय पाकिस्तान के टुकड़े होना टल जाता।

पहला अध्याय

क्रान्तिकारी युवा आन्दोलन

सन् 1919 के पहले तक, जब गांधी जी पहले-पहल भारतीय राजनैतिक गगन मे उदित हुए, स्वतंत्रता आंदोलन के नाम पर एकमात्र आंदोलन क्रांतिकारी आंदोलन था। इसमें बीसियों क्रान्तिकारियों को फांसी लग चुकी थी और सैकड़ों कालेपानी की कठोर यातना भोग रहे थे, कई लोग जेलों के अत्याचारों से पागल हो गए थे या मर गए थे। यह सिरफिरे और किसी रूप मे दमित युवकों का आन्दोलन नहीं था, न यह बेकारी के सागर मे गोता खाने वाले युवकों का निरर्थक-पागल प्रयास

था, वल्कि यह परिपक्व विचारों के तथा विद्या-बुद्धिसम्पन्न युवकों का आन्दोलन था। हां, इन लोगों के विचार इतने परिपक्व नही हुए थे कि सठिया जाएं और कर्मशक्ति बाकी न रहे और न इनकी विद्या-बुद्धि इस तरह पथरा गई थी कि उसमें से कर्मधारा का कोई सोता न फूट सके। श्यामजी कृष्ण वर्मा, सावरकर, अरविन्द, वारीन्द्रकुमार घोष, हरदयाल, रासबिहारी बोस आदि इसमे जो नेता हो गए, वे अधकचरे विचारों के लोग नही, वल्कि उन्होंने अपने युग का सारा ज्ञान प्राप्त किया था और वे यह समझ चुके थे कि साम्राज्यवाद से लोहा लेने के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन की आवश्यकता है। यह आन्दोलन देश के अन्दर चला, विदेशों मे चला, हिन्दुओ ने इसे अपनाया और मुसलमानों ने इसे अपनाया। अवश्य कुछ मुसलमान पैनइस्लामी मनोवृत्ति से ब्रिटिश के विरुद्ध षड्यन्त्र करते रहे, पर अन्ततोगत्वा वे समझ गए कि उनका ध्येय गलत है, कम से कम उस ध्येय को लेकर भारत में या भारतीयों में काम करना सम्भव नही। यूरोप मे उच्च शिक्षा के लिए गए हुए बड़े लोगो के बेटों ने इसमे भाग लिया, साथ ही अमरीका और कैनेडा मे रोजी-रोटी के लिए गए हुए अत्यन्त सम्पन्न गदर पार्टी के सदस्यों ने इसमें भाग लिया।

स्वाभाविक रूप मे यह आंदोलन जन आंदोलन नही था, यह युवा आंदोलन था, पर इसमे जनता का सम्पर्क नाड़ीगत था। 1908 मे कन्हाईलाल दत्त को फांसी हुई। फासी इस कारण हुई कि उन्होंने जेल के अन्दर पिस्तौल मंगाकर मुखबिर नरेन गोसाईं को गोली से मार दिया था। जिस दिन गोली मारने की खबर पहुची थी, उस दिन कलकत्ता के 'बंगाली' नामक अंग्रेजी अखबार के दफ्तर मे मिठाई बांटी गई थी। मिठाई इसलिए बाटी गई थी कि जनता के ये नेता मुखबिर नरेन गोसाईं की मृत्यु चाहते थे। 'बंगाली' के सम्पादक स्वनामधन्य सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उन दिनों एक बहुत बड़े सार्वजनिक नेता थे। इससे भी आगे चलकर जिस दिन कन्हाईलाल को फांसी हुई, तो उनकी लाश पर मातम करने के लिए श्मशान भूमि में एक लाख जनता मौजूद थी। इसका पूरा ब्यौरा मैं अपनी पुस्तक 'क्रान्तिकारी आंदोलन' मे उद्धृत करता हू :

1908 मे एक लाख की भीड़

मोतीलाल राय ने कन्हाईलाल पर एक पुस्तक लिखी थी। मोती बाबू बंगाल के एक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी तथा लेखक थे। कन्हाई की फांसी के बाद इनको तथा कुछ अन्य लोगों को जेल के अन्दर मे कन्हाई की लाश ले जाने की आज्ञा मिली थी, उस समय का जो मार्मिक वर्णन उन्होंने लिखा है, उसे हम उद्धृत करते हैं :

"पांच-छह आदमियों को भीतर आने की अनुमति मिली। एक गोरे ने हमसे जानना चाहा कि कौन-कौन भीतर जाना चाहता है। आशु बाबू (कन्हाई के बड़े भाई), मैं और कन्हाई परिवार के अन्य तीन व्यक्ति थर-थर कांपते हुए उस गोरे

के पीछे हो लिए। शोक और दुःख से हम सिहर रहे थे। लोहे के फाटकों को पार कर हम लोग जेल के भीतर दाखिल हुए, यान्त्रिक पुतले की भांति हम उस गोरे के पीछे-पीछे चल रहे थे। एकाएक वह गोरा रुक गया और उसने उंगली के इशारे से हमे एक कोठरी दिखा दी। सिर से पैर तक कम्बल से ढकी हुई एक लाश पड़ी थी। यही कन्हाई का शव था। हम लोगों ने शव उठाकर कोठरी के सामने आंगन मे रख दिया, किन्तु किसीको भी यह हिम्मत न होती थी कि शव से कम्बल उतारे। आशु बाबू के चेहरे पर से मोती के समान बूंदें टपकने लगी। एक-एक करके सभी रोने लगे। उसी समय वह गोरा बोल उठा, 'आप रोते क्यों है? जिस देश मे ऐसे वीर पैदा होते हैं, वह देश धन्य है। मरेंगे तो सभी, किन्तु ऐसी मौत कितने मरते हैं?'

" हमने विस्मित नेत्रों से आंख उठाकर उस कर्मचारी को देखा तो मालूम हुआ कि उसके चेहरे पर भी आंसुओं की झड़ी लगी है। उसने कहा, 'मैं इस जेल का जेलर हूं, कन्हाई के साथ मेरी खूब बातें हुआ करती थी। फांसी की सजा सुनाई जाने के बाद से उसकी खुशी का कोई पारावार नही था, कल शाम उसके चेहरे पर जो मोहिनी हसी मैंने देखी, वह कभी न भूलेगी। मैंने कहा—कन्हाई आज हंस रहे हो किन्तु कल मृत्यु की कालिमा से तुम्हारे ये हंसते हुए होठ काले पड़ जाएगे।—दुर्भाग्य से कन्हाई को फासी लगने के समय भी मैं वहां मौजूद था, कन्हाई की आखो पर पट्टी बांध दी गई थी, वह शिकजे मे कसा जाने वाला ही था, ठीक उसी समय उसने घूमकर मेरी ओर सकेत किया, और कहा—क्यो मिस्टर, इस समय मैं कैसा लग रहा हू।—ओह! यह वीरता, इस प्रकार की वीरता का होना रक्त-मास के मानवों के लिए सम्भव नही।'

" हमने चकित होकर ये सब बाते सुनी। इसके बाद डरते-डरते ओढ़ाए हुए कम्बल को उठाकर उसे देखा। उस तपस्वी कन्हाईलाल के दिव्य स्वरूप के वर्णन के लिए भाषा मेरे निकट नही है। चौडा माथा लम्बे-लम्बे बालो से ढका हुआ था, अधखुले नेत्रो से अमृत ढुलक रहा था, कसे हुए होठो से सकल्प की रेखा फूट पडती थी, विशाल भुजाओ की मुट्ठिया बंधी हुई थी। आश्चर्य है कि कन्हाई के किसी भी अग पर मृत्यु की मनहूस छाया नही थी, कही भी वीभत्सता के चिह्न नही थे, केवल दोनों कन्धे फांसी की रस्सी की रगड से दब गए थे, उनकी पवित्र मुख-श्री पर कही विकृति न थी। कौन ऐसा अभागा है जो इस मृत्यु पर ईर्ष्या न करेगा?

"कन्हाई की लाश को बड़े समारोह के साथ जलाया गया, हजारो की तादाद मे लोग इकट्ठे थे। हजारो रोने वाले थे, जब कन्हाई जलकर खाक हो गया, तो उसकी राख को लोगों ने गंडा-तावीज बनाने के लिए लूट लिया। कन्हाई को एक शहीद का सम्मान दिया गया। यह बात ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए

कितनी अखरने वाली थी कि जिसको हत्यारा कहकर फांसी पर चढ़ा दिया, उसे जनता ने शहीद करके पूजा…। "

युगचेतना एक गोली से जागी

स्मरण रहे कि यह सन् 1908 की बात है जब भारत मे देशभक्ति की चेतना बहुत ही शैशव अवस्था में थी। कन्हाईलाल ने जेल में मुखबिर को महज एक गोली मारी थी, उसने युगचेतना को किस प्रकार झिझोडा था और किस प्रकार से उस घटना का सम्बन्ध अदृश्य छोटे-छोटे तारो के द्वारा बल्कि बेतार के द्वारा जनता के साथ था, किस प्रकार जनता का हृदय फासीघर मे बन्द होनहार शहीद के साथ धड़कता था, यह एक द्रष्टव्य बात है। दु.ख है कि इतिहासकार ऐसी बातों पर ध्यान नही देते। जब इस युग का इतिहास लिखा जाता है, तो उसमें कांग्रेस आएगी और सस्थाएं आएगी, उनके बेतुके प्रस्तावो के ब्यौरे रहेंगे, पर जो घटना लाखो लोगों को, बच्चो और स्त्रियों तक को, श्मशान भूमि मे रुला रही थी, उन्हे व्याकुल कर रही थी बलिदान के लिए, जनकवियो को मुखर बना रही थी, उसका इतिहास उसमें नही आएगा। इसका नतीजा यह है कि जो कोई इन इतिहासों को पढता है, वह कार्य-कारण समझ नही पाता, वह स्वाभाविक रूप से यह नही समझ पाता कि भारत कैसे स्वतत्र हुआ।

भारतीय संस्कृति की एकदेशीय व्याख्या

गत वर्षों मे बार-बार यह कहा गया है मानो भारतीय सभ्यता मे एकमात्र विचारधारा अहिंसा की ही हो। इस मत को बलपूर्वक मिथ्याग्रह के साथ स्थापित करने के लिए गीता की नई टीका लिखी गई और सैंकड़ो वर्षों से प्रचलित गीता की व्याख्याओं को झुठलाकर काल्पनिक रूप मे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई कि भारतीय सभ्यता मे एकदम मे बुद्ध, महावीर हुए और उसके बाद गाधी आए। अवश्य ही भारतीय सभ्यता मे बुद्ध और महावीर का स्थान बहुत ऊचा है और उन लोगों ने यहा के चिन्तन को समृद्ध किया, और उसमे चार चांद लगाए। पर बुद्ध और महावीर के अस्तित्व को अस्वीकार न करते हुए भी यह हम कैसे भुला सकते हैं कि भारतीय परम्परा मे परशुराम, राम और कृष्ण का बहुत बड़ा स्थान है। गीता मे कहा गया है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं धर्म के सस्थापन के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए हर युग मे पैदा होता हू। यहा पर केवल 'विनाश' शब्द के बूते पर ही नही बल्कि अवतारो के प्रसग मे जो उदाहरण दिए जाते हैं, उस सम्बन्ध में कल्कि की धारणा भी विचारणीय है, उनसे यही प्रमाणित होता है कि नैतिक

बल के अतिरिक्त अस्त्र-बल से भी बली होना जरूरी है। यह माना गया है कि शस्त्र से रक्षित देश में ही शास्त्र की चर्चा हो सकती है।

चीनी और पाक (या नापाक) आक्रमणो से हमारी आखों पर अहिंसा को भारतीय सभ्यता की परम्परा का एकमात्र तरीका समझने की जो मोतियाबिन्द वाली जाली तान दी गई थी, वह कट गई। वर्षो के एकतरफा सरकारी और गैर-सरकारी प्रचार कार्य का पर्दाफाश हुआ, और तब से लोगो को अच्छी तरह समझ में आने लगा है कि बुद्ध और महावीर जैसे हमारे चिन्तन की एक पराकाष्ठा और एवरेस्ट शिखर का पता देते है, उसी प्रकार परशुराम, राम, कृष्ण से होते हुए राणा सागा, प्रताप सिंह, शिवाजी से होते हुए रासबिहारी बोस, हरदयाल, सावरकर, मदनलाल धीगड़ा, लोकमान्य तिलक, खुदीराम, रामप्रसाद 'बिस्मिल', रोशनसिह, राजेन्द्र लाहिडी, भगतसिह और चन्द्रशेखर आजाद आदि हमारी सभ्यता के एक दूसरे एवरेस्ट का पता देते है। मनुष्य का मन द्वन्द्वात्मक माना गया है, इसी प्रकार राष्ट्र का मन भी द्वन्द्वात्मक हो सकता है। सच बात तो यह है कि सब ऊची और जीवन से स्पन्दनशील सभ्यताओ मे अनुकम्पा और दण्ड दोनों तत्त्व देखे जा सकते हैं। इनमे से प्रथम तत्त्व की अति हो जाय तो वह समाज टिक नही सकता है। क्योंकि वह कनफटों का नपुंसक समाज हो जाएगा, जिसकी आड़ लेकर कायर बहादुरो के सिंहासन पर बैठकर मूछों पर ताव देने लगेंगे, साथ ही जहा नैतिक पक्ष को छोड़कर केवल हिंसा पर जोर होगा, वहा हिटलरी नंगा नाच दिखाई पडेगा।

क्रान्तिकारी हिंसावादी नही थे

इसलिए भारत के क्रान्तिकारियो ने कभी अपनेको हिंसावादी या आतकवादी घोषित नही किया। गांधीवाद की तरफ से क्रान्तिकारियों को हिंसावादी कहा गया और ब्रिटिश सरकार की तरफ से वे आतंकवादी घोषित किए गए। क्रान्तिकारियों ने जब भी इन शब्दावलियों में अपनेको व्यक्त किया, तो अपनेको 'काउण्टर टैररिस्ट' या प्रत्यातकवादी कहा। इसका मतलब यह था कि आतंकवादी तो ब्रिटिश सरकार है, वे तो महज अपनी तुच्छ सामर्थ्य के अनुसार उसका यदा-कदा कुछ जवाब दे देते हैं, ताकि जनता को यह ज्ञान हो जाय कि अभी राष्ट्र की आत्मा जीवित है, वह मरी नही है, उसमें धड़कनें जारी हैं, वह संग्राम करने को तैयार है और वह वास्तविक रूप से संग्राम कर रही है। आतंक के तो सारे साधन ब्रिटिश सरकार के हाथो में थे, जेलें थीं, अदालतें थी, पुलिस थी, फौज थी। सर्वोपरि मिथ्या प्रचार था।

ब्रिटिश सरकार अपने इन साधनों का उपयोग भी बखूबी करती थी। 'वन्दे मातरम्' कहने पर सिर पर लाठियां पड़ती थी, अखबार के सम्पादकों को, राष्ट्रीय

कविता के रचयिता कवियों को काले पानी की सजा दी जाती थी। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि 'स्वराज्य' नामक एक अखबार के आठ सम्पादकों को 1908 के जमाने में एक के बाद एक लम्बी सजाए दी गई, कितने ही कवियों को काले पानी भेज दिया गया, लोकमान्य तिलक को खुदीराम की प्रशंसा करने पर लम्बी सजा हुई इत्यादि-इत्यादि।

यह बहुत ही ध्यान देने योग्य है कि जैसा कि मैंने पहले ही बताया कि गांधीवादी असहयोग आन्दोलन (1921) के पहले स्वतन्त्रता-संग्राम के नाम पर केवल क्रान्तिकारी आन्दोलन था और उसका एक लम्बा इतिहास बन चुका था जैसा कि मैंने दिखलाया है। यह इतिहास ऐसा था कि जो आज के परिप्रेक्ष्य में भी न छोटा पड़ा न मद्धिम हुआ, बल्कि सच कहा जाय तो ज्यों-ज्यों इतिहास आगे बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों उसके कांच के अन्दर में वे घटनाए तो बडी होती जा रही है और बाद की घटनाए छोटी होती जा रही हैं।

क्रान्तिकारी आन्दोलन से सन् 1921 की उत्पत्ति

इस सम्बन्ध में एक बहुत ही मजेदार घटना है, जिसकी तरफ हमारे इतिहासकारों का भी ध्यान बहुत कम जाता है। यह घटना यह है कि गांधी जी के असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात क्रान्तिकारी आन्दोलन के जरिये से ही हुआ। यह घटना ऐसी है जहा आकर क्रान्तिकारी आन्दोलन और सत्याग्रह आन्दोलन एक दूसरे से अगागी रूप से सम्बद्ध ज्ञात होने है। यह दिखाई पड जाता है कि दोनों भले ही सामूहिक रूप से अलग-अलग मालूम होते हों, पर दोनों की नाड़ियां जुड़ी हुई हैं और साधारण लोग भले ही इन दोनो को अलग समझें या मानें पर इतिहास की सर्चलाइट वाली आखो के सामने दोनो की अभिन्नता दृष्टिगोचर हो जाती है, छिप नही पाती।

सन् 1914-18 के महायुद्ध के समय भारत के क्रान्तिकारियों ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि यह एक मौका है जब ब्रिटिश सरकार पर सीधा हमला होना चाहिए। उस युद्ध के चरित्र को अच्छी तरह समझकर उससे फायदा उठाने के लिए लाला हरदयाल, गदरपार्टी के बाबा लोग, मानवेन्द्रनाथ राय तथा अन्य अनेक क्रान्तिकारियों ने, जिनका कुछ इतिहास मैंने अन्यत्र लिखने की चेष्टा की है, यह प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन का तख्ता उलट दिया जाय।

सारे संसार में फैला आन्दोलन

यह प्रयास बहुत बड़ा रहा और इसके जाल दिल्ली, कलकत्ता से लेकर बटेविया तक हांगकांग से लेकर न्यूयार्क और बर्लिन तक फैला हुआ था। जो लोग इस कार्य में लिप्त थे, वे इस सिद्धान्त को मानकर चल रहे थे कि शत्रु का शत्रु अपना

मित्र होता है, तदनुसार जर्मनों, तुर्कों सबसे अस्त्र-शस्त्र और अन्य सहायता प्राप्त करने की चेष्टा की गई। कुछ सहायता प्राप्त हुई भी, यह आन्दोलन सफल इन मानों में नहीं हुआ कि भारत स्वतन्त्र नहीं हो सका, पर इस प्रयास के दौरान जो तजर्बे प्राप्त हुए और लोगों के मन पर जिस प्रकार का प्रभाव पड़ा, वह बहुत बड़ी उपलब्धि रही। उस उपलब्धि का मूल्यांकन करना बहुत कठिन है क्योंकि किस हद तक उसने राष्ट्र के सक्रिय सदस्यों के मन को आलोडित, विक्षुब्ध और ऐश्वर्यशाली बनाया, किन-किन बीजों को उससे जल और खाद मिली, ताकि वे अंकुरित होकर पुष्पित और पल्लवित हों और चारों तरफ अपनी शाखाओं और प्रशाखाओं की लव फैला दें, यह आज कूतना कठिन है। पर ब्रिटिश सरकार ने, जिसके किराये में काम करने वाले बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग मौजूद थे, उसे जिस प्रकार कूता, वह उपलब्ध है। ब्रिटिश सरकार ने देश के अन्दर तथा विदेशों में चालू महायुद्धकालीन क्रान्तिकारी आन्दोलन को बहुत ही खतरनाक माना और तदनुसार जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में सिडीशन कमेटी बैठाई जिसने एक बृहत् रिपोर्ट पेश की।

किस्सा कोताह यह कि इस लम्बी रिपोर्ट के फलस्वरूप, जिसमें लोकमान्य तिलक और खुदीराम को एक ही लाठी से हांका गया था, एक कानून प्रस्तावित हुआ, जिसे रौलट कानून का नाम दिया गया। यदि यह कानून लागू हो जाता, तो भारतीयों की रही-सही नागरिक स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जाती। यहीं पर महात्मा गांधी एक देवदूत की तरह सामने आए और उन्होंने हतबुद्धि और स्तब्ध राष्ट्र को एक सार्वजनिक मार्ग सुझाया जो क्रान्तिकारियों के अन्ततः गलियों-दरगलियों वाले गुप्त वाममार्गों से बिलकुल भिन्न था। 'राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास' में इसका पूरा ब्यौरा है। वक्तव्य यह है कि असहयोग आन्दोलन के उद्भव का क्रान्तिकारी आन्दोलन के ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तावित उपायों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। इसीलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जब महात्मा गांधी ने राजनैतिक रंगमंच पर पदार्पण किया, तो क्रान्तिकारियों ने उसे उनके लिए खाली कर दिया और यही कारण है कि जब तक असहयोग आन्दोलन चलता रहा और चौरी चौरा में उन्नीस पुलिस वालों के जिन्दा जला दिए जाने के कारण बन्द नहीं किया गया, तब तक कुछ भूतपूर्व और भविष्य के क्रान्तिकारी जैसे शचीन्द्रनाथ सान्याल जैसे लोग मेढक जिस तरह जाड़ों में सो जाता है उसी तरह डुबकी लगा गए और कुछ क्रान्तिकारी, जो कई बार पहले क्रान्तिकारी नहीं थे और बाद को क्रान्तिकारी हुए जैसे चन्द्रशेखर आजाद, रोशनसिंह, रामदुलारे त्रिवेदी, विष्णुशरण दुबलिस, मन्मथनाथ इस आन्दोलन में जी खोलकर भाग लेते रहे। क्रान्तिकारी आन्दोलन को जब हम इस परिप्रेक्ष्य में समझेंगे तभी उसे समुचित ढंग से समझ सकते हैं और तभी हम उन वीरों-शहीदों को समझ सकते हैं, जो केवल साहसी, अमम साहसी नहीं थे, बल्कि एक शृंखला की कड़ी थे।

दूसरा अध्याय

क्रान्तिकारी आन्दोलन की पहली झलक : उसकी विचारधारा

भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसमें जो लोग आए, वे एक बिन्दु पर टिके नहीं रहे। वे समय के साथ बराबर प्रगति करते रहे, विचारों में, तकनीक में। इसका पूरा ब्यौरा मैंने 'भगतसिंह और उनका युग' (अंग्रेजी और हिन्दी) में दिया है। यहां केवल इतना कहकर बढ़ जाएंगे कि प्रारंभिक क्रान्तिकारियों के मन में स्वतन्त्रता का केवल एक स्पष्ट नक्शा था, कुछ ऐसे भी थे जो गैरिबाल्डी और मेत्जिनी से अनुप्रेरित होने के कारण लोकतान्त्रिक राजतन्त्र के विचार रखते थे, पर जब 1917 ई० की महान् सोवियत क्रान्ति आई तो वे समाजवाद की तरफ झुक गए क्योंकि इस सत्य को सहज ही में समझ गए कि समाजवाद के बिना स्वतन्त्रता बांझ, बेमानी और व्यर्थ रहेगी। यदि गोरों की जगह काले-भूरे आ गए और यूनियन जैक की तरह तिरंगा फहर गया, अंग्रेजी की जगह देशी भाषाएं आ गईं, तो फर्क पड़ता है, पर बहुत नहीं। रूस में शासक रूसी थे, सारे राजकार्य रूसी में होते थे, फिर भी 1917 की क्रान्ति की जरूरत पड़ी।

क्रान्तिकारियों में 1917 ई० के बाद ही समाजवाद की पुस्तकों का पठन-पाठन शुरू हुआ, जबकि कांग्रेसी यहां तक कि इंग्लैण्ड में छात्र रहकर भी नेहरू कोरे रहे। लाला हरदयाल ने 'माडर्न रिव्यू' में महर्षि कार्ल मार्क्स नाम से एक लेख लिखा, शचीन्द्रनाथ सान्याल ने रिवोल्युशनरी नामक 1924 ई० में पेशावर से लेकर रंगून तक गुप्त रूप में बंटे हुए पर्चे में यह लिखा कि ऋषियों के सपने को पूरा करते हुए हम सोवियत रूस की तरह समाज-व्यवस्था चाहते हैं। हरदयाल या शचीन्द्रनाथ ऋषियों की जटा के जाल से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए, पर उन्हीं-के अनुयायी भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद ने समाजवाद का डंका इतने जोर से 1927-1929 में बजाया कि बहरों ने भी सुन लिया। उन्होंने शचीन्द्रनाथ सान्याल के दल का नाम हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन से हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन कर दिया। बाद को भगतसिंह ने बटुकेश्वर दत्त के साथ दिल्ली की केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंककर राजनैतिक रूप से बहरों को सुनाते हुए (अप्रैल, 1929) कहा कि समाजवाद हमारा लक्ष्य है। हम बाद को इस प्रसंग पर लौटेंगे।

1857 का ऐतिहासिक गीत

डा० भगवानदास माहौर के महान शोधग्रन्थ (1857 के स्वाधीनता-संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव) मे सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी अजीमुल्ला का एक गीत उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है :

हम है इसके मालिक हिन्दुस्तान हमारा,
पाक वतन है कौम का जन्नत से भी न्यारा।
यह है हमारी मिल्कियत, हिन्दुस्तान हमारा,
इसकी रुहानियत से रोशन है जग सारा।
कितना कदीम कितना नईम सब दुनिया से प्यारा,
करती है जिसे जरखेज गगजमन की धारा।
ऊपर बर्फीला पर्वत पहरेदार हमारा,
न चे साहिल पै बजता सागर का नक्कारा।
इसकी खानें उगल रही है सोना, हीरा, पारा,
इसकी शानोशौकत का दुनिया मे जयकारा।
आया फिरगी दूर से ऐसा मतर मारा,
लूटा दोनो हाथ से न्यारा वतन हमारा।
आज शहीदो ने तुमको अहले वतन ललकारा,
तोडो गुलामी की जजीरें, बरसाओ अगारा।
हिन्दू, मुसलमाँ सिख हमारा भाई-भाई प्यारा,
यह है आजादी का झडा इसे सलाम हमारा।

डा० माहौर इस गीत को उद्धृत करके कहते है

"1857 के क्रान्तिकारी सिपाहियों का यह झडा गीत हमारे राष्ट्रीय गीतों की माला का सुमेरु होने का अधिकारी है। यह सीधा, सरल, साफ और अमित शक्ति से भरा है। श्रद्धेय बकिम बाबू के 'आनन्द मठ' के 'सप्तकोटि कण्ठ कल-कल निनाद कराले' वाले 'वन्देमातरम्' स्तुति गीत मे भी यह अधिक शक्तिशाली है और अल्लामा इकबाल के 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' गीत से भी कही ज्यादा पुरजोर है। इसमे केवल देश की स्तुति ही नही है, स्वातन्त्र्य-संघर्ष के लिए तुरन्त आह्वान भी है, ललकार भी है। इसमे घोषित किया गया है कि समस्त भारतवासियों की एक कौम है, एक राष्ट्र है, हिन्दुस्तान जिसका पाक वतन (पवित्र जन्मभूमि) है, इसमे रहने वाले हिन्दू, मुसलमान, सिख आदि सब भाई-भाई है, यह जन्मभूमि 'स्वर्गादपि गरीयसी' है, यह ऊपर हिमाचल नाम नगाधिराज मे नीचे आसमुद्र विस्तीर्ण है, अनन्त रत्नप्रसवा है, धनधान्य-सम्पन्ना है। इमे फिरगी ने दूर से आकर मन्तर मारकर—इसे शौर्य और वीरता में पराजित करके नहीं—

दोनों हाथ से लूटा है। यह बात विशेष ध्यान देने की है कि यहां 'मन्तर' का अर्थ जादू-टोना नहीं है, राजनीतिक 'मन्त्र' यानी युक्ति या चाल है।

"गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए जो झण्डा सिपाहियों ने उठाया है वह कौम की आजादी का झण्डा है, किसी सामन्त या सम्राट् का निजी झण्डा नहीं। इस गीत की भावना में जनवाद है, राष्ट्रवाद है, सामन्तवाद नहीं। इसमें शत्रुता और आक्रोश विदेशी लुटेरे, आततायी फिरंगी के प्रति है, कौम नसारा या ईसाई के प्रति नहीं। यदि 1857 के ये क्रान्तिकारी सिपाही किसी साम्प्रदायिक विद्वेष या ईसाई विरोध की भावना से परिचालित होते, तो उनके इस गीत की एक तुक में किसी बुरे विशेषण के साथ 'नसारा' भी होना बहुत स्वाभाविक होता।

"इस गीत की यह भी एक विशेषता है कि इसमें 1857 के भी पहले अंग्रेजों के विरुद्ध हुए स्वातन्त्र्य-संघर्षों में मारे गए वीरों को 'शहीद' शब्द से याद किया गया है। सम्भवतः इस गीत में ही सबसे पहले राजनीतिक स्वातन्त्र्य-संघर्ष में प्राण होमने वालों को शहीद कहा गया है, इसके पूर्व यह शब्द केवल धर्मयुद्धों या जिहाद में मारे गए लोगों के लिए ही प्रयुक्त होता था।

"1857 के सिपाहियों का यह गीत तत्कालीन क्रान्तिकारी अखबार 'पयामे आजादी' में छपा था जिसकी एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित रखी गयी है। परन्तु हिन्दुस्तान में इसकी सभी प्रतियां ढूंढ-ढूंढकर न केवल नष्ट कर दी गयी थीं, बल्कि जिसके पास इसकी कोई प्रति मिलती थी तो यदि वह हिन्दू हुआ तो उसके मुंह में गौ-मांस ठूंसकर और यदि मुसलमान हुआ तो उसके मुंह में सुअर का गोश्त ठूंसकर, बिना किसी प्रकार का मुकदमा चलाए, या तो उसे फांसी दे दी जाती थी या गोली मार दी जाती थी। विदेशी सरकार इस गीत की भनक भी किसी भारतीय के कानों में पड़ने नहीं देना चाहती थी, क्योंकि इस गीत में उन सभी आक्षेपों का करारा जवाब है जो हमारे 1857 के स्वातन्त्र्य-संग्राम पर उसे धर्मांध सिपाहियों का निरा गदर या सामन्ती प्रतिक्रियावादियों का एक प्रतिक्रान्ति का प्रयास प्रतिपादित करने वाले करते रहे हैं।

"उन आक्षेपों और उनके समर्थन में प्रस्तुत तर्कों को आज कोई महत्त्व नहीं देता, अतः उनकी बात करना अब व्यर्थ है। यदि और कुछ भी न हुआ होता, बस केवल इतना ही हुआ होता कि कुछ मुट्ठी-भर लोग ही सर से कफन बांधकर हार-जीत और जीवन-मरण की चिन्ता जरा भी किए बिना राष्ट्रीय झण्डा उठाकर, इस गीत को गाते हुए विदेशी आततायियों से लड़ मरते, तो भी उनकी यह लड़ाई राष्ट्रीय होती, समस्त राष्ट्र के हित के लिए होती और वे होते हमारे राष्ट्रीय शहीद, जिनका यश राष्ट्रीय काव्यों में गाया जाना सदैव राष्ट्र का मनोबल बढ़ाता। जिन गेजे वालों को यह गीत 1857 के स्वातन्त्र्य-संग्राम के वास्तविक नेता, भारत की गरीब किसान और कारीगर जनता से आए सिपाहियों और उनके

नेताओ के उच्च राष्ट्रीय आदर्श को हृदयगम नही करा सकता, उनसे सहृदयों को मगज मारना व्यर्थ है।

"इस राष्ट्रीय गीत को गाते हुए जितना भारतीय रक्त बहा है, स्वातन्त्र्य-सग्राम मे मारे गए शहीद सैनिकों के जितने रक्त से यह गीत अभिषिक्त है, सम्भवत उतना कोई अन्य गीत नही हुआ। यह केवल हमारे शहीदों का ही गीत नही है, विदेशी आततायी सरकार के अत्याचार से यह गीत स्वयं शहीद हुआ है, जिसकी स्मृति हम स्वाधीनता प्राप्त करने पर ही कर सके। जब्त किए जाने वाले राष्ट्रीय गीतो मे यह सर्वप्रथम और ऐसे गीतो की माला का सुमेरु है। अन्य जब्त किए गए गीतों को तो फिर भी गाते और गुनगुनाते रहे, एक यही गीत है जो आततायी सरकार के अत्याचार से पूर्णतया लुप्त हो गया था। हम कह सकते है कि अन्य गीतों को सरकारी जब्ती का कुछ काल तक के लिए कारावास मात्र मिला था, जिससे वे कालान्तर मे मुक्त भी हुए, परन्तु इस गीत को तो, कहना चाहिए, उनके द्वारा फासी ही दे दी गयी थी।

"अपने स्वातन्त्र्य-सघर्ष की निरन्तर चलती रहने वाली धारा को ध्यान मे रखते हुए, और आज की स्थिति मे उसके समाजवादी मोड़ और गीत को ध्यान मे रखते हुए 1857 के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम के इस गीत को धुन में गाते हुए हम आगे बढ सकते है :

भारत मे साम्राज्यवाद का होगा नही गुजारा,
पूंजीवादी लूट ठगी का होगा नही पसारा।
आज शहीदों ने है हमको अहले-वतन ललकारा,
उनके सपने पूरा करना है अब काम हमारा।
'हिन्दू, मुस्लिम ,सिक्ख, ईसाई, सब भाई' है नारा,
स्वतन्त्रता, समता, सुबन्धुता से महके जग सारा।
महके जग मे बराबरी, आजादी, भाईचारा,
हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान हमारा।
पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा।"

एक बात तो स्पष्ट है कि अजीमुल्ला के इस गीत मे धर्मनिरपेक्षता है, साथ ही यह जो कहा गया है कि तोडो गुलामी की जंजीरें, बरसाओ अगारा, बड़ा प्रतीकात्मक है और वह एक ललकार से भरा है। 'ऊपर बर्फीला पर्वत पहरेदार हमारा' पढकर फौरन इकबाल याद आते हैं कि शायद इकबाल के सामने यह गजल थी। मैं डा० माहौर से सहमत हू कि यह गीत 1857 के युग मे प्रचलित होने के कारण कवि अजीमुल्ला महाकवि इकबाल से कही श्रेष्ठ युगनिर्माता सिद्ध होते हैं।

'सारे जहां मे अच्छा' एक परिष्कृत सुललित रचना है, पर वह एक सपाट देशप्रेममूलक रचना है और हमे कुछ करने के लिए नहीं उकसाता, अनुप्रेरित नहीं

करता सिवा इसके कि मजहब आपस में लड़ने के लिए नहीं है, इसलिए लड़ो मत।

कुछ अप्रासंगिक होते हुए भी सारे जहां से अच्छा पर्व को समाप्त करने के पहले यह बताना जरूरी है कि जहां अजीमुल्ला आदि सैकड़ों मुसलमानों ने 1857 में और उसके ऐन बाद देश के लिए प्राण न्यौछावर कर दिए, वहां इकबाल 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा' के सुललित गायक होकर भी बाद को 'मुस्लिम हैं, हमवतन है, सारा जहाँ हमारा' के गायक और पाकिस्तान के जनक हो गए। इसके बचाव में कुछ लोग कहते है और उन्हें ऐसा कहते हुए शर्म नहीं आती कि वह राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय हो गए यानी उनके नजदीक सर्वइस्लामवाद एक श्रेष्ठ विचारधारा है क्योंकि वह राष्ट्र के बाहर अपनी दृष्टि रखना है। पर यह दृष्टि कैसी है यह भी तो देखा जाए ! फासिस्टवाद भी तो एक अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा है !

सर्वइस्लामवाद मुसलिम फासिस्टवाद है

अफसोस है कि उजबेकिस्तान आदि समाजवाद के असर में स्थित मुसलिम देशों के अलावा बाकी सारे इस्लामी देश प्रगति और मुक्ति के मार्ग की ओर जाने की बजाय, धर्मनिरपेक्षता अपनाने की बजाय, कट्टर सर्वइस्लामवाद की ओर जा रहे हैं। उनका स्वप्न कभी पूरा नहीं होगा, पर वे अपनी कथनी और करनी के द्वारा घड़ी की सूई को पीछे की ओर घुमाने की चेष्टा करके, संसार की प्रगति में बाधा पहुंचाकर अपनी बेवकूफी जगजाहिर कर रहे है।

भारतीय उपमहादेश में हम देख रहे हैं कि अलगाव वृत्ति के कारण उर्दू को बहुत हानि पहुंची और पाकिस्तान जिस तरह भारत-विरोध और अफगानिस्तान-विरोध कर रहा है, उससे ताज्जुब नहीं कि फिर उसके टुकड़े न हो जाए। अफगानिस्तान पश्तो वाले हिस्से दबा ले, ईरान बलूची वाले हिस्से ले ले, सिन्ध अलग हो जाए और पंजाब रह जाए। जब पंजाब अकेला रहेगा तो अपनेको पाकिस्तान कहेगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं।

यहां यह भी एक बात साफ पूछ लूं कि भारत सरकार ने इकबाल जन्मशती पर जो लाखों रुपया खर्च किया, वह किस इकबाल की शती मनाई गई, 'सारे जहाँ से अच्छा' के कवि या 'मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा' इस मुसलिम फासिस्टवादी कविता के कवि और पाकिस्तान के अन्यतम जनक की ? यह कहा जाता है कि मरने के पहले इकबाल ने जवाहरलाल नेहरू को बुलाकर यह कहा था कि वह समाजवाद की तरफ झुक रहे है। कहीं यह समाजवादी इस्लामी समाज-वाद तो नहीं था जैसे एक ईसाई समाजवाद और दूसरा वेदान्ती समाजवाद है ? कहना न होगा कि समाजवाद एक और अविभाज्य है और वह हर धर्म को जनता के लिए अफीम मानता है। इस विषय को यहीं तक रखकर हम पहले

हुए देख ले कि पाकिस्तान बनने से उर्दू को लाभ पहुचा या हानि।

क्या पाकिस्तान बनने से उर्दू को फायदा पहुंचा

प्रथम महायुद्ध (1914-18) मे तुर्की सम्राट् जर्मनो के साथ थे। इस कारण जब लड़ाई मे जर्मन और तुर्क हार गए तो अंग्रेजो ने उन दोनों साम्राज्यों को तोड़ दिया। अरब तुर्की साम्राज्य में थे। यद्यपि अरब भी मुसलमान थे और तुर्की भी पर अरबो को तुर्की सम्राट्, जो मुसलमानों के खिलाफ भी थे, के अधीन रहना पसन्द नही था। पर भारत के मुसलमान अरबो की राय की परवाह किये बिना यह माग कर रहे थे कि तुर्की साम्राज्य को तोड़ा न जाय। यही वह प्रश्न था जिसपर भारत मे खिलाफत आन्दोलन चला। गांधीजी ने भी समस्या की गहराई मे बिना गए अरबो की राय को कोई महत्त्व न देकर खलीफा के अधीन तुर्की साम्राज्य पुनः स्थापित करने का बीड़ा उठा लिया। 1929 के आन्दोलन के दो मुख्य उपजीव्य थे—एक 1919 का जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड, दूसरा खिलाफत का अन्याय।

मजे की बात है और इससे यह प्रमाणित होता है कि महात्मा जी किस हद तक यहा के कट्टर मुसलमानो को खुश करने पर उतारू थे। इस प्रकार यह प्रमाणित है कि महात्मा गांधी बराबर मुसलमानी दृष्टिकोण का हद से ज्यादा ख्याल रखते थे। वह गुजराती होते हुए भी हिन्दी के महान प्रतिपादक थे पर उनके निकट हिन्दी माने हिन्दी लिपि मे साथ ही उर्दू लिपि मे लिखित हिन्दुस्तानी थी। इस दृष्टिकोण को वह शुरू से आखिर तक अपनाये रहे। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी वह इस मत के रहे।

गाधी विचारधारा मे (गाधीवाद शब्द उन्हें पसन्द नही था) 'हिन्द स्वराज्य' (जिसका अनुवाद 'इंडियन होम रूल' नाम से किया गया था) पुस्तक का वही ऐतिहासिक स्थान है जो मार्क्सवाद मे सन् 1948 में मार्क्स और एंजेल्स के युग्म लेखकत्व मे प्रस्तुत कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो (साम्यवादी घोषणापत्र) का है यानी यह वह दस्तावेज है जिसकी गंगोत्री मे गांधी विचारधारा की सारी गगा अन्तर्निहित है, जो करीब तीन-चार दशक तक भारतीय गगन पर छायी रही।

महात्मा जी ने अपनी उस प्रथम रचना मे ही अपने भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया था। उनका कहना था, "भारत के लिए सार्वजनिक भाषा हिन्दी होनी चाहिए। कोई चाहे तो उसे नागरी मे लिखे, कोई चाहे तो उसे फारसी रस्मुलखत मे लिखे। हिन्दुओं और मुसलमानो मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहे इसलिए यह जरूरी है कि हरेक भारतीय को दोनों लिपियो का ज्ञान हो। यदि हम यह कर सके तो हम थोड़े अरसे के अन्दर अंग्रेजी को निकाल बाहर कर सकते हैं।"

यह उद्धरण 'इंडियन होम रूल' के सन् 1938 वाले संस्करण मे लिया गया

है, जिसकी भूमिका महादेव देसाई ने लिखी है। उससे यह प्रमाणित होता है कि यह पुस्तक पहली बार सन् 1908 में लिखी जा रही थी। प्रयोजन यह था कि जैसा कि महादेव देसाई ने लिखा है "'स्कूल आफ वायोलेन्स' (हिंसा के मतवाद यानी क्रान्तिकारी दल) का विरोध किया जाए।" बात यह है कि उस समय श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि के नेतृत्व में लन्दन के भारतीय छात्रों में क्रान्ति मत का बहुत प्रचार हो रहा था। महात्मा गांधी ने इसीसे आतंकित होकर जल्दी-जल्दी अपने विचारों को समेटा, उनमें कुछ तरतीब पैदा की और यह ऐतिहासिक कृति प्रस्तुत होकर सामने आई जिसे गांधी विचारधारा की गीता कहा जा सकता है। बाद को गांधी जी बराबर 'सत्य के साथ प्रयोग' करते रहे पर आधारभूत रूप से वह 'हिन्द स्वराज्य' के खूंटे से बंधे रहे और छलांगें भरते रहे।

उनके भाषा या राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विचारों में कभी कोई परिवर्तन नहीं आया यद्यपि इस बीच परिस्थिति बहुत बदली। सन् 1947 में पाकिस्तान का निर्माण एक ऐसी परिस्थिति थी, जिसे मामूली परिवर्तन न कहकर आमूलचूल उलट-फेर कहा जा सकता है।

पाकिस्तान बनने से उर्दू लिपि और देवनागरी में लिखित हिन्दुस्तानी का एक पहिया यानी उर्दू वाला पहिया बिल्कुल टूट गया, पर गांधी जी ने नयी परिस्थिति से उद्भूत इस नये तकाजे को मान्यता देने से इनकार कर दिया। पर दूसरे लोग इस तकाजे की अवज्ञा कैसे कर सकते थे! हिन्दी लिपि में लिखित हिन्दी भाषा को ही राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बैठाया गया। यह निर्णय हुआ कि अंग्रेजी के रिक्त मसनद पर हिन्दी ही बैठेगी, बैठ सकती है। पर गांधी जी ने कभी इस नये समाधान को मान्यता नहीं दी। उनके जीवनी लेखक तेंदुलकर ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "पर अब (पाकिस्तान बनने के बाद) राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में बतगड़ खड़ा हो गया। प्रश्न यह उठा कि राष्ट्रभाषा क्या हो। कहा गया कि इस स्थिति में देवनागरी में लिखित हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। पर गांधी जी इस मन्तव्य से कतई सहमत नहीं थे। वह दो बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष हो चुके थे। वह हिन्दी या उर्दू किसीके भी दुश्मन नहीं हो सकते थे। वह इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि जनसाधारण की भाषा भारत की सामान्य भाषा हिन्दी और उर्दू लिपिद्वय में लिखित सरल हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।" (महात्मा, सातवीं जिल्द, पृ० 60)

पर गांधी जी की राय को इस बदली हुई परिस्थिति में कोई कार्यान्वित करने के लिए तैयार नहीं था। पाकिस्तान न बनता, तो उन्हींकी भाषा-सम्बन्धी नीति सर्वमान्य हो जाती, उर्दू और हिन्दी दोनों सहराष्ट्रभाषाओं का गौरव प्राप्त करतीं, और अब इसका प्रश्न ही नहीं उठता था। अक्तूबर, 1947 में गांधी जी को यह सूचना मिली कि उत्तर प्रदेश में सरकारी हुक्मनामा निकल गया कि देवनागरी

लिपि मे लिखी हिन्दी मे ही सारे सरकारी कार्य होंगे। किन्तु तेंदुलकर लिखते है, "गाधीजी के हृदय को इस खबर से चोट पहुची। उनका कहना था कि भारत में जितने मुसलमान रह गये है, उनमें से एक चौथाई उत्तर प्रदेश मे है। तेजबहादुर सप्रू जैसे बहुत-से हिन्दू है, जो उर्दू के विद्वान है। क्या वे उर्दू लिपि भूल जाएं ? सही बात यह होगी कि दोनों लिपियों को मान्यता दी जाय और सारे सरकारी कामकाज मे दोनो लिपियों को जायज मानकर ग्रहण किया जाए।"

उर्दू और हिन्दी लिपि मे लिखित हिन्दुस्तानी उनके राजनीतिक धर्म का एक ऐसा अपरिहार्य अग था जिसे वह छोड़ने की बजाय अपने निधन को श्रेय समझते थे। यहा यह बताने की जरूरत नही कि उनके इन्ही विचारो के कारण कुछ अदूरदर्शी हिन्दू उन्हे अपना शत्रु मानने लगे और इन्ही सारी बातों को जोड़कर एक ऐसा माहौल बना कि एक कट्टर हिन्दू ने उनकी हत्या कर डाली। उनके साथ-साथ उर्दू लिपि मे लिखित हिन्दुस्तानी का नारा हमेशा के लिए भारत में समाप्त हो गया।

सन् 1947 मे जो पाकिस्तान पक्षी बना था, उसके दो पख थे—एक पश्चिमी पाकिस्तान जिसमे पजाबी, सिन्धी, पश्तो, बलूची बोलने वाले थे, दूसरा पूर्वी पाकिस्तान जिसमे बगला बोली जाती थी। पाकिस्तान के नये नेताओं ने यह चाहा कि उर्दू दोनो पाकिस्तानो की भाषा बने। फासिस्ट किस्म का नारा यह था कि एक मुल्क, एक जबान, एक लीडर; पर जिन्ना जल्दी ही परलोक सिधार गये। स्वय उर्दू न जानने पर भी वह उर्दू का झण्डा लेकर पूर्वी बंगाल गये। ढाका विश्व-विद्यालय के कर्जन हाल मे 1948 ई० मे उन्होंने छात्रो से कहा कि आप बगला छोड़कर उर्दू को ग्रहण करे, पर उसी समय वे हूट कर दिए गए। तब यह चाल चली गयी कि बगला रखो, पर उसे उर्दू लिपि मे लिखो, पर बगाली मुसलमानो ने इसे भी मानने से इनकार कर दिया। इसीपर सुप्रसिद्ध भाषा आन्दोलन चला। मुजीब इसी आन्दोलन के सिलसिले मे आगे आते गए।

भारत मे कश्मीर ने उर्दू को अपनी राज्यभाषा माना है, यद्यपि कश्मीरी, सबकी, हिन्दुओं, मुसलमानों की मातृभाषा है। इस समय कश्मीरी की आकाश-वाणी और दूरदर्शन मे कश्मीरी और उर्दू का अनुपात पचास-पचास रखा गया है। पर अभी मैं कश्मीर से लौट रहा हू। मुझे बताया गया कि गावों के श्रोता केवल कश्मीरी सुनते हैं और पसन्द करते है। स्वय पाकिस्तान मे सिवा भारत से गये लोगों मे, जो कराची पर काबिज है, उर्दू का कोई मातृभाषी आधार नहीं है। पजाबी, सिन्धी को, पश्तो और बलूची को कब तक रोका जाएगा ? जहा तक उर्दू भाषा का सम्बन्ध है, पाकिस्तान बनने से उर्दू को लाभ नहीं रहा। कहा सारे उप-महादेश की राष्ट्रभाषा बनाना, कहा उसकी वर्तमान संदिग्ध स्थिति, जिसमे उर्दू केवल कृत्रिम रूप मे जिन्दा है।

क्रान्तिकारी विचारधारा का अभिन्न अंग : धर्म-निरपेक्षता

सावरकर ने, जो वर्षों तक क्रान्तिकारी थे (वह भी इकबाल की तरह उम्र के बढ़ने के साथ-साथ पीछे की ओर लौटे) 'दि इण्डियन वार ऑफ इण्डिपेण्डेन्स' में, जो उनके क्रान्तिकारी युग की कृति है, लिखा था :

'द फ़ीलिंग ऑव हेट्रेड अगेन्स्ट द महोमडन्स वाज जस्ट एण्ड नेसेसरी इन द टाइम्स ऑव शिवाजी, सच ए फीलिंग वुड बी अनजस्ट एण्ड फ़ुलिश, इफ नरइं नॉउ, सिम्प्ली बिकाज इट् वाज द डोमीनेंट फीलिंग ऑव द हिन्दूज देन।'

(पृष्ठ 25, प्रथम सार्वजनिक संस्करण, 1947)

यानी "शिवाजी के युग में मुसलमानों के प्रति घृणा की भावना न्यायपूर्ण और आवश्यक थी, पर इस समय यह भावना रखना कि उस युग में हिन्दुओं में ऐसी प्रबल भावना थी, अन्यायपुक्त और मूर्खतापूर्ण होगा।"

सावरकर ने इस प्रकार अतिसरलीकृत ढंग से एक बात कह दी, पर उस कथन में वह बीज मौजूद है जो क्रान्तिकारी विचारधारा की जान है। इस सम्बन्ध में विचार करना बहुत जरूरी इस कारण है कि धर्मनिरपेक्षता का थियोसाफी वाला रूप, गांधी-जवाहर-अबुलकलाम वाला ढोंगभरी परस्पर प्रशंसावाला रूप जिसमें प्र भी भला मैं भी भला, कहा जाता है, राम-रहीम एक हों, था, वह तो व्यर्थ सिद्ध हो चुका। गांधी एक निराश व्यक्ति के रूप में मरे। फिर भी भारत उसी में भटक रहा है। कबीर ने कई सौ वर्ष पहले कहा था :

अरे इन दोउन ने राह नहीं पाई।
हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी,
तुरकन की तुरकाई।

कुछ दिनों से भारत के प्रधान बुद्धिजीवियों में 'इतिहास में सही दृष्टिकोण क्या है' इस विषय पर वाद-विवाद चालू है और जैसा कि हर वाद-विवाद में होता है, कांव-कांव और तू-तू, मैं-मैं की बारी आ चुकी है। इस वाद-विवाद पर ऊपर से दिखावामूलक धर्मनिरपेक्षता का मुलम्मा चढ़ा होने पर भी उस बहस में भीतर ही भीतर कई तरह के विषैले फुफकारते हुए पूर्वाग्रहों का नग्न नाच जारी है। कई साल पहले किसी ने एक गुमनाम स्मारक लिपि प्रधानमन्त्री को दी थी

इतिहास की पाठ्य पुस्तकों मे कथित प्रगतिशीलो ने बडी धांधली मचा रखी है, इसलिए इन पाठ्य पुस्तको को पाठ्य तालिका से निष्कासित किया जाए। यह गुमनाम नोट प्रधानमन्त्री को पहुचा या नही पहुचा, पर किसीने उसे चुराकर प्रकाशित कर दिया, इसपर यह सारा वावेला उठ खड़ा हुआ था।

मैं नहीं जानता कि मैं अपनेको कहां तक एक इतिहासकार कह सकता हू, यद्यपि तथ्य यह है कि सन् 1939 मे क्रान्तिकारी आन्दोलन पर लिखी हुई दो हिन्दी पुस्तके 'भारत मे सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' और 'क्रान्तिकारी आन्दोलन और राष्ट्रीय विकास' (दोनों मिलाकर लगभग 400 पृष्ठ) जब्त कर ली गई थीं। सयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) और बिहार के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने केन्द्रीय पुलिस के दवाव से ऐसा किया था। उन्हे यह आदेश था कि मुझे गिरफ्तार भी करें, पर उस आज्ञा-पालन की नौवत इसलिए नही आई कि तुरन्त वाद दूसरा महायुद्ध छिड गया और काग्रेस सरकारों को, जो इसके लिए प्रतिवद्ध थे, पद-त्याग करना पडा और मैं दो युद्ध-विरोधी व्याख्याओ के विना पर 124 ए (राजद्रोह) में गिरफ्तार कर लिया गया और तभी छूटा जब लड़ाई बन्द हो गई और इंगलैंड में श्रमिक सरकार की स्थापना हो गई। तब से मैंने स्वतन्त्र भारत मे इतिहास-सम्वन्धी कई पुस्तकें जैसे, 'राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास', 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' और कई ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनियां लिखी हैं, जिनमें कई पुस्तके अंग्रेजी मे है। इस नाते इतिहासकार माना जाऊ या न माना जाऊ, मैं अपने-आपको इतिहास का एक विद्यार्थी मानता हूं। स्वाभाविक रूप से इस समय इतिहास पर जो वाद-विवाद है, उसमे मुझे दिलचस्पी है क्योंकि उससे मेरा नाड़ीगत सम्बन्ध है। ऐसा लगता है जैसे इस कारोवार मे मेरी कुछ पूजी लगी हुई है।

कथित मुसलिम-युग में सब मुसलिम शासक नहीं

इस समय तक इस वाद-विवाद पर जितने लेख पढने में आए उन्हे पढकर और इतिहास काग्रेस भुवनेश्वर (दिसम्बर, 1977) मे विपिनचन्द्र का, जो इस नाटक के एक प्रमुख कलाकार है, व्याख्यान सुनने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुच गया था कि मुख्य झगडा इस बात पर है कि कथित मुसलिम-युग को, जिसे अब गौरवात्मक ढग से मध्ययुग कहने की परिपाटी पड़ रही है, किस प्रकार पेश किया जाए। इस सम्बन्ध में छिपाव-दुराव का तरीका छोडकर मैं सीधे-सीधे वाद-विवाद से गदली बनाई गई धारा मे अपनी नाव को अपनी एक पुस्तक 'भगतसिंह और उनका युग' से उद्धरण उतारता हूं :

"न तो मुसलिम-युग मे सारे मुसलमानों का राज्य था, न हिन्दू-युग मे सारे हिन्दू राज्य करते थे। कथित मुसलिम-युग मे कुछ उच्च वर्ग इने-गिने मुसलमान

मानसिंह जैसे हिन्दुओं से मिलकर राज्य करते थे। हा, जब कोई मुसलिम सुलतान जजिया वसूल करता, तो साधारण मुसलिम प्रजा इससे बरी रहती थी। यही एक-मात्र रियायत थी जो मुसलिम प्रजा को हिन्दू प्रजा के मुकाबले मिलती थी। बाकी सारे मामलों मे मुसलिम नागरिक उतना ही पददलित होता था, जितना कि उसका हिन्दू भाई। इस प्रकार हमारे इतिहास को हिन्दू, मुसलिम, ब्रिटिश तीन युगों में बाटकर ब्रिटिश इतिहासकारों ने जो दुष्टतापूर्वक परिपाटी चलाई थी, उसकी गहराई तक बिना गए इस युग-विभाजन को मान लिया गया था और उसको चालू रखा गया था। इसने बहुत हानि की, क्योंकि साधारण से साधारण मुसलमान के मन मे यह धारणा भूत बनकर जाकर बैठ गई कि कभी ऐसा समय था जब हर मुसलमान को शासक श्रेणी मे होने का सौभाग्य प्राप्त था। वास्तविकता यह थी कि कथित मुसलिम-युग में शासक गुट द्वारा बाकी सारे मुसलमानों को, जैसे मुगल-युग मे पठानों को, तलवार के घाट उतारा जाता था। इस प्रकार मुसलिम-युग महज कपोल-कल्पना है, जिसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं। जैसाकि बताया गया, न हिन्दू-युग था न मुसलिम-युग। हा, एक ब्रिटिश युग इस अर्थ में था कि भारत में आए और बसे हुए सारे अंग्रेज शासक श्रेणी में होते थे, यहा तक कि अधगोरों का भी लुटेरों के इस गुट मे स्वागत था।''

('भगतसिंह एण्ड हिज टाइम्स', पृष्ठ 14-15)

हमने यह बात कुछ लट्ठमार तरीके से कह दी, पर इस शैली की खूबी यह है कि इसमें बिना मीन-मेख के पूरी बात उधेड़कर सामने रख दी गई है। सचाई तो यह है कि मुहम्मद के बाद 100 वर्ष भी नहीं गुजरे थे कि मुसलमान सुलतान मजहब और मिल्लत की कट्टर धारा से हटकर शासन की जरूरत के अनुसार चलने लगे थे। मसलहत मजहब से कहीं प्रबल हो गई। अनसार, मुहाजिरीन, हाशिमी, उमैयाती, शिया, सुन्नी, खारिजी लोग अपने पार्थिव स्वार्थ से एक-दूसरे का गला काटने लगे थे। कट्टर मुल्ला किस्म के लोग तो चाहते थे कि मिल्लत की एकता बनी रहे, सब मुसलमान एक आवाज से बोलें, पर जल्दी ही ऐसे लोगों के सारे सपने बिखर गए। यहा तक कि हर गुट को आशीर्वाद देने के लिए धार्मिक प्रवक्ता और मुफ्ती भी बंट गए। शक्ति के प्रथम आस्वाद की चट्टान से टकराने के साथ ही इस्लाम की एकता की नौका टूट गई। इस बिखराव के खण्डहर मे धर्म-निरपेक्षता के अस्तित्व की खोज व्यर्थ और हास्यास्पद है।

इससे भी हास्यास्पद है भारत के मुसलिम सुलतानों मे धर्मनिरपेक्षता की खोज। यदि अल्तमश को मुल्लाओं ने कहा कि हुजूर हिन्दू अहले किताब (कुरान अनुयायी) नहीं हैं, इसलिए उन्हें इस्लाम की शरण मे आने की दावत दी जाए और यदि वे इससे इनकार करें तो उनको मौत के घाट उतार दिया जाए, और अल्तमश ने मुल्लाओं के इस कट्टर धार्मिक आदेश को ठुकरा दिया, तो इसका अर्थ

यह नही कि उनके हृदय मे धर्मनिरपेक्षता का बीज अंकुरित हुआ, बल्कि इसका अर्थ यह है कि वह धूर्त और चालबाज शासक था, जो अपने शासन को पुख्ता और अपने राजवंश को चिरस्थायी बनाना चाहता था। यदि हमारे प्रगतिशीलों को अपने लिए धर्मनिरपेक्षता का एक मुसलिम बाप चाहिए, तो उसे भारत मे खोजने के बजाय प्राचीन अनसारों, उमैयातियों मे क्यों खोजा जाए।

सच्ची बात तो यह है कि सुलतानो, राजाओ और सामन्तों मे उन गुणो की खोज करना और उन विचारधाराओ के झण्डाबरदार बनाना, जिनसे वे पूर्णतः वंचित थे अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है। ऐसे सारे हिन्दू, मुसलिम, ईसाई राजाओं के सामने एक ही लक्ष्य था, वह था शासक की जड़ें मजबूत कर उसे चिरस्थायी बनाना। यदि धर्म इसमे हाथ बटाता, तो वाह-वाह, नही तो धर्म को कूड़ेखाने के अन्दर पुष्पों से ढकी शरशय्या पर रख दिया जाता। अशोक, हर्ष, अकबर, औरंगजेब, यो तो उनकी निजी खामख्यालिया थी, इन्ही निजी खामख्यालियों से उनका अलग-अलग व्यक्तित्व उभरता है, नही तो वे एक ही थैले के चट्टे-बट्टे रहे। उन सबके जीवन का एकमात्र अन्दरूनी लक्ष्य था अपने शासन को दृढ बनाना और अपने राजवंश को चिरस्थायी बनाने की चेष्टा करना। बाकी सारी बातें इस केन्द्रीय लक्ष्य के सामने फीकी पड़ती थी।

कहा गया है कि अकबर सभी धर्मों के प्रति एक-सा दृष्टिकोण रखते थे। कहा जाता है कि उन्होंने राज्य की सबसे बडी नौकरियों के दरवाजे हिन्दुओं के लिए अबारित रखे, पर क्या उन्होंने हिन्दुओं की सख्या के अनुपात मे ऐसा किया? और भी कहा जाता है कि उन्होंने गैरमुस्लिम राजकुमारियों से शादी की और उन्हे स्वधर्म के अनुसार अनुष्ठान की छूट दे रखी, पर क्या उनसे जो बच्चे हुए उनको भी यही आजादी दी गई, या उन्हें इतना कट्टर मुसलमान बनाया गया कि वे मा के धर्म मे घृणा करें? असली बात तो यह है कि ये सारे कदम मुगल वश के शासन को चिरस्थायी बनाने के लिए किए गए। दिखावा कुछ भी हो।

अकबर ने अपने बच्चो को उदार शिक्षा नही दी, इससे स्पष्ट है कि उनका दीन-ए-इलाही वाला रूप एक तमाशा था, जिसका उद्देश्य था उदार विचार के हिन्दुओं और मुसलमानों मे मतिभ्रम पैदाकर उन्हे नपुंसक बनाना। अकबर ने जजिया नहीं लिया, वह इसलिए कि इससे शासन की नींव कमजोर पड़ती थी। औरंगजेब ने यह सब उलट दिया, नतीजा वही हुआ जो होना था। अध्यापक हबीब गुरुलमगुल्ला मानते हैं :

"यह सही बात है कि मुख्यतः विदेशी वंश के मुस्लिम राजा भारत पर छह-सात शताब्दियों तक राज्य करते रहे, पर वे ऐसा इस कारण कर सके कि सिंहासन पर उनका आसीन होने का अर्थ मुसलिम शासन का आसीन होना नहीं था, नहीं तो वे एक क्षण भी टिक नहीं पाते।" (भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन का

इतिहास, जिल्द 9, पृ० 111 से उद्धृत)

इस प्रसंग में मैं विदेशी शब्द के शब्दों को रेखांकित करना चाहूंगा। चालू वाद-विवाद में मुझे लगता है जान-बूझकर एक दोयम दर्जे का प्रसंग उठाकर काफी धूल उड़ाकर असली विषय पर पर्दा डालने की चेष्टा की गई है। क्या इससे कुछ आता-जाता है कि आपको एक विदेशी लूटता है या स्वदेशी, आपकी बहू-बेटी पर भारतीय बलात्कार करता है या विदेशी ? हां, सिकन्दर अवश्य विदेशी था, महमूद गजनवी और बाबर भी विदेशी थे। उनको भारत आने का, यहां के लोगों को लूटने और भारतीयों पर शासन करने का कोई हक नहीं था। भारतीय उनके मुकाबले में बस एक बात में हीन थे कि उनका सैनिक संगठन पिछड़ा हुआ था तथा उनके अस्त्र हमलावरों के मुकाबले में कमजोर थे। भारत का इतिहास अधिक पठनीय होता यदि भारतीय लोग सिकन्दर, महमूद गजनवी और बाबर का सिर काट लेते। इसी सांस में मेरा यह भी कहना है, मैं उतना ही खुश होता यदि कलिंग की बुरी तरह पराजित सेना का कोई व्यक्ति घात लगाकर अशोक को छुरा भोंक देता। लोग भूल जाते हैं कि अशोक एक महान हत्यारा था और यदि वह शान्ति में स्थित कलिंग पर हमला न करता, तो उससे संसार की कोई हानि न होती। मैं यह जानना चाहूंगा कि सिकन्दर-अशोक की दिग्विजयों से क्या उपलब्धि प्राप्त हुई। हां, विदेशी आक्रमणों से विदेशियों के साथ कुछ आदान-प्रदान शुरू हुआ, जिनमें कुछ अच्छे रहे, पर आक्रान्ताओं का यह उद्देश्य नहीं था। वे तो लूटमार के लिए आए थे।

कहते हैं, अशोक ने एक लाख कलिंगवासियों की हत्या के बाद बड़ा पश्चात्ताप किया। इसका बड़ा यश गाया जाता है। कहते हैं, वह चंडाशोक से अशोक महान हो गए। पर यह तो बौद्धों का प्रचार है, जिसके सामने इतिहासकारों की पुस्तें झुकती आई हैं। मैं अशोक के पश्चात्ताप को तभी विश्वसनीय मानता जब यह सारा अपहृत जनपद लौटा देता, हताहत सैनिकों को जहां तक सम्भव था क्षतिपूर्ति करता और यदि आत्मदहन नहीं तो सिर मुड़ाकर, राज्य त्यागकर हिमालय की राह लेता।

थोड़े में, मतलब यह है कि राजा या सुलतान केवल इस कारण जनविरोधी थे कि उनका राजा या सुलतान बनना ही अनधिकार चेष्टा थी। राजाओं में यदि फर्क है तो इतना कि कोई कम जनशत्रु था, कोई ज्यादा। विवेकवान इतिहासकार के लिए यह प्रश्न अवान्तर है कि अशोक या अकबर विदेशी थे या नहीं। एकमात्र विचारणीय बात यह है कि एक राजा या सम्राट् या सुलतान किस हद तक जनशत्रु था। किसी ऐसे राजा या सुलतान की कल्पना करना, जो जनशत्रु नहीं था शाब्दिक असंगति का शिकार होना होगा। रहा यह कि कौन विदेशी है, कौन नहीं, यह एक पृथक् प्रश्न है और यह इस बात पर निर्भर है कि आप विदेशी शब्द

को क्या परिभाषा करते है। इसमें कोई सन्देह नही कि बाबर विदेशी था। और विदेशी के रूप में ही मरा। वह भारत की भूमि में दफन होना नही चाहता था। वह अपनी इच्छा के अनुसार ही काबुल मे चिरनिद्रा मे सो रहा है। इसके विपरीत, इब्राहीम लोदी भारतीय थे और मै समझता हूं कि हुमायू, अकबर और औरंगजेब भारतीय कहे जा सकते है। पर भारतीय होने के कारण उन्हें किसी प्रकार की छूट नही होती कि इतने खून या इतने बलात्कार स्वयं माफ हो गए। उनपर भी वे ही नैतिक मानदण्ड लागू होंगे जो विदेशियों पर।

ज्येष्ठतम पुत्र को राज्यप्राप्ति का अधिकार, राजाओं के दिव्य अधिकार, विजयजन्य (लूटमार) अधिकार आदि कितने ही अधिकारों की कल्पना खुशामदी विधिवेत्ताओं और इतिहासकारों के द्वारा की गई है और इतिहासकारों ने पुश्त दर पुश्त बिना कोई प्रश्न पूछे उन्हे मान्यता दी है। मनु महाराज कहते है :

बालोऽपि नावमन्तव्यो इति भूमिणः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

यानी "यदि राजा बालक भी है, तो उसकी अवज्ञा न की जाए क्योंकि वह नर के रूप में महान देवता है।" बाइबल कहता है कि "सम्राट् को वह दो जो उसका प्राप्य है।" मुसलमानो मे खलीफा को एक तन मे पोप और सम्राट् रूप में देखने की परिपाटी थी।

यदि अधिकांश मुसलमान राजा धार्मिक कट्टरता से अपने दामन को बचा ले गए, तो इसका कारण यह नही था कि वे धर्मनिरपेक्ष थे, बल्कि यह कि वे अपने राजवंश को चालू रखना चाहते थे। इस बात की भी बड़ी बडाई की गई कि पठान और मुगल राजा यहीं बस गए और अंग्रेजों की तरह लूट बाहर नही ले गए। मुझे आश्चर्य है कि इससे लूटमार का चरित्र कैसे बदल जाता है। हा, फर्क तो है, पर वह नैतिक नही क्योंकि मुख्य प्रश्न है कि लूटमार की या नही, यह नही कि लूट का माल कहा गया। यदि बाबर अपनी जन्मभूमि त्याग के सम्बन्ध में तीखी पीड़ा से पीड़ित होकर भी वहा नहीं लौटा, तो इसका कारण यह था कि वह वहा लौटता तो शायद मारा जाता, इसलिए इसका कोई महत्त्व नहीं। भारत में आकर एक राजवंश की स्थापना करके उसने भारत को कोई गौरव तो नही प्रदान किया!

मैं फिर यह बात कहता हू कि विचार्य प्रश्न यह नही है कि कौन-सा राजा विदेशी था, कौन स्वदेशी। अब मैं धड़ल्ले से असली प्रश्न पर आता हू। रूस की अक्टूबर क्रान्ति मे झगड़ा किस बात पर था? क्या रूस के सम्राट् जार लोग विदेशी थे? उनकी भाषा और धर्म वही थे, जो आम रूसियों के थे। झगड़ा इन बातों पर नहीं था, बल्कि झगड़ा था कि वे शोषक थे। क्रान्ति मे जार अपने बच्चों के साथ मार डाले गए और जो राजकुमारियां भाग गईं, उन्हे पेरिस आदि के रेस्टो-

रेस्टों में बर्तन मांजना पड़ा। रूस में जनशासन का प्रवर्तन होकर रूस के सारे भूतपूर्व साम्राज्य में जनशासन फैला। मुझे ताज्जुब है कि हमारे कथित प्रगतिशील लोग इस सरल बात को नहीं समझ-पचा पा रहे हैं कि हमारे सारे राजा-सम्राट्-सुलतान भारत के जार थे। समाजवादी शब्दावली की छौंक के बावजूद अब अशोक और अकबर को ज़ार के अलावा और कुछ समझना-दिखाना आत्मघातक है।

धर्मनिरपेक्षता बहुत ही सुन्दर लक्ष्य है। एक बहुधर्मी तथा बहुभाषी समाज में और गति भी क्या है? सच्ची बात तो यह है कि धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद एक ही सिक्के के दो पहलू, शरीर और आत्मा हैं। पर धर्मनिरपेक्षता है क्या बला? थियोसाफी मार्का धर्मनिरपेक्षता, तू भी भला मैं भी भला, अल्ला-ईश्वर तेरे नाम, राम-रहीम जुदा न करो भाई, जो आम तौर से प्रचलित है। भगतसिंह-आज़ाद के पहलों के पुराने क्रान्तिकारी और गांधी जिसे लेकर चले, उसकी जड़ में क्या था—ढोंग-ढकोसले से पूर्ण परस्पर प्रशंसा, जो मात्र चरम गम्भीर रही। इस प्रकार की धर्मनिरपेक्षता के उन्नायकों में ऐसे लोग गिनाए जा सकते हैं जैसे खुदीराम, जो 11 अगस्त, 1902 में गीता लेकर फांसी पर चढ़े, अशफाकउल्ला, जो 19 दिसम्बर, 1927 को कन्धे में कुरान लटकाकर फांसी पर झूल गए और महात्मा गांधी। पर धर्मनिरपेक्षता के ऐसे-ऐसे महान हुतात्मा प्रतिपादकों के बावजूद और क्रान्तिकारियों से लेकर अपरिवर्तनवादियों की, सबकी पैरवी के बावजूद सन् 1947 में पाकिस्तान बनकर रहा और उसके बाद जो देशव्यापी दंगे हुए, उससे धर्मनिरपेक्षता के सौध की धज्जियां उड़ गईं और जो थोड़ा-बहुत खंडहर बचा था, वह एक हिन्दू कठमुल्ला धर्मध्वजी द्वारा गांधी की हत्या से राख धाम नीचे दफन हो गया।

इस महान पराजय के बाद भी लोग थियोसाफी मार्का धर्मनिरपेक्षता की मुर्दा घोड़ी को चाबुक लगाए जा रहे हैं। यहां तक कि प्रगतिशील नामधारी कम्युनिस्ट लोग भी इसी अरण्यरोदन के व्यर्थ कर्म में लगे हुए हैं। हम धर्मनिर-पेक्षता को छोड़ नहीं सकते हैं, पर अब इसका ढांचा सर्वधर्मसमन्वय के नारे पर नहीं बल्कि धर्म जनता के लिए अफीम है, इस वैज्ञानिक भावभूमि पर खड़ा किया जाना चाहिए। थियोसाफी आन्दोलन एक विश्व आन्दोलन का आयाम ग्रहण कर चुका था, उसके नेताओं में ऐसे लोग थे जैसे एनी बेसेण्ट, कर्नल आलकाट, पर दिना-नुदैनिक व्यवहार की चट्टान से टकराकर इसका जहाज डूब गया। मंच पर तू भी भला, मैं भी भला चल सकता है, चला भी, पर मंचेतर व्यवहार में एकता न होने के कारण उस परमगंभीर भाईचारे की बखिया जल्दी ही उधड़ गई। पर हमारे नकली प्रगतिशील दीवार पर लिखे को पढ़ नहीं पाए और उसी घिसे-पिटे रास्ते पर चलते जा रहे हैं, जिसपर चलकर सर्वनाश हुआ और सर्वनाश ही हो सकता है।

अपनेको प्रगतिशील मानने वाले इतिहासकारों से कम से कम आशा की जाती है कि वे भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन राजाओं और सुलतानों के विषय में उसी दृष्टिकोण से लिखेंगे जिस दृष्टिकोण से समाजवादी रूस में, वहां के जारों के विषय में लिखा जाता है यानी लेखकों में इन गौरवशाली रूप में चित्रित लुटेरों और विजेताओं के प्रति किसी प्रकार की कोमल भावना नहीं होनी चाहिए। हां, राजाओं-सुलतानों में आपस में तुलना की जा सकती है। इस प्रकार अकबर अपने पोते औरंगजेब से बेहतर जार (यानी कम जनशत्रु) के रूप में उभारे जा सकते हैं, पर हर हालत में हमें यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि दोनों जनशत्रु और अनधिकारी शासक थे।

कुछ मुस्लिम सम्राटों-सुलतानों ने जजिया वसूल किया और हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया। ऐसे तथ्यों को इस बहाने छिपाना या उल्लेखमात्र करके आगे बढ़ जाना नहीं चाहिए कि इससे साम्प्रदायिकता भड़क सकती है। यदि इतिहासकार साथ ही यह कह दें कि जबर्दस्ती धर्मप्रचार मानवता के विरुद्ध अपराध है, तो साम्प्रदायिकता नहीं भड़केगी। कुछ नकली प्रगतिशीलों ने मन्दिरों को लूटने के लिए एक भ्रामक बहाना पेश किया कि "मन्दिरों की लूट, कट्टर धार्मिक कारणों से ही नहीं, लूट के माल के लिए की गई", मानो लूट के माल के लिए लोभ कोई पुण्यकर्म हो। पाठ्यपुस्तक के पाठक के मन में सही वातावरण पैदा करने के लिए यह कहा जा सकता है कि जब भारत में कोई मुसलमान नहीं था, शैव और वैष्णव एक-दूसरे के मन्दिरों पर चढ़ाई करते थे और इस प्रकार की मुजरिमाना मूर्खता सभी धर्मों की विशेषता है।

अब मैं अललटप्प तरीके से कुछ मध्ययुगीन जारों के प्रति हमारे कथित प्रगतिशीलों के पक्षपात के उदाहरण पेश कर रहा हूं। शाहजहां को लीजिए। क्या उसने ताजमहल का निर्माण कला और स्थापत्य के प्रति प्रेम के कारण किया? या इस कारण किया कि सब शासकों की तरह उसमें शान-शौकत, जाहोजलाल और अमरत्व की लालसा थी? ताजमहल पर जो विपुल धनराशि खर्च हुई, उसे शाहजहां ने कुरान की नकलकर या टोपी सीकर अर्जित नहीं किया था। रवीन्द्रनाथ टाकुर ने ताजमहल से श्रेष्ठ एक कविता में ताजमहल को 'प्रेम का स्मारक ध्वज' कहा है, पर यह प्रेम भी कविकल्पना है। उसकी अन्य प्रेयसियां थीं। क्या उसे अपने यश की गौरव वृद्धि के लिए सार्वजनिक धन व्यय करने का नैतिक अधिकार था? हां, उन राजाओं-सुलतानों की तुलना में जो पंच मकार और अनाचार पर सार्वजनिक धन का दुरुपयोग करते थे, हम शाहजहां की सराहना कर सकते हैं कि स्थापत्य और भवन निर्माण पर कुछ सार्वजनिक धन को लगाया। इसी प्रकार उन राजाओं-सुलतानों की प्रशंसा की जा सकती है जिन्होंने अपने दरबारों में कवियों को प्रतिष्ठा दी। पर पाठक को ऐसा बताने समय यह भी बता

दिया जाए कि यह प्रतिष्ठा सार्वजनिक धन से दी जाती थी। इसके अलावा यह भी देखना पड़ेगा कि उस प्रतिष्ठा से कवि-मनीषी को दरबारी बनाकर उसकी कला को किराये की तो नहीं बनाया गया ?

ताराचन्द मार्का इतिहासकार इस बात को लेकर बहुत उड़े कि साम्राज्य के प्रशासन के भारी कार्य में जुटे रहने पर भी औरंगजेब समय निकालकर अपने वैयक्तिक खर्च चलाने के लिए नकल करते और टोपियां सी लेते थे। औरंगजेब ने अपनी अन्तिम इच्छा के रूप में यह हिदायत लिखी, "मैंने जो टोपियां सी है, उनके मद में महलदार अइया बेग के पास चार रुपये दो आने जमा हैं। उन्हें इस असहाय पर (यानी मेरी लाश पर) खर्च किया जाए। मेरी थैली में कुरान नकल करने के बावन वैयक्तिक खर्च के लिए 305 रुपये हैं, उन्हें मेरी मृत्यु के दिन फकीरों में बांटा जाए।" (यदुनाथ सरकार की पुस्तक से सरकारी 'भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास' जिल्द 1, पृ० 39 में प्रशंसा सहित उद्धृत)

शायद हमारे इतिहासकार यह दिखाना चाहते हैं कि औरंगजेब बड़ा धर्मात्मा था और सार्वजनिक धन और वैयक्तिक आय को अलग रखकर चलता था। पर इस प्रकार की धारणा बहुत भ्रामक है और नेहरू के प्रधान इतिहासकार इस धारणा के शिकार हो गए। औरंगजेब ने अपने भाइयों को मारकर उनके कटे हुए सिर शहर और सेना में घुमाए (ये भाई मुसलमान ही थे), बाप को कैद किया, बहन की शादी में अड़गे लगाए। उसने जो सैकड़ों लड़ाइयां रचाईं और अभियान किए, जिनका एकमात्र उद्देश्य आत्मगौरव और वंशगौरव बढ़ाना था, उनके लिए जो अपार धनराशि खर्च हुई वह कुरान नकल करने और टोपी सीने से तो नहीं आई ! शिवाजी के विरुद्ध जो छोटे-मोटे अभियान हुए, कट्टर मुस्लिम दृष्टि से सार्वजनिक हित में गिना जाए कि वह विधर्मियों के विरुद्ध धर्मयुद्ध था, पर उनके मुख्य अभियान तो उत्तर-पश्चिम सरहद के तथा दक्खन के मुस्लिम सुलतानों के विरुद्ध हुए। क्या औरंगजेब ने इनका खर्च कुरान नकल कर या टोपी सीकर भरा था ? हमारे इतिहासकार इस बात को पाठ्यपुस्तक के पाठकों के कानों में बार-बार क्यों नहीं डालते कि औरंगजेब अपने भाइयों की हत्या करके तथा बाप को कैद कर सिंहासन पर बैठा था ?

डा० ताराचन्द (बल्कि उनके प्रेतलेखक) का दावा है कि औरंगजेब ने "शरियत के अनुसार शासन करने की चेष्टा की" (वही, पृ० 77)। राज्य के हकदार बड़े भाई को मारकर (जो राजतन्त्र के उत्तराधिकार नीति का हनन करना है) तथा अन्य भाइयों को मारकर, बाप को कैदकर अपार सार्वजनिक धनराशि का अपनी हुकूमतपरस्ती और आत्मगौरव के लिए व्यय करना, गद्दी पर अधिकार जमाना तथा राज्य करना शरियत के अनुसार राज्य करना है ?

डा० ताराचन्द के प्रेतलेखक बड़े भाव में आकर सनदनामा देते हैं, "कैद-

क्तिक जीवन मे औरंगजेब जैसे एक आदर्श व्यक्ति के लिए जरूरी है कि वह अपने भाइयों की हत्या करे, बूढ़े बाप को कैद करे और अपनी अहमिका तथा हत्या-पिपासा को तृप्त करने के लिए विपुल सार्वजनिक धनराशि का दुरुपयोग करे।" मैं यह जानता हू कि प्रगतिशील इतिहासकार ताराचन्द के परम प्रशसक थे, अवश्य किंचित् ईर्ष्या के साथ।

कई मुसलमान औरंगजेब के प्रशसक हैं। मै इस प्रसंग मे यह बात न उठाता, यदि इस प्रकार की मनोवृत्ति के बुरे नतीजे सामने न आते। मैं जानता हूं, जिस दिन किराये के हत्यारो के हाथों बागला देश के राष्ट्रपिता मुजीब की हत्या हुई, उस दिन कई भारतीय मुसलमानों ने चुपके से घी के चिराग जलाए। मैं उनको दोष नही देता। मै दोष देता हू इतिहासकारो और नेताओं को। मैंने यह बताया है कि धर्म जनता के लिए अफीम है इस सूत्र के आधार पर निर्मित धर्मनिरपेक्षता का जनता मे प्रचार किया जाए। इतिहासकार और नेताओं को पहले सही विचारधारा में प्रशिक्षित किया जाए। प्रचलित गड़बड़ी का फायदा उठाकर मार्क्सवादी शब्दजाल के बावजूद यह घुट्टी पिलाने की कोशिश है कि उर्दू सारे भारतीय मुसलमानों की मातृभाषा है। यह तो वही हुआ, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान और इससे पीछे के दरवाजे से फिर दो राष्ट्र सिद्धान्त का प्रचार हो रहा है। ऐसे वक्तव्यों पर मार्क्सवादी पालिश चढ़ी होने पर भी, उनका पर्दाफाश करना जरूरी है। जब ऐसे लोग इतिहास लिखेंगे, तो वह विषाक्त होगा। ऐसे लोग मार्क्सीय शब्दावली का सहारा लेकर अपने गुनाह को बढ़ाते-भर है। बाद को भगतसिंह ने खुलकर क्रान्तिकारी धर्मनिरपेक्षता का प्रतिपादन किया। यदि कोई कहे कि यह तो विदेशी मार्क्सीय परम्परा है, तो मैं पहले ही बता चुका हूं कि कबीर ने कहा था :

अरे इन दोउन ने राह नहीं पाई
तुरुकन की तुरुकाई देखी
हिन्दुअन की हिन्दुआई।

चौथा अध्याय

वहाबी और अलीगढ़ आन्दोलन

सन् 1865 और 1872 के बीच वहाबियों का एक आन्दोलन चला, जिसमें मुसलमान ही थे। इन क्रान्तिकारियों को कहां तक पूरा क्रान्तिकारी कहा जा सकता है, इसमें सन्देह है क्योंकि ये लोग अंग्रेजों को निकालकर फिर से मुसलिम शासन कायम करना चाहते थे। कुछ ऐसी धारणा कुछ लोगों में बन गई थी कि चूंकि मुगलों के हाथ से अंग्रेजों ने राज्य प्राप्त किया, इसलिए अंग्रेजों के चले जाने के बाद फिर शासन मुगलों के हाथों में जाना चाहिए, यद्यपि तथ्य यह है कि जिस समय अन्तिम मुगल का पतन हुआ उस समय उसका राज्य केवल लाल किला व जामा मस्जिद तक था। साधारण पुस्तकों में यह पढ़ाया जाता है कि 1872 में शेरअली ने जो वायसराय लार्ड मेयो का वध किया, वह एक साधारण अपराधी था किन्तु वास्तविकता यह है कि वह एक वहाबी क्रान्तिकारी था। तत्पश्चात् क्रान्तिकारियों ने चन्द्रशेखर व यशपाल के नेतृत्व में व दिल्ली में रासबिहारी बोस और अमीरचन्द के नेतृत्व में दो प्रयास किए, किन्तु वह सफल नहीं हुए केवल शेर-अली ही वायसराय का वध कर सके। इसलिए शेरअली का क्रान्तिकारियों में बहुत बड़ा स्थान है।

शेरअली के अलावा अब्दुल्ला भी एक वहाबी शहीद हुए। 1871 में वहाबी नेता अमीर खां को रेगुलेशन तीन में नजरबन्द किया गया। इसपर एक अंग्रेज बैरिस्टर अनेस्टी को वकील बनाकर मुकदमा लड़ा गया, पर अंग्रेज जज नार्मन ने अपील नामंजूर कर दी। इसीपर अब्दुल्ला ने नार्मन का वध किया, और अब्दुल्ला को फांसी दे दी गई। फांसी के बाद इस मुसलिम शहीद को कब्र देने की बजाय अंग्रेजों ने लाश को घसीटा और उसे जला दिया, जो मुसलिम मत के अनुसार बड़ा भारी अपराध था।

यद्यपि वहाबी आन्दोलन कट्टर मुसलिम पुनरुज्जीवनवादी था, पर इसमें क्रान्तिकारी उपादान बहुत जबर्दस्त था क्योंकि यह सम्पूर्ण रूप से विदेशी शासन के विरुद्ध था। सफल होता तो यह भी कुछ उसी रूप में सामने आने की चेष्टा करता, जैसे खुमैनी के नेतृत्व में ईरान की क्रान्ति की दशा हुई कि इसने शाह (जो अमेरिकी साम्राज्यवाद के अखाड़े का पहलवान था) को उखाड़ फेंका, पर यह देश को सामाजिक रूप से पीछे की ओर ले जाने की चेष्टा कर रहा है।

यह द्रष्टव्य है कि जिन दिनों वहाबी क्रान्तिकारी सामने आए, उन्हीं दिनों दूसरी ओर मुसलमानों में कथित अलीगढ़ आन्दोलन चला। 1857 के बाद मुसलमान मध्यम वर्ग बहुत दिनों तक यह आशा लगाकर मुंह दूसरी तरफ कर रूठकर बैठा रहा कि फिर अपनी ही जमीं होगी और अपना ही आसमां होगा, जोकि हम दिखला चुके हैं कि जब अंग्रेज आए, तो मुगलों का राज्य दिल्ली के लाल किला और अधिक से अधिक जामा मस्जिद तक था। औरंगजेब ने अपने पूर्वपुरुषों की नीति 'राज्य पहले, इस्लाम बाद को' त्यागकर (जिसे उन सम्राटों ने प्रगतिशीलता के कारण नहीं मसलहतन राज्यलोलुपता के कारण अपनाया था) शायद बाप को कैद करने और भाइयों की हत्या को भुलावा देने के फेर में भारत का शासन करना चाहा था, फिर भी जैसा कि हम बता चुके हैं, फिर भी बताने की जरूरत है कि हिसाब लगाकर देखा जाए तो उसने लड़ाई आदि में हिन्दुओं से कहीं अधिक मुसलमान सैनिक मारे।

कुछ भी हो, औरंगजेब की नीति के कारण उसके बाद जो लोग मुगल सिंहासन पर बैठे, वे एक से एक नालायक, ऐयाश, शराबी और बदमाश निकले। नतीजा वही हुआ जो होना था, यानी ऊपरी ढांचा रह गया, पर उसके अन्दर कुछ नहीं रहा सिवा बदबूदार हवा के।

यह वह परिस्थिति थी, जिसमें 1857 का स्वतन्त्रता-संग्राम आया और एक गौरवपूर्ण धर्मनिरपेक्ष परम्परा रखकर इतिहास में विलीन हो गया। यह हिन्दुओं और मुसलमानों का एक सम्मिलित प्रयास था।

पर हजारों ऐसे मुसलमान थे, जो यह समझते थे कि राज्य यदि अंग्रेजों के हाथों से वापस आया, तो मुगलों के हाथों में आना चाहिए। पर मैंने बार-बार दिखाया है कि कथित मुसलिम युग में आम मुसलमानों का राज्य नहीं था जैसे कथित हिन्दू युग में आम हिन्दुओं के हाथों में किसी भी प्रकार की राज्य-शक्ति नहीं थी। हम सरकारी 'भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास' से उद्धृत करते हैं :

"जाति और कबीले सिर्फ हिन्दू समाज के ही विभाजक तत्त्व नहीं हैं, भारतीय मुसलमानों पर भी वे लगभग समान रूप से लागू होते हैं। यद्यपि रिस्ले के अनुसार, 'इस्लाम एक ज्वालामुखी की तरह की शक्ति है, जलाने और एकरूप करने वाली एक ताकत है, जो अनुकूल परिस्थितियों में एक राष्ट्र का निर्माण भी कर सकती है। कबीलों की एक पूरी शृंखला को पिघलाकर यह एकरस कर देती है और उनके आन्तरिक ढांचे को एक-सा रूप दे देती है, जिससे पहले की प्रथाओं का अस्तित्व भी उनमें नहीं ढूंढा जा सकता।' फिर भी, यह एक सचाई है कि किताबों का इस्लाम व्यवहार के इस्लाम से बहुत भिन्न था। पैगम्बर की शिक्षाओं और मध्य युगीन भारत के मुसलमानों की प्रथाओं और संस्थाओं के बीच

हिन्दू धर्मशास्त्रों और व्यवहारबद्ध जातिप्रथा की अपेक्षा कम चौड़ी खाई वर्तमान नहीं थी। इबटसन ने कहा है कि 'लोग (मुसलमान) सामाजिक और कबायली प्रथाओं से किन्हीं भी धार्मिक नियमों की अपेक्षा कहीं अधिक बंधे हैं'।"

पंजाब में मुसलमान बहुसंख्या में थे। वे अधिकतर धर्म-परिवर्तन करके हिन्दू से मुसलमान बने थे। लेकिन इबटसन के अनुसार, "हिन्दू धर्म त्याग कर इस्लाम ग्रहण कर लेने से आवश्यक नहीं कि उसपर (जातीय प्रथा पर) न्यूनतम भी प्रभाव पड़ा हो।" वह आगे लिखता है, "मुसलमान राजपूत, गूजर अथवा जाट सामाजिक, कबायली, राजनीतिक और प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए ठीक उतना ही राजपूत, गूजर या जाट है जितना कि उसका हिन्दू भाई। उसके सामाजिक रिवाज अपरिवर्तित हैं। उसके कबायली बन्धन ढीले नहीं पड़े हैं तथा विवाह और उत्तराधिकार के नियम ज्यों के त्यों हैं।"

आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त की जनगणना रिपोर्ट में ब्लण्ट लिखता है कि सैयदों, शेखों, मुगलों और पठानों को छोड़कर "शेष सिद्धान्ततः हिन्दुओं से धर्म-परिवर्तित हैं और विवाह तथा पंचायतों से सम्बन्धित प्रथाओं को उन्होंने कमोबेश सुरक्षित रखा है। ये प्रथाएं उन जातियों की अंगभूत हैं, जिनसे वे पहले सम्बन्ध रखते थे। सारे के सारे मुसलमान राजपूत कठोरतापूर्वक सगोत्र विवाह-वादी हैं और कभी-कभी निम्न स्तर की लड़की से विवाह कर लेने की राजपूत-प्रथा को भी उन्होंने बनाए रखा है। पेशेवर वर्गों की पंचायतें हैं और वे उतनी ही शक्तिशाली हैं, जितनी कि उनके हिन्दू भाइयों की पंचायतें। बंजारों, कुम्हारों, जुलाहों, बेहनों, कुजगारों अथवा कासगारों (मुसलमान कुम्हारों), मुकेरियों, तवायफों, शेखों, मेहतरों (भंगियों), हलवाइयों, कुजड़ों, मनिहारों, चूड़ीहारों, नानबाइयों, कलंदरों, घोसियों, कसमंगियों और दूसरों के बीच ठीक यही होता है।"

पी० सी० टैलेण्ट्स ने बिहार और उड़ीसा की मुस्लिम जातियों की एक सूची प्रस्तुत की है। इसमें धुनिया, जुलाहा, कुजड़ा, पठान, सैयद और शेख नाम भी सम्मिलित हैं। एन्थोवेन ने गुजरात के बारे में कहा है कि मोमना कुनबियों और मोलेसलामों ने धर्म के रूप में इस्लाम को अपनाया था और सामाजिक ढांचे के रूप में हिन्दुत्व को। सिन्ध के बारे में वह कहता है, "सैद्धान्तिक रूप से मुसलमान होने के नाते सब उपजातियां बराबर हैं और उनमें विवाह-सम्बन्ध खुले रूप से हो सकते हैं, लेकिन व्यवहार में विभिन्न वर्गों की सामाजिक स्थिति को बहुत महत्त्व दिया जाता है और विवाह सम्बन्ध कबीले की सीमाओं अथवा समान सामाजिक स्तर के कबीलों के सदस्यों तक सीमित रहता है।"

रिज़ले बर्न ने हिन्दू जातिप्रथा की सभी विशेषताएं मुसलमानों में पाई हैं; जैसे, सगोत्र विवाह प्रथा, पेशे का विशेषीकरण, पूर्वजों के नियम और सामाजिक प्रतिबन्ध। जे० एच० हटन ने भारत सरकार के इस निर्णय पर खेद प्रकट किया है

कि जाति का नाम तभी लिखा जाए, जब वह स्वेच्छया बताई जाए। उसने संकेत किया है कि कुछ मुसलमान वर्गों (जातियों) में जातिप्रथा से ग्रहण की गई कार्यात्मक और सामाजिक विशेषताएं स्पष्टतः दिखती है, इसीलिए उनका उल्लेख जाति नाम देकर किया गया है। वह आगे लिखता है, "हिन्दू जातियों के आधार पर बने मुसलमान वर्गों में अन्तवर्गीय विवाहों पर रोक लगना बहुत स्वाभाविक है।"

सन् 1931 से पहले की सभी जनगणना रिपोर्ट मुसलमान जातियों की लम्बी सूचियां प्रस्तुत करती है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अठारहवीं शताब्दी के मुसलमान भारतीय हिन्दू समाज पद्धति का ही अनुसरण करते थे। लेकिन एक मूलभूत अन्तर विद्यमान था। पवित्र नीतिशास्त्र से व्यवहार में कितनी ही दूरी क्यों न पड़ गई हो, किन्तु जाति प्रथा को तात्त्विक दृष्टि से शास्त्र का अनुमोदन प्राप्त था। पवित्र आज्ञाओं और वास्तविक व्यवहार के बीच कोई मूलभूत अन्तर नहीं था।

दूसरी ओर, मुसलमानों में जातियों की उपस्थिति इस्लामी सिद्धान्तों के स्पष्टतः विरुद्ध थी। धार्मिक दृष्टिकोण से जाति इस्लाम विरोधी है और जब किसी सच्चे मुसलमान की अन्तरात्मा जागती है, वह उन बन्धनों को अनिवार्यतः तोड डालता है। लेकिन अठारहवीं शताब्दी में ऐसी जागृति की बात सोची भी नहीं जा सकती थी।

मुस्लिम कबीलावाद ने हिन्दुओं से कहीं अधिक उन्हें ही क्षति पहुंचाई। पठान और बलूच कबीले, उनके अनगिनत वंश और परिवार पश्चिमी इलाके में सिन्ध के दोनों ओर इकट्ठे बस गए थे। हिन्दू कबीलों ने धर्म-परिवर्तन के बाद भी अपने संघटन और अनन्यता को कायम रखा था। मुसलमान राजपूत, जाट और गूजर ऐसे ही लोग थे। सैयद अरबों के वंशज होने का दावा करते हैं और मुगल मध्य एशियायी कबीलों के। लोदी वंश के शासनकाल में पन्द्रहवीं शताब्दी में कितने ही अफगान भारत में आकर बस गए थे। इनमें सूर, जो मुगलों को बाहर निकाल देने में लगभग सफल हो गए थे, और रुहेले, जिन्होंने अठारहवीं सदी में बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया था, उल्लेखनीय है। एक प्राचीन और दुर्द्धर्ष कबीला मेवों का था, जो दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम में बसे थे।

मुसलमानों में सैयदों को विशेष सम्मान और महत्त्व दिया जाता था। किसी सैयद को चोट पहुंचाना, यहां तक कि उसे गाली देना भी, पाप था। औरंगजेब के अनुसार, "उच्च कोटि के सैयदों के प्रति सच्चा प्रेम हमारे धर्म का एक अंग है। इससे भी बढ़कर वह अध्यात्म ज्ञान का सारतत्त्व है। इस कबीले के प्रति शत्रुता नरक की अग्नि में प्रवेश पाने और खुदा के क्रोध को जगाने का कारण है।"

मुगल और पठान लड़ाकू वर्ग थे। मुगल शासकों के विश्वासपात्र थे। उन्हें सैनिक और नागरिक जिम्मेदारियां सौंपी जाती थीं। पर पठानों की साम्राज्य-

भक्ति में सन्देह किया जाता था। वे अक्सर बिगड़ उठते थे और सत्ता का विरोध कर बैठते थे।

अच्छे वर्ग के हिन्दू धर्म-परिवर्तन के बाद नौ मुसलमान कहलाते थे और उन्हें गैर का दर्जा दिया जाता था। वे अपने मूल वर्ग, जाति, नाम, पेशे और रिवाजों से चिपके रहते थे। भारत में पैदा हुए मुसलमानों को, चाहे वे नौ मुसलमान हों अथवा बहुत पहले धर्मान्तरित लोगों के वंशज हों, विशेष सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सम्राट् अपनी कृपाएं और उपाधियां विदेशियों को प्रदान करते थे, जो अपनेको श्रेष्ठतर समझते थे। रो और फायर ने बड़प्पन की इस भावना को अनुभव किया था और लिखा था कि "वे (मुगल) अपनेको श्वेत कहलाने में गर्व मानते थे और काले भारतीयों पर नाक-भौं सिकोड़ते थे।"

मुसलमान भी हिन्दुओं की ही तरह दो वर्गों को मान्यता देते थे। जो उच्च वर्ग के थे और राज्य की कार्रवाइयों में भाग लेने के आकांक्षी थे, वे शरीफ (श्रेष्ठ) कहलाते थे। दूसरे लोग, जो अधिकतर निम्न हिन्दू जातियों से मुसलमान बने थे, रजील (नीच) कहलाते थे।

इस प्रकार, मुसलमान भी प्रादेशिक, कबायली, वंशीय, वर्गीय और जातीय विभेदों में उलझे हुए थे। तुरानी ईरानियों के विरोधी थे। अफगान उन मुगलों के शत्रु थे, जिन्होंने उनसे दिल्ली का साम्राज्य छीन लिया था। हिन्दुस्तानी मुसलमान विलायतियों (ईरान, ट्रांस-आक्सियाना के देशों से आए हुए लोगों) के घमंड और आत्मश्लाघा से चिढ़ते थे। शिया पहले तीन खलीफाओं की भर्त्सना करते थे, पर सुन्नी उन्हें मुसलमानों के न्यायनिष्ठ (खुलफ-ए-रशीदीं) मानते थे। सुन्नी शियाओं को नास्तिक (रफीजी) समझते थे।

मुसलमानों में अनगिनत पेशेवर जातियां भी थीं—उदाहरणस्वरूप, जुलाहे, कसाब, भिश्ती, भंगी (लालबेगी) आदि।

समाज में वैसी ही विघटनात्मक प्रवृत्तियां और राजनीतिक मामलों में वैसे ही उच्च कुलीनवर्गीय स्वार्थ मुसलमानों में भी वर्तमान थे, जैसे कि हिन्दुओं में थे।

मैं समझता हूं जिसने भी हमारे इतिहास को हिन्दू युग, मुस्लिम युग आदि में विभक्त किया, उसने बड़ी गहरी कूटनीति से काम लिया। सामन्त युग में हिन्दू हिन्दू को और मुसलमान मुसलमान को (कई बार मानसिंह जैसे हिन्दू सामन्त से मिलकर) खूब मारते थे। हिन्दुओं की यह आपसी मारकाट अब रही नहीं क्योंकि संसार में दो ही हिन्दू-प्रधान राष्ट्र हैं, भारत और नेपाल, पर मुसलमानों द्वारा मुसलमानों को सैकड़ों की संख्या में मारा जाना अब भी जारी है। याह्या खां ने 1970-71 में 30 लाख बंगाली मारे, जिनमें 25 लाख मुसलमान होंगे। इसी तरह उसकी सेना ने एक लाख औरतों के साथ बलात्कार किया जिनमें भी अधिकांश मुसलमान थीं। ईरान के एक शाह ने एक दिन में 15000 तक ईरानी मारे।

खुमैनी ने सैकड़ों को मारा। लिखते समय ईरान-इराक भी एक-दूसरे के हवाई जहाज गिरा रहे हैं। अरब देश आपसी लड़ाई और चरित्रहीनता के कारण इतने थोदे हो गए हैं कि 12 करोड अरब कुछ लाख इस्राइलियों के आगे घुटने टेकते रहे। अवश्य इसमे अमेरिकी साजिश का भी हाथ है।

भारतीयों के दिमाग से हिन्दू युग और मुसलिम-युग का मिथक बिना निकाले इतिहास के सबक हमारे पल्ले नहीं पड़ने के।

जो कुछ भी हो, 1875 ई० के युग मे भारतीय मुसलमानों की आंखों के सामने शहीद अब्दुल्ला और शेरअली के उदाहरण थे।

अलीगढ़ चिन्तन

इन्ही दिनो उनके सामने अलीगढ़ आंदोलन आया, जिसके पुरोधा थे सर सैयद अहमद। इन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा अपनाने का नारा दिया। यद्यपि सैयद अहमद धार्मिक आलिम नही थे, फिर भी उन्होंने कुरान और हदीस के चौखटे के अन्दर इस्लाम का एक हद तक आधुनिकीकरण करना चाहा। उन्होंने मुअज्जिजो (जादुई करामात) पर आशा रखने का विरोध किया। उन्होंने यह कहा कि जो व्यक्ति ईश्वर मानता है, वह काफिर या मुलहिद नही है।

सैयद अहमद सामाजिक, सास्कृतिक और राजनैतिक मामलों मे कुछ हद तक स्वतन्त्र चिन्तक थे, "सबसे झगड़े के बिन्दु थे गुलामी, बहुपत्नित्व, जेहाद, सूदखोरी और युद्धबन्दियो के प्रति व्यवहार।" उन्होंने यह कहा कि इन समस्याओं पर इस्लाम का दृष्टिकोण युक्तियुक्त होने के साथ ही प्राकृतिक नियमों के अनुसार था। उन्होंने यह कहा, "इस्लाम मे गुलामों के साथ ऐसे उदार व्यवहार का विधान है कि गुलामी का चरित्र ही बदल जाता है, बहुपत्नित्व कुछ ही क्षेत्रों मे विहित बताया गया, गैर-मुस्लिमों के विरुद्ध जेहाद तभी जायज है जब इस्लाम पर आक्रमण किया गया हो, हर प्रकार की सूदखोरी नही बल्कि प्राक्-इस्लाम युग की सूदखोरी वर्जित है, युद्धबन्दी का हनन नहीं होना चाहिए और न युद्धबन्दियों को गुलाम बनाया जाए।" खिलाफत के विषय मे उनका यह मत था कि पैगम्बरे इस्लाम की मृत्यु के 30 वर्ष बाद इमाम हसन के साथ वह समाप्त हो गई। इसका अर्थ यह था कि तुर्कों के सुल्तान खलीफा कहलाने के हकदार नही थे और अंग्रेज शासकों के प्रति वफादारी अपरिहार्य है। (वही, दूसरी जिल्द, पृ० 356)

उनके ये मत उनकी 'आखिरी मजामीन' पुस्तक से संकलित हैं, जिसपर 1897-98 की तारीख पड़ी है।

इस प्रकार सैयद अहमद ने कट्टर भारतीय मुसलमानो के दिमाग में कुछ ताजी हवा पहुंचाई। यह द्रष्टव्य है कि जिस खिलाफत के लिए भारतीय मुस्लिम और उन्हें खुश करने के लिए गांधी लड़े और जिसे कमाल पाशा ने व्यावहारिक

रूप में खत्म करके तुर्की सुल्तान और मुसलमानों के खलीफा को स्विट्जरलैंड में भाग जाने के लिए मजबूर किया, उसे सैयद अहमद ने लगभग पचास बरस पहले अनधिकारी इस कारण घोषित किया था कि अंग्रेज उनके खिलाफ थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम मेल-जोल को महत्त्व देते हुए उन्हें एक सुन्दरी वधू की दो आंखें बताया, इनमें से एक आंख को हानि पहुंची, तो चेहरा बिगड़ा। (वही, पृ० 358) सर्वोपरि वह अंग्रेजी शिक्षा के प्रतिपादक थे। वह राजनैतिक सुविधाएं प्राप्त करने के लिए आन्दोलन के विरोधी थे, उनका कहना था, "शिक्षा प्राप्त करो, सुविधाएं आप ही प्राप्त होंगी।" वह बहुत नरम सुधारक थे, फिर भी मुस्लिम आलिम जो अपनेको इस्लाम के एकमात्र ठेकेदार और व्याख्याता मानते थे, उनसे खुश नहीं थे।

कांग्रेस की स्थापना का असर

जब 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई, तब सैयद अहमद भड़क गए। उन्हें ऐसा लगा कि हिन्दू अपनी बहुसंख्या का फायदा उठा लेंगे और उन्होंने खुलकर कहा कि भारत के लिए आत्मशासन बिलकुल अव्यावहारिक और अवांछनीय है, क्योंकि उनकी मान्यता यह थी कि अलीगढ़ आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु अंग्रेज-मुस्लिम गठजोड़ है। (वही, पृ० 365)। वह इसी कारण सभी प्रकार के चुनाव के विरुद्ध हो गए, क्योंकि मुसलमान अल्पसंख्या में हैं। नतीजा यह है कि मध्यवित्त मुसलमानों ने, जिन्होंने अब्दुल्ला और शेरअली के विद्रोह वाले मार्ग को छोड़कर सर सैयद अहमद का नरम, राजभक्त मार्ग अपनाया, लोकतन्त्र के प्रति एलर्जीयुक्त हो गया।

मैंने कहीं लिखा था कि क्या इसी मानस के कारण पाकिस्तान में बराबर सैनिक अधिनायकवाद रहा और बांग्ला देश में भी मुजीब की हत्या करके सैनिक अधिनायकवाद आ गया? जिस समय मैं लिख रहा हूं (सितम्बर 1980), उस समय इस्लामी देशों में एकमात्र देश तुर्की में भी, जहां लोकतन्त्र रहा, सैनिक शासन हो चुका है। अवश्य मैं इस गिनती में उजबेकिस्तान, ताजिकिस्तान आदि को नहीं गिन रहा हूं, जहां समाजवादी लोकतन्त्र है। ये मुस्लिम इलाके समाजवादी शासन में इतनी उन्नति कर चुके हैं कि बहुत हालत से ये सीधे एक छलांग में महान औद्योगिक देश हो गए हैं। स्मरण रहे, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि ये मन को संकीर्ण करने वाले धर्म के अनैतिक असर को दूर कर सका समाजवाद को अपना कर ही ऐसी उन्नति कर सके हैं। मैंने खुद देखा कि वहां मस्जिदों में केवल बुड्ढे जाते हैं। स्त्रियां पढ़ती तक नहीं पहनतीं हैं। बुर्के का कहीं पता नहीं।

मजहबी कट्टरपन की दृष्टि से देखा जाए तो वहाबी अब्दुल्ला को जिस प्रकार

फांसी के बाद घसीटा गया और कब्र देने की बजाय जलाया गया, उससे मौलवियों, मौलानाओं और धार्मिक आलिमों को उत्तेजित होना चाहिए था, पर हमें कहीं भी यह सूचना नहीं मिली कि किसी मुसलमान ने चूं तक की हो। अलीगढ़ धारा के किसी चिन्तक ने, यहां तक कि सैयद अहमद ने, इसपर कुछ कहा हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

कांग्रेस के जन्म से आतंकित होकर सर सैयद अहमद को चाहिए था वह कांग्रेस में शरीक होते। यह समझ में नहीं आता कि सैयद अहमद डरे किस बात से? कांग्रेस अपने जन्म के समय में ही नहीं उसके बाद कई दशकों तक खैरख्वाहों की संस्था थी। उसके अधिवेशनों का प्रारम्भ 'गाड सेव दि क्वीन'—ईश्वर महारानी की रक्षा करे—इस अंग्रेजी राष्ट्रगीत से होता था, उसमें केवल ये ही प्रस्ताव पारित होते थे कि भारतीयों को अधिक नौकरी मिले, आई० सी० एस० की परीक्षा भारत में हो इत्यादि। उसकी चहारदीवारी के अन्दर क्रान्ति शब्द तो क्या स्वराज्य का भी उच्चारण निषिद्ध था। वह केवल इसी प्रकार के प्रस्ताव पारित करने वाली एक संस्था थी, जो केवल बड़े दिन की छुट्टियों में अपनी बैठक करती थी और उसके बाद सब अपने कामकाज में लग जाते थे। अधिक से अधिक इंगलैंड में एक शिष्टमंडल भेज दिया, जो ब्रिटिश संसद् की इमारत का चक्कर लगाकर या कुछ दो चोटी के अफसरों से मिल-मिलाकर वापस आ जाता था। उस समय के कांग्रेसी नेताओं का यह बहुत प्रिय सिद्धान्त था कि जो कुछ ज्यादती हो रही है, सम्राट् महोदय को उसका पता हो जाए तो न हो। बहुत बाद में चलकर लोकमान्य तिलक का कांग्रेस में पदार्पण हुआ, पर तिलक का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व कांग्रेस के बाहर उनके द्वारा किए गए कार्यों, वक्तव्यों तथा लेखों के कारण चमका। गांधी जब 1919 में जलियांवाला बाग हत्याकांड की स्थिति से उत्पन्न राजनैतिक शून्यता को भरकर अपना असहयोग मन्त्र लेकर सामने आए और उन्होंने जूलियस सीजर की तरह "मैं आया, मैंने देखा और मैंने विजय पाई" के रूप में कांग्रेस पर कब्जा कर लिया, तब कांग्रेस अलबत्ता एक जंगजू संस्था हो गई। पर सीमित अर्थों में।

इसलिए सर सैयद अहमद डर गए, तो सिर्फ इस बात से डरे होंगे कि उसमें हिन्दुओं की बहुसंख्या है और वे जो कुछ मांग रहे हैं, वह यदि आंशिक रूप में मिलता चला गया, तो उसका अधिकांश हलवा-मांडा हिन्दुओं को ही मिलेगा। दूसरे शब्दों में, उनका लक्ष्य यह था कि अल्पसंख्यक होते हुए भी जो कुछ मिले, वह मुसलमानों को मिले। स्मरण रहे कि कांग्रेस के उस समय के नेताओं और अलीगढ़ पंथ के नेताओं को जनता के बारे में कोई चिन्ता नहीं थी, वे केवल मध्यम वर्ग की नौकरियों के बारे में चिन्तित थे। सर सैयद चाहते कि ये नौकरियां मुस्लिम मध्य-वर्ग के युवकों को मिलें। इसमें अदृश्य रूप से यह विचार भी काम कर रहा था कि मुस्लिम ही अंग्रेजों के पहले शासक थे। अंग्रेजों के आगमन के समय कैसे किस हद

तक उनका शासन (लालकिला और जामा मस्जिद के इर्द-गिर्द) तक सीमित था, उसका हम बार-बार वर्णन कर चुके है।

उर्दू-हिन्दी का प्रश्न

एक दूसरी बात जिससे सर सैयद प्रभावित हुए वह है उर्दू के मुकाबले हिन्दी के उत्थान का प्रारम्भ। मजे की बात है कि हिन्दी की इस अगडाई लेकर उठ खड़े होने में हिन्दुओं का उतना हाथ नहीं था।

सरकारी 'भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास', दूसरी जिल्द, पृ० 37 के अनुसार:

"सरकारी हलकों मे बहुत-से अफसर मुसलिम सम्प्रदाय के विरुद्ध पूर्वाग्रही थे और वे मुसलिम सस्कृति के कई पहलुओ पर अकृपा रखते थे। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ में फोर्ट विलियम कालेज मे आधुनिक भारतीय भाषाओं—बगला, मराठी, उर्दू के गद्य को विकसित करने के प्रयास हुए। इन भाषाओं मे ऐश्वर्यशाली काव्य-साहित्य होने के कारण कार्य आसान रहा। पर कालेज के अधिकारियो को ऐसा लगा कि फारसी लिपि में लिखित और फारसी शब्दावली और कविता मे प्रभावित उर्दू मुख्यत: शहरो में चालू होने पर भी जनसमूह की भाषा नही मानी जा सकती। इसलिए उन्होंने ऐसा गद्य विकसित करने का बीड़ा उठाया, जो फारसी उपादानो से मुक्त हो। इस प्रकार हिन्दी (खड़ी बोली) का जन्म हुआ। उस युग मे खड़ी बोली मे कोई कविता नही थी और इसका गद्य ऐसा बनाया गया कि यह उर्दू की एक शैली हो गई, जिसमे सस्कृत शब्दों ने फारसी शब्दों का स्थान ले लिया। पहले यह कुछ अटपटा लगा, पर शीघ्र ही इस भाषा को गद्य और पद्य, दोनो मे अभिव्यक्ति की सरलता प्राप्त हो गई और यह साहित्य की भाषा बन गई।"

अंग्रेज अफसरों ने इस मुहिम को जोर पहुंचाया। सी बेली ने सरकार को सलाह दी कि कचहरियों और दफ्तरों मे हिन्दी धीरे-धीरे चालू की जा सकती है और की जानी चाहिए। उन्होंने कारण जो दिया, वह अजीब है, "क्योंकि नागरी के मुकाबले फारसी बहुत आसानी से बदली जा सकती है, इसलिए कानूनी दस्तावेज मे जालसाजी और बेईमानी कम की जा सकती है।" (वही, पृ० 372) बिहार के अंग्रेज राज्यपाल (1871-74) ने प्रान्त के विद्यालयो तथा कचहरियों मे फारसी लिपि निकालने की चेष्टा की। उन्होंने आर्थिक, सामाजिक कारण देकर कहा, "बिहार के लोग गरीब, बेआवाज और दलित हैं और जब तक नागरी या कैथी लिपि मे लिखित देश की भाषा कचहरियों में नहीं चलेगी, तब तक वे अमला जमीन्दार, मिल के मालिक और पुलिस के हाथों शोषित होते रहेंगे।"

स्वीकृत हुए थे। उन्होंने जिस प्रकार से बंगाल की साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाया, वह आज भी एक उदाहरण समझा जा सकता है। बंगाल में मुसलमान बहुसंख्यक सम्प्रदाय था, पर कई कारणों से वे शिक्षा और राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। यद्यपि उनकी संख्या आबादी के 50 प्रतिशत से अधिक थी, फिर भी उन्हें सरकारी नौकरियों का 30 प्रतिशत स्थान मिला हुआ था। सी० आर० दास बहुत भारी वस्तुवादी थे और उन्होंने फौरन यह देख लिया कि यह समस्या आर्थिक है। उन्होंने यह महसूस कर लिया कि जब तक मुसलमानों को अपने आर्थिक भविष्य के सम्बन्ध में जरूरी आश्वासन नहीं मिलता, तब तक वे पूरे हृदय से कांग्रेस में शरीक नहीं हो सकते। इसलिए उन्होंने एक घोषणा की, जिससे न केवल बंगाल पर बल्कि सारे भारत पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने यह कहा कि यदि कांग्रेस के हाथ में बंगाल की राज्यशक्ति आए, तो वह नई नियुक्तियों में से 60 प्रतिशत मुसलमानों के लिए तब तक सुरक्षित रखेगी जब तक कि उन्हें आबादी के अनुसार उचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हो जाता। वह कलकत्ता कारपोरेशन के सम्बन्ध में और भी आगे बढ़ गए और उन्होंने यह कहा कि इसी आधार पर नई नियुक्तियों में से 80 प्रतिशत मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखी जाएगी। उन्होंने यह बताया कि तब तक मुसलमानों को बंगाल में सच्चा लोकतन्त्र प्राप्त नहीं हो सकता। एक बार असमानताएं दूर हो जाएं, तो मुसलमान दूसरे सम्प्रदायों के साथ बराबरी के दर्जे पर प्रतियोगिता कर सकेंगे और तब किसी विशेष सुरक्षा की आवश्यकता नहीं होगी। इस महत्त्वपूर्ण घोषणा ने बंगाल कांग्रेस को जड़ से हिला दिया। बहुत-से कांग्रेसी नेताओं ने इसका जबर्दस्त विरोध किया और दास के विरुद्ध एक अभियान शुरू किया। उनपर मौकावादी यहां तक कि मुसलमानों के साथ पक्षपात करने का आरोप लगाया गया, पर वह अचल-अटल बने रहे। उन्होंने सारे प्रान्त का दौरा किया और अपना मत लोगों को समझाया। बंगाल तथा बाहर के मुसलमानों पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। मेरा विश्वास है कि यदि वे अकाल मृत्यु में न मर जाते, तो वे भारत में एक नया वातावरण प्रस्तुत कर जाते। यह बहुत ही दुःख की बात है कि उनके मरने के बाद उनके अनुयायियों में से कुछ लोगों ने उनकी इस स्थिति पर हमला किया और उनकी घोषणा को अस्वीकार कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि बंगाल के मुसलमान कांग्रेस से हटने लगे और देश के बंटवारे के पहले बीज बो दिए गए।"

यहां रुककर यह बता दिया जाए कि मौलाना का यह चिन्तन भी केवल मध्यम वर्ग तक सीमित है। आम हिन्दुओं और मुसलमानों पर न दास ने सोचा, न मौलाना ने।

दूसरी बात जो मौलाना ने सरदार पटेल के सम्बन्ध में लिखी है, वह यह है कि जब अन्तरिम सरकार बनी, तो मौलाना चाहते थे कि एक पारसी उसमें लिया

जाए ताकि जिन्ना की तरफ से यह जो कहा जा रहा था कि कांग्रेस हिन्दू संस्था है, उसका मुहतोड़ जवाब हो। सरदार पटेल पर यह भार सौंपा गया कि वे योग्य पारसी का नाम बताएं। इसपर उन्होंने एक श्री भाभा का नाम दिया और वे अन्तरिम सरकार में ले लिए गए। पर बाद को पता लगा कि वह कुछ भी नहीं है, न पारसियों के नेता है, न राजनीतिज्ञ है। मौलाना ने लिखा है कि वह इसलिए लिए गए थे कि वह सरदार पटेल के बेटे के मित्र थे।

तीसरा जबर्दस्त आरोप जो मौलाना ने सरदार पटेल के विरुद्ध किया था, वह यह कि देश-विभाजन के मामले में सबसे पहले माउण्टबेटन के विभाजन-सम्बन्धी प्रस्ताव के जो शिकार हुए, वह सरदार पटेल ही थे। शेषोक्त बात को आरोप माना जाए या गुण, यह तो बाद की घटनाओं को किस प्रकार व्याख्या की जाती है, इसपर निर्भर है। मौलाना की व्याख्या तो यह है कि विभाजन रोका जा सकता था और कुछ लोगों की गलतियों के कारण ही विभाजन हुआ। पर यह कथन पूर्ण रूप से मान्य ही किया जाए ऐसी कोई बात नहीं। सामाजिक शक्तिया व्यक्तियों की इच्छाओं के जरिये से प्रतिफलित होती हैं, पर एक-दो या दस-बीस व्यक्तियों की इच्छा सामाजिक शक्तियों को बदल सकती है, यह सिद्धांत बहुत लचर है। उदाहरणस्वरूप मौलाना ने नेताओं की इस सम्बन्ध में जो गलतिया गिनाई है, उनमें एक गलती श्री जवाहरलाल की गिनाई है, जिसमें यह कहा गया है कि उन्होंने एक प्रेस सम्मेलन में कोई वक्तव्य दे दिया, जिससे जिन्ना को फिर से सारे मामले को उठाने का मौका मिल गया और फिर से देश के विभाजन का नारा, जो इस बीच में दब गया था, उठाया गया।

यहा हम कोई अन्तिम फैसला बिना दिए ही यह कह सकते है कि यदि केवल बहाने की ही बात थी, तो जिन्ना को उक्त बहाना नहीं तो कोई और बहाना मिल जाता। जब अंग्रेजों के द्वारा भड़काई जाकर मुस्लिम लीग इसपर तुली हुई थी कि मुल्क को विभाजित करना है और जब अविभक्त भारत के मुसलमान चाहे बहकाए हों या चाहे जिस प्रकार हों इस नारे के पीछे चल रहे थे, तो फिर बहानों को कहा तक रोका जाता! कोई न कोई बहाना तो मिल ही जाता। यदि एक पुलिस कर्मचारी गौड के संस्मरण का विश्वास किया जाए, तो जिन्ना को उन दिनों बराबर ब्रिटिश गुप्तचरों के पत्र मिल रहे थे। विभाजन रोका जा सकता था, पर उसके लिए नये संग्राम की जरूरत थी। नेहरू ने एक अंग्रेज लेखक से यह स्वीकार कर कहा था कि हम बुड्ढे हो चुके थे, हमारे लोग आगे जेल जाने को तैयार नहीं थे। दूसरे शब्दों में, कांग्रेसी नेता अब मौज मारना चाह रहे थे। इसका पूरा ब्यौरा मैंने 'भगतसिंह और उनका युग' में दिया है।

व्यक्ति सामाजिक शक्तियों को आगे बढ़ा सकता है तथा पीछे हटा सकता है, पर एक हद तक ही। हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन के सम्बन्ध में इसी प्रकार कुछ

क्रान्तिकारी लेखक यह लिखते हैं कि प्रथम महायुद्ध के जमाने में फौजों को काफी हद तक मिला लिया गया था, क्रान्ति हो ही जाती, पर एक व्यक्ति ने सरकार को विद्रोह की तारीख बता दी, इससे सारा काम गड़बड़ा गया। यह बिलकुल गलत बात है या अधूरी बात है। असली बात तो यह है कि फौजें पूरी तरह तैयार नहीं थीं इत्यादि-इत्यादि। जनता तैयार होती और फौजें तैयार होतीं तो एक व्यक्ति कृपालसिंह की मुखबिरी से कुछ न होता।

एक आदमी ने सारा काम गड़बड़ा दिया, इस सिद्धान्त के विरुद्ध हमें एक बहुत मजेदार ऐतिहासिक तथ्य मालूम है, वह यह कि जब 1917 में रूस में क्रान्ति हुई, तो यह क्रान्ति बोलशेविक दल की केन्द्रीय समिति के नेतृत्व में हुई, या यों कहना चाहिए कि जब क्रान्ति हुई तो उक्त केन्द्रीय समिति उसका नेतृत्व अपने हाथों में उठा लेने के लिए तैयार थी और उसने नेतृत्व ग्रहण भी कर लिया। जब क्रान्ति के बाद पुलिस के सारे कागजात देखे गए, तो यह मालूम हुआ कि दल की सर्वोच्च समिति के अन्दर सदस्य के रूप में जारशाही का खुफिया मौजूद था। यानी उसके जरिये से जार की सरकार को सारी बातें मालूम होती थीं। फिर भी क्रान्ति कहां रुकी! जब सामाजिक शक्तियां तगड़ी होती हैं तो दो-चार-दस आदमियों की बेवकूफियां या गलतियां यहां तक कि विश्वासघात से कुछ नहीं आता-जाता। हां, प्रारम्भिक सोपान में ये बातें एक हद तक असर दिखा सकती हैं, पर वह इसलिए कि उस समय सामाजिक शक्तियां कमजोर होती हैं।

भारत का विभाजन

भारत का विभाजन होना अच्छा रहा या बुरा, इसपर भी सुझाव के रूप में दो बातें कही गईं थीं, "भारत के विभाजन के बाद से हम बहुत कुछ सीख चुके हैं और देख चुके हैं। आयरलैण्ड और जर्मनी के दो टुकड़े पहले ही से थे और वियतनाम के भी जब से दो टुकड़े हुए, साइप्रस के भी दो टुकड़े होते-होते बच गए। तो क्या इस हालत में हम केवल पुराने ढर्रे पर ही सोचते रहेंगे और भारत के विभाजन का दोष दो व्यक्तियों (गांधी-पटेल और जिन्ना) पर ही लादेंगे या कि सामाजिक शक्तियों पर? अब हम थोड़े में यह देख लें कि यदि देश का विभाजन न होता तो क्या होता। आज इसमें किसीको भी सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है कि हम सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं, स्वतन्त्र इस अर्थ में कि हमपर या हमारी सरकार पर किसी भी विदेशी सरकार का कोई निर्णयात्मक प्रभाव नहीं है, यानी हम जो भी फैसला करते हैं, वह गलत हो या सही, हमारा मन्त्रिमण्डल तथा हमारी संसद् उसे करती है। पर यदि मुस्लिम लीग और कांग्रेस की संयुक्त सरकार बनती, जैसा कि देश संयुक्त रहने की हालत में अवश्य होता, तो यह निश्चित है कि मुस्लिम लीग के अधिकांश नेता अंग्रेजों के पुराने नौकर या पिट्ठू होने के कारण

उनके जरिये भूतपूर्व शासकों का दबदबा हमपर बना रहता और हम कोई भी बात स्वतन्त्रता के साथ नही कर पाते। उस हालत मे हम भले ही संयुक्त होते, पर स्वतन्त्र कभी न होते। इसपर और ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं है। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि उस समय कांग्रेस अपनेको किसी सग्राम के लिए तैयार नही पा रही थी। मुस्लिम लीग के प्रचारकार्य और आम मुसलमानों के उसके बहकावे में आ जाने के कारण सग्राम कहां तक छिड़ सकता, यह भी सदिग्ध है। कही वह दगों मे तो परिणत न हो जाता?"

अब एक बात बाद के इतिहास को देखकर कही जा सकती है। वह यह कि जिन्ना तथा उस पीढ़ी के कट्टर मुसलमानो ने अंग्रेजो के साथ मिलकर या अंग्रेजों के भड़कावे में आकर पाकिस्तान तो बनवा लिया, पर उससे उन्होंने करोडों मुसलमानों को हमेशा के लिए दोजख मे डाल दिया। कथित इस्लामी व्यवस्था में आम मनुष्य को बराबर सब तरह के अधिकारो से वचित किया गया है। भारत ने बांगला देश के क्रान्तिकारियों की सहायता कर पाकिस्तान के पूर्वी उपनिवेश को स्वतन्त्र कर दिया था, पर मुजीब के नेतृत्व में यह स्वतन्त्रता केवल साढे तीन साल चली। अब हमारे दोनो तरफ अधिनायकवाद है। फिर भी भारत के कितने मुसलमान लेखक, नेता पाकिस्तान बनना गलत था, मुसलमानों का उस प्रक्रिया से बेडा गरक हुआ—यह मानते है? अनेक मुसलमान परिवारों को देखने पर पता चलता है कि वे दोनो दुनिया (पाकिस्तान और भारत) के मजे लूटते हैं। एक भाई यहा वाइसचँसेलर रहा, तो दूसरा कराची में। यह तो सब हुआ पर पाकिस्तान मे मुस्लिम जनता को वे अधिकार प्राप्त नही रहे, जो भारत के मुसलमानों को प्राप्त हैं।

पांचवां अध्याय

सेतुपुरुष श्यामजी कृष्ण वर्मा

सन् 1857 के 4 अक्तूबर के दिन भारत के पश्चिम में स्थित कच्छ रियासत के मान्दवी नामक गांव में उनका जन्म भांसाली परिवार में हुआ था। उस समय कौन जानता था कि वह आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के इतने बड़े विद्वान और क्रान्तिकारी होंगे। उनकी प्राथमिक शिक्षा गाव मे हुई। इसके बाद वह पढ़ने के लिए भुज के विद्यालय में भेजे गए। 1867 मे उनकी माता जी का देहान्त हुआ।

तब उनके पिता रोजी-रोटी की तलाश में बम्बई पहुंच गए, और वहां उन्होंने एक सौदागरी दफ्तर में नौकरी कर ली। उस समय यह प्रश्न उठा कि इस बच्चे का लालन-पालन कैसे हो। तब उनकी नानी सामने आई। पर श्याम जी के पिता को यह व्यवस्था पसन्द नहीं रही और वह चाहते रहे कि बम्बई में रखकर बच्चे को अच्छी तरह शिक्षा दी जाए। बात यह है कि उन दिनों साधारण प्रकार की शिक्षा तक की सुविधा भी राजधानी के अलावा कहीं नहीं थी। श्यामजी के पिता अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर सके, क्योंकि बम्बई में रहने का खर्च वह उठाने में असमर्थ थे और उनकी आय बहुत थोड़ी थी। बाद को श्यामजी की प्रतिभा का चमत्कार देखकर एक भाटिया व्यापारी को दया आ गई और उनकी मदद से श्यामजी अपने बेटे को बम्बई लाकर पढ़ाने में समर्थ हुए। वहां उन्हें विलसन हाईस्कूल में भर्ती कर दिया गया। इस प्रकार श्यामजी अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिक जगत् के दायरे में आ गए।

श्यामजी पढ़ने-लिखने में बहुत तेज निकले। उनकी प्रगति देखकर उनके शिक्षक बहुत खुश हुए। जिस धनी व्यक्ति मथुरादास ने उनकी सहायता दी थी, उन्होंने बीच में पड़कर पुरोहित वंश के विश्वनाथ शास्त्री को किसी तरह पटा लिया और यह कहा कि आप इस बच्चे को अपनी संस्कृत पाठशाला में ले लें। श्यामजी विलसन स्कूल में भी बहुत अच्छे छात्र रहे, साथ ही वह संस्कृत पाठशाला में भी पढ़ते रहे। इनका अंग्रेजी का ज्ञान अच्छा हो गया था, साथ ही वह अब संस्कृत भाषा में भी पारंगत हो गए। उन दिनों सारे यूरोप में संस्कृत भाषा के प्रति प्रेम बल्कि कौतूहल जागरित हो रहा था। अब तक लोग यह समझते थे कि भारत एक प्राच्य देश है, उसकी सभ्यता और संस्कृति के विषय में लोगों को बहुत कम मालूम था; पर जब पश्चिम के विद्वान संस्कृत भाषा के सम्पर्क में आए, तो उन्होंने देखा कि संस्कृत भाषा न केवल साहित्य और अन्य विषयों में ऐश्वर्यशाली है, बल्कि शायद संस्कृत भाषा ही वह भाषा है जिससे सारी भाषाएं निकली हैं। कहना न होगा कि इस कारण लोगों का ध्यान इस तरफ बहुत अधिक गया और पश्चिम के विद्वान इस सम्बन्ध में खोज करने लगे कि कौन-सा ऐसा भारतीय विद्वान है जो संस्कृत भाषा को अच्छी तरह समझता हो और साथ ही अंग्रेजी के जरिये से उसके सम्बन्ध में लोगों को ज्ञान दे सकता हो।

यद्यपि देखा जाए तो श्यामजी का हाईस्कूल में भर्ती होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, जितना महत्त्वपूर्ण कि संस्कृत पाठशाला में भर्ती होना रहा क्योंकि संस्कृत भाषा के ज्ञान की ही बदौलत वह पश्चिम के विद्वानों के सम्पर्क में आ गये, और उनको विदेशों में जाने का मौका मिला, जहां जाकर उनकी आंखें खुल गईं और यह समझ गए कि अत्यन्त प्राचीनकाल से सभ्य होने पर भी हमारी कद्र तभी हो सकती है अगर हमारा देश स्वतन्त्र हो जाए।

श्यामजी इतने अच्छे छात्र थे कि उनको जल्दी गोकलदास काहनदास छात्र-वृत्ति मिल गई, और अब उन्हें पहने का छोटा स्कूल छोड़कर एलफिन्स्टन हाई स्कूल मे भर्ती होने का मौका मिला। इस स्कूल में पढते समय भी उन्होंने अपनी धाक जमा ली और उनकी न केवल शिक्षकों, बल्कि बाहर के लोगों में भी ख्याति फैली। इस ख्याति की बदौलत उनका छबीलदास परिवार के साथ सम्पर्क हो गया। सेठ छबीलदास उन दिनो बम्बई के बड़े धनी सेठ समझे जाते थे। उनके पुत्र रामदास श्यामजी के सहपाठी थे। इस नाते सेठ जी के परिवार से श्यामजी का प्रेम हो गया और वह वहा आने-जाने लगे। जब सेठ जी के परिवार वालो को यह मालूम हुआ कि श्यामजी बहुत अच्छे छात्र और सच्चरित्र नौजवान है, तो उनका ध्यान इस तरफ गया कि क्यों न इन्हें अपना दामाद बना लिया जाए। इसलिए वे उनपर ज्यादा ध्यान देने लगे और 1875 में जब उनकी उम्र 18 साल की थी, तब उनकी शादी सेठ जी की 16 साल की बेटी भानुमती के साथ हो गई।

श्यामजी प्रारम्भ से ही प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने देखा कि संस्कृत पढने वाले लोग अक्सर कुसंस्कारों मे डूबे रहते है, और वह यह समझ गए कि उन लोगों की मनोवृत्ति के कारण ही देश आगे नहीं बढ पा रहा है। दूसरी प्रथाओं मे इस समय जो कुछ हो रहा था उसपर भी उनका ध्यान गया। उन दिनों यह तर्क बड़े जोरों के साथ चल रहा था कि हिन्दू विधवाओं को शादी करने का अधिकार प्राप्त हो या नही। यों तो मनुष्य के नाते उनका अधिकार था ही, पर प्रश्न यह था कि शास्त्रों की दृष्टि से हिन्दुओं की विधवाओं को फिर से शादी करने का अधिकार है या नही। श्यामजी ने देखा और इस सम्बन्ध में अध्ययन किया, तो उन्होंने अपनी प्रगतिशील मनोवृत्ति के कारण उन लोगो का साथ दिया जो विधवा-विवाह में विश्वास करते थे। उन्होंने शास्त्रों से प्रमाण निकालकर संस्कृत के पण्डितों को समझाना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि तर्क-वितर्क का एक बहुत बड़ा बवण्डर खड़ा हो गया। चारों तरफ उनकी ख्याति इस रूप में फैल गई कि कम उम्र होते हुए भी संस्कृत में लिखे हुए शास्त्रों पर अच्छा अधिकार है और साथ ही वह विधवा-विवाह के प्रचारक हैं। इसके अलावा श्यामजी की एक ख्याति और फैली वह यह कि वह धाराप्रवाह संस्कृत में भाषण दे सकते थे। इस प्रकार श्यामजी ने अपनी प्रतिभा के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि संस्कृत उनके लिए मृत भाषा नहीं है, बल्कि संस्कृत का उचित अभ्यास करने पर वह लोगों के लिए मातृभाषा भी बन सकती है।

उनकी यह ख्याति केवल भारत में ही व्याप्त नहीं रही बल्कि आक्सफोर्ड तक पहुंची। उन्हीं दिनों आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध संस्कृत मनीषी मोनियर विलियम्स भारत आए। वह इसीलिए आए थे कि संस्कृत के विद्वानों का परिचय प्राप्त किया

जाए। उन्होंने जब श्यामजी को धाराप्रवाह संस्कृत और अंग्रेजी में भाषण देते हुए सुना, तो यह निश्चय किया कि उन्हें आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अपने सहकारी के रूप में बुला लिया जाए। उन्हीं दिनों और भी बहुत-सी बातें हुईं जिनमें सबसे उल्लेखनीय घटना यह है कि 1875 के 10 अप्रैल को स्वामी दयानन्द से उनकी भेंट हुई। स्वामी दयानन्द उन सुधारकों में थे जो संस्कृत व्याकरण के लचीलेपन का फायदा उठाकर वेदों की नई व्याख्या करके भारत को सुधार के मार्ग पर ले जाना चाहते थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा को दयानन्द से बहुत प्रेरणा मिली, और उन्हें इस बात की खुशी हुई कि वह जिन विचारों का पोषण करते है, दयानन्द भी लगभग उन्हीं विचारो का पोषण करते है। बाद को उन्होने अवश्य यह महसूस किया कि केवल धार्मिक प्रवचन और धार्मिक संगठन से ही काम नही चलेगा, बल्कि और बातें करने की भी अपेक्षा है। पर यह बात बाद की बात है जिसे हम यथास्थान बताएंगे।

1876 में श्यामजी की आंखें एकाएक खराब हो गईं। नतीजा यह हुआ कि उन्हें एकदम पढना-लिखना बन्द कर देना पडा। पर खैरियत यह है कि जल्द ही उनकी आखे ठीक हो गई और वह फिर पढाई करने लगे। जिन दिनों उनकी आखें खराब थी, उन्हीं दिनों उन्होंने मैट्रीक्यूलेशन की परीक्षा दी। पर वह ठीक से परीक्षा दे नही पाए, जिसका उन्हें बडा गम रहा। स्वामी दयानन्द यह चाहते थे कि श्यामजी उनके साथ हो जाए, आर्यसमाज का प्रचार करें। पर श्यामजी और अध्ययन करना चाहते थे। इसलिए वह इसपर राजी नही हुए। सच्ची बात तो यह है कि वह आर्यसमाज से अवश्य प्रभावित हुए, पर वह आर्यसमाज का प्रचारक बनना नहीं चाहते थे। वह चाहते थे कि संस्कृत ज्ञान का प्रचार किया जाए, इस उद्देश्य से उन्होंने 1877 से लेकर 1878 तक, दो सालों तक, देश के विभिन्न स्थानों मे जाकर धर्म और संस्कृत भाषा के साहित्य पर व्याख्यान दिए।

मोनियर विलियम्स ने उन्हें जो आशा दी थी, वह व्यर्थ नहीं गई। 1879 के मार्च मे श्यामजी कृष्ण वर्मा एम० एम० इण्डिया से इंग्लैण्ड रवाना हो गए, और वहां जाकर उन्होंने अपनेको एक नये माहौल मे पाया। वह अप्रैल में आक्सफोर्ड पहुंच गए। वहा उन्होंने पहले टेस्ट परीक्षा दी। इसके बाद मोनियर विलियम्स ने उनको बेलियोल कालेज मे भर्ती करा दिया। श्यामजी ने देखा कि इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करते हुए वह बैरिस्टर भी बन सकते हैं। तदनुसार उन्होंने अपनेको इनर टेम्पल इन्स ऑफ़ कोर्ट मे भर्ती करा दिया। इधर तो शिक्षा का कार्यक्रम चलता रहा, उधर मोनियर विलियम्स ने उनकी सहायता से आक्सफोर्ड में भारतीय संस्थान और पुस्तकालय नाम से एक संस्था की स्थापना करने की सोची। इस सम्बन्ध मे विभिन्न लोगों की राय ली गई और यह तय हुआ कि प्रसिद्ध व्यक्तियों को सम्मानित सदस्य बनाया जाए। इन्हीं दिनों श्यामजी की

विद्वत्ता की ख्याति से कच्छ राज्य की ओर से उनको वार्षिक 100 पौण्ड की एक छात्रवृत्ति मिली। इस प्रकार उन्हें इंगलैण्ड मे रहने से किसी प्रकार की कोई असुविधा नही रही। वह अध्यापक विलियम्स से कुछ छात्रवृत्ति पाते थे। इसके अलावा वह अब कच्छ राज्य की ओर से भी छात्रवृत्ति पाने लगे। आक्सफोर्ड मे रहते समय उन्होने हर समय अपनी योग्यता बढाई। उन्होंने ब्रिटिश संग्रहालय में मौजूद संस्कृत ग्रन्थो को टटोलना शुरू किया और वह उनका पाठ प्रस्तुत करने लगे। साथ ही कुछ अग्रेज भी उनसे निजी तौर पर संस्कृत पढने लगे। इंगलैण्ड में उन दिनों सस्कृत-चर्चा के लिए एक छोटा-सा गुट पैदा हो चुका था, यद्यपि यह याद रहे कि इगलेण्ड का गुट यूरोप के इस प्रकार के गुटों मे सबमे छोटा था। वह इन गुटों मे बराबर संस्कृत भाषा और वेद तथा शास्त्रों पर व्याख्यान देते रहे। जिस अंग्रेज विद्वान को जो भी कठिनाई आती, वह आकर उनके सामने रख देता था और वह उन्हें सस्कृत शास्त्रों के सम्बन्ध में अच्छी तरह समझा देते थे।

श्यामजी 1883 मे आक्सफोर्ड के स्नातक हो गए। इस प्रकार अब उनके लिए यह सम्भव हुआ कि वह आक्सफोर्ड में ही अध्यापक लग जाएं। यो तो अपने ज्ञान के कारण वह पहले ही अध्यापक हो सकते थे, पर कुछ तकनीकी प्रतिबन्ध ऐसे थे जिनके कारण बिना स्नातक हुए वह अध्यापक नही हो सकते थे। स्मरण रहे कि इसके पहले ही उन्होंने 1881 में भारत सचिव की ओर से बर्लिन मे होने वाले प्राच्य सस्कृत के विद्वानों के सामने अपनी धाक जमाई और लोग उनके विषय मे और भी कौतूहल रखने लगे। जिस साल वह आक्सफोर्ड के स्नातक हुए, उसी साल वह हालैण्ड के लाइडेन मे होने वाले प्राच्य काग्रेस में भारत के प्रतिनिधि के रूप मे रहे। उन सारे अवसरो पर श्यामजी कृष्ण वर्मा को बहुत यश प्राप्त हुआ और यूरोप के सस्कृत के विद्वान उनकी तरफ पथ-प्रदर्शन के लिए देखने लगे।

प्रथम क्रान्तिकारी आक्सफोर्ड स्नातक

यह एक बहुत मजे की बात है कि श्यामजी आक्सफोर्ड के प्रथम भारतीय स्नातक थे। साथ ही वह आधुनिक भारत के प्रथम क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं। यह हम पहले ही बता चुके है। जब वह इस तरह से यश मे मण्डित हो गए, तो 1883 के अन्त मे वह भारत आए और भारत में केवल 31 महीने रहे। अब की बार वह अपनी पत्नी भानुमती को भी अपने साथ लेते गए। इसके बाद उन्होंने बैरिस्टरी की परीक्षा दी, जिसमें वह पास हो गए। फिर वह यह समझ गए कि भारत मे ही उन्हे कार्य करना चाहिए। वह भारत लौट आए और सन् 1885 के 19 जनवरी को वह बम्बई हाईकोर्ट में बैरिस्टर हो गए। उनकी ख्याति चारों तरफ फैल गई थी और लोगों ने यह जान लिया कि वह इगलैण्ड में बहुत दिनों रह चुके हैं, इसलिए वह अंग्रेजों को अच्छी तरह समझते है। इसलिए एक राजा ने उन्हे

अपना दीवान बना लिया। वहां वह 1888 तक टिके, पर तबियत खराब हो जाने के कारण वह वहां से चलकर बम्बई पहुंचे। कुछ दिनों तक वह अजमेर में भी बैरिस्टरी का कार्य करते रहे। यह एक मार्के की बात है कि यद्यपि श्यामजी कृष्ण वर्मा बहुमुखी विद्वान थे, पर वह व्यवसाय को भी अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने इस बीच जो धन कमाया था उसे उन्होंने बहुत-से कारोबार में लगा दिया और इस प्रकार उनकी धनराशि भी बढ़ती गई। कुछ दिनों के लिए वह यह सोचते रहे कि यों तो इस देश में कुछ करने का मौका नहीं है, यदि वह किसी बड़े देशी रियासत के दीवान बन जाए, तो वह बहुत कुछ कर सकते हैं और जनता की सेवा हो सकती है। इसी धारणावश उन्होंने 1892 के 21 दिसम्बर को उदयपुर रियासत के राज्य परिषद् का सदस्य होना स्वीकार कर लिया और 1893 तक उन्होंने अपना काम भी संभाल लिया। पर उन्हीं दिनों उन्हें यह पता लगा कि उन्हें जूनागढ़ की दीवानी मिल सकती है। इसलिए उदयपुर के महाराजा ने परिषद् की सदस्यता से मुक्ति दे दी। सन् 1895 को 6 फरवरी को श्यामजी ने जूनागढ़ में जाकर वहां की दीवानी का पद ग्रहण कर लिया। पर वहां जाते ही उन्होंने यह समझ लिया कि जूनागढ़ के नवाब प्रगतिशील विचार के विरुद्ध है और वह केवल उन्हें अपने स्वार्थ की दृष्टि से रखना चाहते हैं। उन्हें कई तरह के कड़वे अनुभव हुए और वह समझ गए कि मैं यहां पर रहकर भले ही धन कमा लूं, पर अपना कोई भी कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार निराश होकर 1897 के बीच में वह जूनागढ़ की दीवानी से अलग हो गए और उदयपुर लौटने के बजाय उन्होंने यह सोचा कि एक बार और इंग्लैण्ड की यात्रा करनी चाहिए। इसलिए वह तीन महीने के लिए ही वहां गए पर घटनाचक्र ऐसा हुआ कि बाद को उन्हें भारत हमेशा के लिए छोड़ देना पड़ा।

असल में बात यह है कि वह बम्बई में रहते समय ही क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करने लगे थे। वह इंग्लैण्ड में रहते समय इस बात को अच्छी तरह समझ गए थे कि हम प्राचीनकाल में चाहे जितने सभ्य और समृद्ध रहे हों, इस समय की पराधीनता के कारण विश्व में हमारी कोई इज्जत नहीं है।

ज्ञानोन्मेष

बाद को श्यामजी कृष्ण वर्मा ने संस्मरण लिखते हुए यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि "1897 में नाटू बन्धु गिरफ्तार हो गए, और तिलक पर जो मुकदमा चला, उससे मुझे यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश भारत में वैधानिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है और न यहां समाचारपत्रों को कोई स्वतन्त्रता प्राप्त है। ब्रिटिश न्याय भी एक धोखा है। इस कारण मैं अपना देश छोड़कर इंग्लैण्ड में आ गया। पर शीघ्र ही मैंने यह देखा कि इंग्लैण्ड में भी मेरे लिए शान्ति और प्यारे

से वचकर रहना सम्भव नही है, इसीलिए मैं इगलैण्ड छोडकर पेरिस में आकर रहने लगा।"

इस सस्मरण से पता लगता है कि इसमे कोई सन्देह नही कि यदि वह भारत मे रहते, तो वह गिरफ्तार कर लिए जाते और उनका अन्त किसी जेल मे या अण्डमान मे होता, या उन्हे इतनी लम्बी सजा होती कि लोग उन्हें भूल जाते। जैसा कि क्रान्तिकारी इतिहास मे बार-बार हुआ है, सैकडो राजनैतिक प्रतिभाए जेल मे सडकर नष्ट हो गई या फासी के फन्दो मे थोडी देर तक ज्योति फैलाकर लुप्त हो गई। इस दृष्टि से देखा जाए तो उनका इगलैण्ड मे चला जाना बहुत अच्छा हुआ।

वह लन्दन मे पहुंचकर इनर टेम्पल रेजिडेन्शियल चैम्बर मे रहने लगे। वहा उन्होंने अपने ढग से क्रान्तिकारी प्रचारकार्य शुरू किया। उस समय सबसे बड़ा प्रचार यही था कि भारत स्वतन्त्र होने का हकदार है और पादरियों ने जिस प्रकार से भारत को एक असभ्य और पिछडा हुआ देश करके चित्रित किया है, भारत उस प्रकार का देश नही है। भारत की सभ्यता बहुत पुरानी है और यद्यपि रूढियों के कारण भारत इस समय बहुत पिछड गया है, फिर भी भारत को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इस प्रकार का प्रचारकार्य नरम दल के नेता भी इगलैण्ड मे जाकर करते थे। पर श्यामजी और उन लोगों में फर्क यह था कि वह साथ ही साथ लदन मे गए हुए भारतीयों को सगठित भी करते जाते थे।

सरदारसिंह राणा

उनके साथ मिलकर जिन लोगों ने लन्दन मे काम किया, उनमें एक प्रसिद्ध व्यक्ति सरदारसिंह राणा हुए है। यह भी गुजरात के रहने वाले थे। यह डा० अविनाश भट्टाचार्य के अनुसार यूरोप मे रहने वाले भारत के दूसरे क्रान्तिकारी थे। डा० अविनाशचन्द्र भट्टाचार्य उनसे मिले थे, जबकि वह सौराष्ट्र के लिमडे राज्य में अपने बाप-दादा के घर मे रह रहे थे। उस समय उनकी उम्र 89 वर्ष की थी।

सरदारसिंह राणा श्यामजी के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। इसी प्रकार एक अन्य भारतीय वीरचन्द्र गाधी शिकागो की प्रसिद्ध धर्म ससद् से लौटते समय उनसे मिले थे। यहां यह बता दिया जाए कि श्यामजी कृष्ण वर्मा केवल राजनैतिक कार्य कर रहे थे, यह बात नही। वह यह चेष्टा कर रहे थे कि उस समय यूरोप में प्रचलित बौद्धिक धारा के साथ अपनेको संयुक्त रखें। उन दिनों हर्बर्ट स्पेन्सर की बड़ी धूम थी और दूसरे उदार मतवाले दार्शनिकों से भी श्यामजी कृष्ण वर्मा मिलते रहे थे। जब वीरचन्द्र गाधी श्यामजी से मिले, तो उस समय जे० एम० पारिख आदि कई भारतीय मित्र भी उनके साथ मिले थे। ऐसा लगता है कि ये लोग उन दिनों की कांग्रेस की नीति के विरुद्ध थे। इनके बजाय ये लोग इगलैण्ड के

समाजवादी, आयरलैंड के लोकतान्त्रिक तथा दूसरे ऐसे लोगों से मिलते थे जो अपने देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन चला रहे थे।

वे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के साथ भी अपनेको पूरी तरह सम्बद्ध रखते थे। 1899 के लगभग दक्षिण अफ्रीका के ट्रांसवाल के जोहन्सबर्ग के पास जब एक सोने की खान का पता लगा, तब ब्रिटेन के व्यापारियों में इस बात की भगदड़ मच गई कि किसी तरह वहां पहुंचा जाए और वहां सोने की खान पर कब्जा किया जाए। ट्रांसवाल एक स्वतन्त्र राष्ट्र था, पर व्यापारियों के भड़काने पर इंगलैंड की सरकार उस राष्ट्र पर इतना दबाव डालने लगी कि अन्त तक युद्ध की परिस्थिति आ गई और वहां के राष्ट्रपति सेनापति क्रूगर ने अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई करने की घोषणा की।

गांधी से भिड़न्त

बोअर युद्ध भयंकर रूप से चला। पहले बोअरों की जीत होती रही, जिससे सारी दुनिया को आश्चर्य हुआ। आयरलैंड के लोग भी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे थे। उनमें से कई लोग बोअरों की तरफ हो गए व अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने लगे। दूसरे देश भी इंग्लैण्ड के विरुद्ध हो गए। यह न समझा जाए कि ये देश कोई दूध के धुले हुए थे, बल्कि ये अंग्रेजों से जलते थे। इस सम्बन्ध में सबसे मजेदारी की बात यह है कि इस समय भारतीयों में से कुछ लोगों ने दूसरा दृष्टिकोण अपनाया और इसके फलस्वरूप श्यामजी कृष्ण वर्मा और मि० मोहनदास कर्मचन्द गांधी यानी महात्मा गांधी में भिड़न्त हो गई। हम इस प्रकरण को डा० भट्टाचार्य के शब्दों में पेश करते हैं

"इन्हीं दिनों नाटाल में रहकर गांधी जी बैरिस्टरी कर रहे थे और उन्हें यथेष्ट सम्मान भी प्राप्त हुआ था। उन्होंने एक स्वयंसेवक सेना का संगठन किया और अंग्रेजों की इज्जत बचाने के लिए यात्रा करने के बाद युद्ध में भाग लिया। इससे बोअर सेनापति जनरल बोथा और दूसरे बोअर सेनापति बहुत ही व्यथित हुए। जब श्यामजी को यह खबर मिली, तो वह लगभग पागल हो गए। उनका यह कहना था कि जिस जाति ने अन्यायपूर्वक भारतवर्ष पर अधिकार कर रखा है और अविवेकी शासन और निर्लज्ज शोषण के द्वारा भारत को गरीब बना दिया है और दास के मार्ग पर ले जाकर खड़ा कर दिया है, उसका समर्थन दयनीय है। एक छोटी-सी जाति को पैरों तले रौंदने के लिए ब्रिटेन कटिबद्ध है। उस समय उसकी सहायता के लिए गांधी जी ने जो काम शुरू किया है, वह बिल्कुल नाजायज और मानवता-भंग है और न्यायविरुद्ध है। इसे श्यामजी ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया। इस प्रकार श्यामजी उग्र से उग्र राष्ट्रवादी विचारों की ओर जाने लगे।"

अमरीका के आयरिश प्रजातन्त्रीय मुखपत्र गेलिक अमरीकन पत्र ने यह

लिखा, "नाटाल के भारतीयों का आचरण इतना निन्दनीय है कि उसका भाषा मे वर्णन सम्भव नही है। उन्होने अपने ऊपर अत्याचार करने वाली ब्रिटिश सरकार की जिस तरह से सहायता की है, उससे भारतीयों की बेइज्जती हुई है।"

अन्तर्राष्ट्रीय सही चिन्तन

इस प्रकार श्यामजी का महत्त्व केवल यूरोप मे जाकर प्रचार करने वाले प्रमुख क्रान्तिकारी के रूप में नही है, बल्कि उनके सम्बन्ध में यह बात भी कही जानी चाहिए कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी सही विचार रखते थे और इस सम्बन्ध में उनकी गांधी जी के साथ टक्कर हुई थी। अजीब बात यह है कि गांधी जी की जीवनी लिखते समय श्यामजी कृष्ण वर्मा के इस महत्त्वपूर्ण विरोध का किसी भी पुस्तक मे उल्लेख तक नही किया जाता, पर इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार शुरू से ही गांधी जी और क्रान्तिकारियो में विरोध का सम्बन्ध चल रहा था। शायद यही कारण है कि बाद को गांधी जी मुह से क्रान्तिकारियों के त्याग और तपस्या की तो बराबर प्रशसा करते रहे, पर जहां भी उनसे बन पड़ता था, वह उन्हें हर तरीके से व्यावहारिक हानि पहुचाने से नही चूकते थे।

उन दिनों, जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हर्बर्ट स्पेन्सर की बड़ी धूम थी। सन् 1907 के 14 दिसम्बर को गोल्डर्स ग्रीन समाधि क्षेत्र मे जब इस महान दार्शनिक को दफनाया गया, तो श्यामजी कृष्ण वर्मा उस अवसर पर उपस्थित थे, और उन्होंने उस अवसर पर एक भाषण देते हुए यह घोषणा की कि वह स्पेन्सर लेक्चरशिप के लिए एक हजार पौण्ड देना चाहते है। स्पेन्सर हर विषय में प्रयोग और प्रत्यक्ष पर जोर देते थे और वह अटकलपच्चू वाले भटकाव-भरे दर्शनशास्त्र के विरुद्ध थे। श्यामजी ने अपने ढग मे यह कोशिश की कि स्पेन्सर के विचारों का भगवद्‌गीता और हिन्दू शास्त्रों के साथ समन्वय किया जाए और उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए।

जब सन् 1904 की कांग्रेस के लिए लन्दन से सर विलियम वेडरबर्न भारत आने लगे तो श्यामजी ने उनको यह कार्य सौंपा कि वह कांग्रेस मे उनकी एक सूचना पढ़कर सुना दें। इस सूचना के अनुसार 6 फेलोशिपों की घोषणा की गई थी। ये फेलोशिप इस प्रकार थे कि 1905, 1906 और 1907 में 2,000 रुपये के हिसाब से तीन फेलोशिप दिए गए थे जिनका नामकरण हर्बर्ट स्पेन्सर पर हुआ था। इन 6 फेलोशिपों के अलावा वह दयानन्द सरस्वती के नाम पर भी एक फेलोशिप की घोषणा करना चाहते थे। विचार यह था कि इन फेलोशिपों से जो अच्छे छात्र भारत से आएंगे वे देश की सेवा करेंगे। इन फेलोशिपो की एक शर्त यह थी कि जो लोग इनको ग्रहण करेंगे, वे इंगलैण्ड आएंगे और उन्हें यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वे कोई सरकारी नौकरी नहीं स्वीकार करेंगे। उन्होंने इस सम्बन्ध

में जो सूचना प्रस्तुत की थी, उसमें यह लिखा था कि हर भारतीय का यह लक्ष्य होना चाहिए कि स्पेन्सर की इस वृत्ति की रक्षा की जाए। स्मरण रहे कि सर विलियम वेडरबर्न उन लोगों में थे, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना की थी। वह कांग्रेस के अध्यक्ष भी रह चुके थे, उन्होंने श्यामजी कृष्ण वर्मा की यह सूचना कांग्रेस में पढ़कर नहीं सुनाई। खैरियत यह है कि जब वह लौटकर लन्दन गए, तो उन्होंने श्यामजी को एक पत्र के द्वारा बताया कि, 'मैंने आपकी सूचना कांग्रेस के अधिवेशन में पढ़कर नहीं सुनाई'। यही नहीं, वेडरबर्न ने यह भी लिखा कि इस प्रकार की सूचना को कांग्रेस के अन्दर पढ़ना अशोभन होता। श्यामजी पहले से यह समझते थे कि वेडरबर्न शायद यह काम न करें, इसलिए उन्होंने सूचना की प्रतियां भारतीय समाचारपत्रों को तथा शिक्षा संस्थाओं में भेज दी थीं।

इन्हीं दिनों बंगभंग का आन्दोलन शुरू हुआ और देश में स्वतन्त्रता आंदोलन जोर पकड़ने लगा। अब यह आन्दोलन कांग्रेस संस्था के बनावटी और संकुचित मध्यमवर्गीय वातावरण में नहीं रह सका, वह जन आन्दोलन के रूप में प्रकट होने लगा। इस आंदोलन को बल पहुंचाने के लिए 1905 की जनवरी से श्यामजी ने अपना अंग्रेजी मासिक पत्र 'इण्डियन सोशियालिस्ट' (समाजशास्त्री) का प्रकाशन शुरू कर दिया। इस पत्रिका का क्या मतवाद था, इस सम्बन्ध में हम पहले ही थोड़ा-सा बता चुके हैं। पर यहां यह बता देना आवश्यक है कि पत्रिका पर यह लिखा रहता था कि यह स्वतन्त्रता और राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सुधार का मुखपत्र है। इस पत्रिका की काफी धूम मच गई और लोगों में इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। अगले ही महीने श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लन्दन के हाईगेट इलाके में खरीदे हुए एक भवन में इण्डियन होम रूल सोसायटी नाम से एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के उद्देश्य इस प्रकार थे :

(1) भारत में होमरूल की स्थापना।

(2) इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए इंग्लैण्ड में सब तरह के व्यावहारिक कार्य करना।

(3) भारत की जनता में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में ज्ञान का प्रचार करना।

इस संस्था के अध्यक्ष स्वयं श्यामजी हुए और इसके उपाध्यक्षों में सरदारसिंह राणा, जे० एम० पारिख, अब्दुल्ला सुहरावर्दी और गोडरेज हुए। जे० सी० मुखर्जी इसके मंत्री नियुक्त हुए। इन सबकी ओर से यह कहा गया कि हमारा उद्देश्य भारतीयों के लिए, भारतीयों के द्वारा, भारतीयों की सरकार की स्थापना है। कहना न होगा कि यह उद्देश्य 1905 के समय को देखते हुए बहुत क्रांतिकारी उद्देश्य था, क्योंकि उन दिनों भारत के सभी नेता जो बाद को चलकर प्रसिद्ध हुए, गुलामी और सहयोग की अन्धी कन्दराओं में भटक रहे थे।

यह भी घोषणा की गई कि जल्दी ही एक ऐसे भवन की स्थापना होगी, जिसमें भारत से फेलोशिप लेकर आए हुए लोगों तथा छात्रों के खेलकूद, खाने-पीने, मनोरंजन आदि के लिए एक बोर्डिंग हाउस की स्थापना होगी। श्यामजी केवल घोषणा करके चुप रहनेवाले नहीं थे, पहली जुलाई को ब्रिटिश समाजवादी दल के नेता मि० हिंडमैन के करकमलों से इण्डिया हाउस की स्थापना की गई। इस अवसर पर बहुत-से आयरिश स्वतन्त्रता योद्धा तथा कुछ उदार अंग्रेज भी आए थे। भारतीयों में दादाभाई नौरोजी, लाला लाजपतराय, मादाम कामा, लाला हंसराज, दोस्त मोहम्मद और भारतीय छात्र थे।

इन दिनों भारत में इस बात पर झगड़ा चल रहा था कि कांग्रेस के 1905 ई० के अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करे। दोनों व्यक्तियों में विशेषकर प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। एक तरफ थे नर्म दल के गोखले, जिन्हें गांधी जी ने बाद को अपना गुरु माना और दूसरी ओर थे लोकमान्य तिलक, जिनका कुछ इतिहास पहले आ चुका है। भला इतने बड़े विषय पर श्यामजी कृष्ण वर्मा चुप कैसे रह सकते थे! उन्होंने अपने पत्र में गोखले और तिलक की तुलना करते हुए एक लेख लिखा, जिसका ब्यौरा हम अविनाश बाबू के वर्णन से उद्धृत करते हैं :

(1) जब 1897 में ताऊन के बहाने से भारतीयों पर अत्याचार हो रहे थे, तो गोखले ने भी लिखा और तिलक ने भी लिखा। पर गोखले माफी मांग कर अलग हो गए, लेकिन तिलक माफी न मांग कर 18 महीने की सजा काटते रहे।

(2) गोखले कुछ ही दिन बाद सरकारी राय से बम्बई विधायक परिषद् के सदस्य हुए। उन्हें हर अधिवेशन में 1000 रुपये मिलते थे, पर तिलक इस परिषद् के पहले से सदस्य थे, फिर भी उनपर मुकदमा चलने के कारण वह परिषद् की सदस्यता के अयोग्य घोषित कर दिए गए।

(3) गोखले वायसराय की परिषद् के सदस्य नियुक्त हुए और हर अधिवेशन में 5,000 रुपये पाने के अधिकारी हुए। पर तिलक को ब्रिटिश सरकार ने मुकदमे में फंसाकर आर्थिक रूप से बहुत भारी हानि पहुंचाई।

(4) सरकार ने गोखले को सी० आई० ए० की उपाधि दी, पर तिलक को फिर सजा हुई। बाद को यह सजा घटाकर 6 महीने की सजा और 1,000 रुपये जुर्माना बन गया।

(5) गोखले को तो भत्ता मिलता रहा, पर तिलक ने जब यह प्रमाणित कर दिया कि उनपर जो मुकदमा चलाकर सजा दी गई थी, वह सही नहीं थी, फिर भी उन्हें किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति नहीं की गई।

अन्त में श्यामजी ने लिखा था, "देखिए कि किस तरह एक पेशेवर राजनैतिक तरक्की करता है और फिर न झुकनेवाला देशभक्त मुसीबतों में जकड़ा जाता है।" जब बंगाल में स्वाधीनता आन्दोलन के सम्बन्ध में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

गिरफ्तार हुए, तो श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उसके विरुद्ध 1906 की 4 मई को इण्डिया हाउस में एक सभा की और उसका खुलकर विरोध किया। इस सभा में विट्ठल भाई पटेल, भाई परमानन्द तथा दूसरे भारतीय मौजूद थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने इस विषय पर लोगों में चर्चा चलाने के लिए कि भारत स्वतंत्र हो, तो वहां कैसी शासन-पद्धति हो, एक निबन्ध प्रतियोगिता कराई। यह सन् 1907 की बात है और इसके लिए उन्होंने 1,000 रुपये पुरस्कार की घोषणा की। सिर्फ 8-10 निबन्ध आए। उनमें एक निबन्ध मुस्लिम नेता सर आगाखां का था, जिसमें उन्होंने यह कहा था कि भारत में साम्प्रदायिक मतभेद बहुत प्रबल है, इसलिए भारत स्वतन्त्रता पाने के उपयुक्त नहीं है। पहले हम भारत के मध्यमवर्गीय मुसलमानों पर जो कुछ लिख चुके हैं, उसकी रोशनी में युवक आगाखां का यह स्वतन्त्रता-विरोधी चिन्तन अच्छी तरह समझ में आता है। दूसरा निबन्ध सत्यमूर्ति ने लिखा था, तीसरा निबन्ध 'ढाका प्रकाश' पत्र के सम्पादक मुकुन्दीलाल चक्रवर्ती का था। एक निबंध कलकत्ता के अध्यापक विजयचन्द्र मजूमदार का था। विचारकों ने आगाखां के निबन्ध पर कोई राय नहीं दी। बाकी तीन निबन्धों की प्रशंसा की गई। विचारकों में थे स्वयं श्यामजी कृष्ण वर्मा, सरदारसिंह राणा, सरोजिनी नायडू के भाई वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, गोडरेज और 8 अन्य व्यक्ति। कम निबन्ध आए थे इसलिए पुरस्कार देना स्थगित किया गया।

1907 में 1857 की हीरक जयन्ती मनाने का निश्चय हुआ, जिसमें 'दिल्ली के कश्मीरी गेट पर आक्रमण' नामक एक नाटक दिखाया जाने वाला था और उसमें देशभक्त नाना साहब, बहादुरशाह आदि को व्यंग्यात्मक ढंग से पेश किया जाने वाला था। जब यह खबर लन्दन में पहुंची, तो श्यामजी बहुत नाराज हुए और सावरकर की सहायता से इण्डिया हाउस में 1857 का उत्सव मनाने का निश्चय किया गया। सावरकर इसके पहले से ही 1857 के सम्बन्ध में शोध कर रहे थे और उन्होंने एक ग्रन्थ भी प्रस्तुत किया था जो इस सम्बन्ध में एक अप्रतिम कृति है, जिसमें केवल जोश के द्वारा नहीं, बल्कि ठोस प्रमाणों से सिद्ध किया गया कि 1857 का विद्रोह हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम का पहला वीरतापूर्ण विस्फोट था।

इन्हीं दिनों लन्दन में यह खबर आई कि लाला लाजपतराय तथा अजीतसिंह को देशनिकाला दिया गया है। इससे श्यामजी बहुत उत्तेजित हुए क्योंकि लाला लाजपतराय से उनकी बड़ी गहरी मित्रता थी और उनपर उन्हें बहुत विश्वास था। उसी समय लन्दन में एक सभा हुई, जिसमें मादाम भीकाजी कामा, राना, गोडरेज आदि मौजूद थे। मादाम कामा ने इस अवसर के लिए एक छोटा-सा वक्तव्य प्रस्तुत किया था, जो वहां पढ़ा गया। यह वक्तव्य बाद को श्यामजी के द्वारा उनके पत्र में प्रकाशित किया गया।

इस तरह कई कारण ऐसे हुए जिनसे ब्रिटिश पत्र जगत् की श्यामजी के

सम्बन्ध मे सन्देह उत्पन्न हुआ और उनके विरुद्ध बहुत-से मन्तव्य प्रकाशित होने लगे। तभी श्यामजी ने यह नतीजा निकाला कि अब लन्दन में रहना भी उचित नही है, क्योंकि यहा का वातावरण भी काफी गर्म हो चुका है। इसलिए वह लन्दन छोड़ गए।

वह लन्दन से पेरिस मे गए और वहा उनके जाते ही एक क्रान्तिकारी चक्र बन गया। वहा से भारत के साथ सूचनाओं का आदान-प्रदान होने लगा और क्रान्तिकारी सन्देश भेजे जाने लगे। श्यामजी बहुत ध्यान के साथ कांग्रेस मे होने वाली घटनाओ को देखते रहे। उन्हे आशा थी कि सूरत कांग्रेस के टूट जाने से कुछ लाभ होगा, पर कोई विशेष लाभ नही दिखाई पडा। असली बात तो यह है कि कांग्रेस के लोग क्रातिकारी तरीकों को अपनाने के लिए तैयार नही हो सकते थे।

कुछ ऐसी घटनाए घटित हो रही थी जिनका कुछ पता पत्रों मे नहीं आ रहा था। बगभग के कारण बगाल मे पहले सार्वजनिक आदोलन अहिंसात्मक ढग से चला। उसके बाद जब उसे रोका गया तो, हम दिखा चुके, उसने गुप्त दल का ढग अपनाया। इन्ही दिनों विहार के मुजफ्फरपुर में खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने एक कुप्रसिद्ध जज किंग्स फोर्ड को मारने की चेष्टा की, पर वह गलत लोगों को मार पाए। कुछ भी हो, श्यामजी इससे बहुत उत्तेजित हुए और उन्होंने अपने पत्र मे आतंकवाद के सम्बन्ध मे कई वक्तव्य प्रकाशित किए। लीराय स्काट नामक एक अमरीकी पत्रकार ने आतकवाद की मनोवृत्ति के सम्वन्ध मे एक निबध प्रकाशित किया था। उसी को श्यामजी ने अपने पत्र मे प्रकाशित किया। यह आतकवादी रूसी था और वह एक युवक रासायनिक था। उस युवक ने यह कहा था, "मैं क्यो आतंकवादी हूं और मैं क्यो आतंकवाद को उचित समझता हूं इसे आपके लिए समझ पाना कठिन है। आपके देश में आतंकवाद के लिए कोई उचित कारण नही है। पर हमारे देश में यही एकमात्र तरीका है। तथा जो जानते हैं कि कितने सालों मे, कितने पुरखों से हम अपनी सरकार से कुछ स्वतत्रता की मांग कर रहे हैं, पर सरकार ने हमें स्वतंत्रता नही दी। जार ने जो सुझाव प्रस्तुत किया है वह महज एक कागज का टुकड़ा है। उसमें दूमा या परिषद् की व्यवस्था की है, पर जार इसका पालन नही करते। हम राजनैतिक रूप से बहुत कष्ट भोग रहे हैं। आप जानते हैं कि खुलकर क्रान्तिकारी कार्य करना कितना भयंकर है। कैसे-कैसे गुप्तचर हैं, किस तरह से हमारे नेताओं को फांसी पर चढ़ाया जाता है, कैसे उन्हे देस निकाला दिया जाता है, कैसे घर-घर अस्त्र-शस्त्र के लिए तलाशी होती है! इसीलिए हम आतंकवाद की ओर बढ़े हैं। सरकार ने ही इसके लिए परिस्थिति का सृजन किया है और हमें आतंकवादी बनने के लिए मजबूर किया है। हम लोग लड़ाई करना नहीं चाहते और हत्या करने से हमारा दिल कांपता है, पर आप यह मानेंगे कि स्वतत्रता के लिए खुले युद्ध में हत्या उचित मानी गई है। अब हमारी

हानन को सोचिए, हम खुला युद्ध नहीं कर सकते।"

डा० अविनाश भट्टाचार्य ने पूरा लेख उद्धृत किया है, पर हमने उसके कुछ अंश ही यहां पर दिए हैं। इसी प्रकार से श्यामजी ने अन्य लेखों के द्वारा क्रान्ति के तरीकों को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने एक लेख में यह लिखा, "क्या यह सच बात नहीं है कि इटली के महान चिन्तक मेजिनी ने बन्धुओं को बमों के साथ इटली वालों की वीरता और साहस के कार्य के लिए भेजा?" मुजफ्फरपुर हत्याकांड के बाद कई महीने तक श्यामजी इस प्रकार के निबन्ध लिखकर क्रान्तिकारी आंदोलन को नैतिक बल पहुंचाते रहे। 1908 के सितम्बर अंक में 'इण्डियन सोशियोलाजिस्ट' पत्र में एक लेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था—'डाइनामाइट का नीतिशास्त्र और भारत में ब्रिटिश तानाशाह'। इस निबंध में श्यामजी ने कहा था, "यदि ब्रिटिश शासक और उनके बूढ़े सैनिक भारतीय स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय सम्मान का जबरदस्ती हरण करके करोड़ों लोगों को 150 सालों में मृत्यु के द्वार पर पहुंचाते रहे हैं, तो क्या देश के लोग नीतिशास्त्र के अनुसार आत्मरक्षा के लिए, शत्रु के आक्रमण को रोकने के लिए कोई रास्ता अख्तियार नहीं करेंगे? क्या यह उनका एकमात्र कर्तव्य नहीं है?"

इस प्रकार से उन्होंने आयरलैंड तथा रूसी क्रान्तिकारियों का उदाहरण दे-देकर बहुत-से वक्तव्य तथा लेख प्रकाशित कराए। 1909 में श्यामजी ने खुदीराम बोस, प्रफुल्ल चाकी, कन्हाईलाल दत्त और सत्येन्द्रनाथ बसु, इन चार क्रान्तिकारी शहीदों के स्मारकों के रूप में चार छात्रवृत्तियों की घोषणा की। कहना न होगा कि इससे ब्रिटिश पत्र जगत् में बहुत शोर मचा और सभी पत्रों ने यह लिखा कि श्यामजी को इसलिए सजा मिलनी चाहिए। पर श्यामजी ब्रिटिश सरकार के हाथ में नहीं थे, इसलिए उनकी सारी उछल-कूद व्यर्थ गई।

1909 की पहली जुलाई को पंजाब से आए हुए छात्र मदनलाल धींगरा ने भारत सचिव के ए० डी० सी० को गोली मार दी। अगले ही दिन 'डेली मेल' पत्र के प्रतिनिधि श्यामजी के साथ मिले। श्यामजी को इस हत्याकांड के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं था और वह इस भेंट के लिए तैयार भी नहीं थे। 'डेली मेल' ने यह प्रकाशित किया कि श्यामजी ने इस हत्याकाण्ड का विरोध किया था, पर बाद को पता चला कि 'डेली मेल' ने उनके बयान को उचित रूप में प्रकाशित नहीं किया। कुछ भी हो, इस बयान से लन्दन में रहने वाले कुछ क्रान्तिकारियों में श्याम जी के प्रति कुछ अश्रद्धा उत्पन्न हुई। पर जल्दी ही श्यामजी ने 'डेली मेल' की इस चाल को अत्यन्त खूबी के साथ परास्त कर दिया। उन्होंने बाद में यह सिद्ध कर दिया कि इस हत्याकांड से साथ यद्यपि मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी मदनलाल धींगड़ा ने जो बयान दिया है वह देशभक्तिमूलक है और इससे स्पष्ट होता है कि उनमें बहुत साहस है। मैं उनके कार्य का समर्थन करता हूं और उन्हें मैं भारत

के लिए त्याग करने वाले शहीदों में मानता हूं। धींगड़ा ने अपनेको विपत्ति में डालकर जिस प्रकार से कार्य किया है उसके लिए मैं चार छात्रवृत्ति घोषित करता हूं। ये चारों छात्रवृत्तियां भी उसी प्रकार होंगी जैसे खुदीराम, प्रफुल्ल चाकी, कन्हाईलाल और सत्येन्द्र की स्मृति में घोषित हुई थीं।

इन्हीं दिनों श्यामजी ने लाला हरदयाल को पेरिस में रखकर 'वन्दे मातरम्' नामक एक पत्र का प्रकाशन भी शुरू किया और उन्होंने दो और छात्रवृत्तियां भी घोषित कीं। एक गणेश सावरकर के नाम और दूसरी अलीपुर षड्यन्त्र के हेमचन्द्र दास के नाम, जिन्होंने पेरिस में रहकर बम बनाना सीखा था और षड्यन्त्र में सजा पाकर अण्डमान पहुंच गए थे। श्यामजी पेरिस के समाजवादी नेताओं के साथ मिलकर सावरकर के सम्बन्ध में भी आंदोलन करते रहे। इस बीच सावरकर गिरफ्तार हुए थे और वह मार्सेल बन्दरगाह में जहाज से भाग गए थे। फिर उन्हें पकड़कर ब्रिटिश पुलिस के हाथ सौंपा गया। इसीपर श्यामजी ने आन्दोलन चलाया था कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अपमान है। श्यामजी और उनके समाजवादी साथियों के कारण ही सावरकर का मामला हेग की अन्तर्राष्ट्रीय अदालत में गया। वहां यह मामला ब्रिटिश प्रभाव के कारण न्याय नहीं प्राप्त कर सका।

इसके बाद श्यामजी कुछ हद तक अलग-थलग हो गए और महज पत्रिका प्रकाशित करते रहे।

श्यामजी के बारे में कुछ लोगों में असन्तोष था, पर यह असन्तोष कहां तक सही था, इस सम्बन्ध में सन्देह है। असल में श्यामजी यूरोप में मौजूद कुछ हद तक क्रान्तिकारियों के साथ मेल-जोल से काम नहीं कर पाए और यह क्रान्तिकारी इसलिए नाराज थे कि श्यामजी जितना कर सकते हैं उतना नहीं कर रहे हैं। 1914 के अप्रैल में इंगलैंड के राजा पंचम जार्ज पेरिस में गए। इसपर फ्रांस में बड़ी खुशियां मनाई गईं। यहां तक कि पत्रों ने विशेषांक निकाले। स्वाभाविक रूप से भारतीय क्रान्तिकारियों को यह बात कुछ खतरनाक मालूम हुई और श्यामजी कृष्ण वर्मा 23 अप्रैल को पेरिस छोड़ जेनेवा चले आए। बात यह है कि पेरिस का वातावरण उनके लिए अनुकूल नहीं रह गया था। उन्हें जेनेवा में रहने की अनुमति मिल गई और वह पहली अगस्त से एक फ्लैट में रहने लगे। इसी फ्लैट में अपनी मृत्यु तक बराबर बने रहे।

1914 की मई-जून संख्या के बाद 'इंडियन सोशियोलाजिस्ट' का प्रकाशन बन्द हो गया था। इसी बीच लड़ाई भी छिड़ चुकी थी। इसलिए स्विस सरकार ने श्यामजी को चेतावनी दी थी कि यदि आप यहां बैठकर राजनैतिक कार्य करेंगे तो हम इसके विरुद्ध कोई कदम उठाने के लिए मजबूर होंगे। उस समय 'इंडियन सोशियोलाजिस्ट' बन्द हो गया। फिर यह पत्र 6 साल के बाद ही दुबारा प्रकाशित

हो सका। पर चारों तरफ से इतनी विपत्ति आई कि उस पत्र को ज्यादा चलाना सम्भव नहीं हुआ। श्यामजी ने लिखना करीब-करीब बन्द कर दिया। 1922 के सितम्बर में इसकी अंतिम प्रति प्रकाशित हुई जिसमें 'अंग्रेजों के लिए प्रार्थना' नाम से एक व्यंग्यात्मक लेख छापा गया था। इस लेख में अंग्रेजों के चरित्र के अन्धकारपूर्ण पहलू पर रोशनी डाली गई थी।

श्यामजी अब वृद्ध और दुर्बल हो चुके थे। वह चुपचाप अपने स्थान पर रहते थे। 1930 में वह जेनेवा के एक प्रसिद्ध अस्पताल में भेजे गए थे। 1930 के 30 मार्च को रात्रि साढ़े 11 बजे 73 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। डा० अविनाश भट्टाचार्य ने लिखा है कि उनकी लाश तीसरे दिन जलाई गई और यहां सेंट जार्ज के कल्पवरियम में 1540 नम्बर बक्स में भस्म सुरक्षित है जहां यह 2038 साल तक रहेगी। उनकी मृत्यु का समाचार स्विट्जरलैंड के कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था, जिसमें यह लिखा था कि थोड़े दिनों की बीमारी के बाद ही उनका देहान्त हुआ। उनकी पत्नी 1933 की 23 अगस्त को मरीं।

श्यामजी कृष्ण वर्मा छात्रवृत्तियां देने के अतिरिक्त बहुत दान देते थे। उन्होंने पेरिस विश्वविद्यालय को भी दान दिया। कुछ लोगों का कहना है कि श्यामजी कृष्ण वर्मा के पास इतना धन कहां से आया, इसका कुछ पता नहीं लगता। कहते हैं कि बड़ौदा के गायकवाड़ ने उनको काफी धन दिया था। अवश्य यह धन क्रान्तिकारी आंदोलन के लिए नहीं दिया गया था, बल्कि इसलिए दिया गया था कि यह उनके पक्ष का समर्थन करें। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि श्यामजी ने स्टाक एक्सचेंज में भी धन पैदा किया। इसमें सन्देह नहीं कि श्यामजी को अपार साधनों से धन प्राप्त होता था। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने प्राप्त धन का खुलकर देश के कार्यों में प्रयोग किया और इस ख्याल से उनका नाम एक प्रधान क्रान्तिकारी के रूप में रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

श्यामजी जैसा जो कुछ थे हम बता चुके, पर यह वर्णन अधूरा रहेगा यदि हम यह न बताएं कि जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में एक पूरा अध्याय इन बूढ़े क्रान्तिकारियों की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा है, जिसके लिए इतिहास कभी उन्हें क्षमा नहीं करेगा। नेहरू के जीवन के गुप्त रहस्य अब धीरे-धीरे खुल रहे हैं, पर श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे लोगों के जीवन में कोई रहस्य नहीं था। उनका जीवन एक समर्पित देशभक्त की खुली किताब थी।

छठा अध्याय

चाफेकर से मदनलाल धींगड़ा तक

वहाबियों के बाद चाफेकर बन्धु का जिक्र आना है। यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि हिन्दुओं द्वारा चलाए गए क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी धर्म का बहुत बड़ा स्थान है। चाफेकर बन्धु भी अत्यन्त धार्मिक थे। तिलक ने 4 मई, 1857 को एक लेख द्वारा उन लोगों की निन्दा की जो ताऊन फैलने की वजह से लोगों के घरों की तलाशी लिया करते थे। चाफेकर बन्धु ने महारानी विक्टोरिया की जुबली वाले दिन मिस्टर रैंड को अपना शिकार बनाया। परिणामस्वरूप चाफेकर बन्धु को फांसी की सजा हुई। चाफेकर बन्धुओं का नाम क्रान्तिकारी आन्दोलन में बहुत गौरव से लिया जाता है क्योंकि ससार-भर के क्रान्तिकारी आन्दोलन में तीन भाइयों को फांसी का यही एक उदाहरण है। तिलक को एक लेख लिखने पर सजा हुई। अपने एक भाषण में तिलक ने पुलिस रिपोर्ट के अनुसार कहा था कि, "क्या शिवाजी ने अफजलखान को मारकर पाप किया ? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में मिल सकता है। भगवान श्रीकृष्ण ने तो गीता में अपने गुरु तथा सम्बन्धियों तक को मारने की आज्ञा दी है। यदि कोई मनुष्य परार्थ-बुद्धि से कोई हत्या भी कर डाले उसपर उसका दोष नहीं लग सकता। वीर शिवाजी ने अपना पेट भरने के लिए तो अफजलखान को मारा नहीं था। उन्होंने दूसरों की भलाई और अच्छे उद्देश्य से अफजलखान की हत्या की" आदि"'इस तरह तिलक क्रान्तिकारी आन्दोलन के अगुवा हो गए। जैसा कि हमने दिखाया है, बाल शास्त्री के अनुसार लोकमान्य को चाफेकर द्वारा अंग्रेज अफसरों की हत्या का पता था। (देखें, 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास')

वीर सावरकर

वीर सावरकर भी क्रान्तिकारी आन्दोलन में पूर्ण रूप से सक्रिय थे। उन्होंने लन्दन में, जहां वे बैरिस्टरी पढ़ने गए थे, क्रान्तिकारी दल की स्थापना की। उसी के सिलसिले में मदनलाल धींगड़ा नामक एक युवक ने सर कर्जन वायली की हत्या कर डाली। 16-8-1909 को मदनलाल धींगड़ा को फांसी दे दी गई व उनकी लाश जेल में ही दफन कर दी गई। यह एक ऐतिहासिक घटना हुई। मदनलाल धींगड़ा ने साम्राज्य के सबसे बड़े केन्द्र में एक अंग्रेज अफसर को मार डाला, इससे

सम्पूर्ण विश्व में उनकी ख्याति फैली। उन्होंने जो बयान अदालत में दिया था वह सारे विश्व में चर्चा का विषय बन गया। उन्होंने अपने बयान में कहा था कि "जो अमानुषिक फांसी और काले पानी की सजा हमारे सैकड़ों देशभक्तों को हो रही है, मैंने उसका एक साधारण-सा बदला, उस अंग्रेज के रक्त से लेने की चेष्टा की है। मैंने इस सम्बन्ध में अपने विवेक के अतिरिक्त किसी और से, सलाह नहीं की, किसीसे षड्यंत्र नहीं किया। मैंने तो केवल अपना कर्तव्य पूरा करने की चेष्टा की है। एक जाति, जिसको विदेशी संगीनों से दबाए रखा जा रहा है, समझ लेना चाहिए, वह बराबर लड़ाई कर रही है। एक निरस्त्र जाति के लिए खुला युद्ध तो सम्भव नहीं है..." आदि। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन मुख्य रूप से युवा आन्दोलन था, जो शनैःशनैः विकसित होता गया। क्रान्तिकारियों के मन में स्वतन्त्रता के लिए अस्पष्ट कामना मात्र थी, पर ज्यों-ज्यों आन्दोलन आगे बढ़ता गया, उसके ध्येय में भी विकास होता गया। इस प्रकार ध्येय और कर्मपद्धति में सतत-निरन्तर विकास क्रान्तिकारी आन्दोलन की विशेषता है।

आगे बढ़ने के पहले हम यह देख लें कि अब्दुल्ला और शेरअली पूर्णतः क्रान्तिकारी नहीं थे, तो चाफेकर, तिलक, सावरकर भी पूर्णतः क्रान्तिकारी नहीं थे। यह इस कारण नहीं कि तिलक या सावरकर हिन्दू राज्य चाहते थे। हां सावरकर जब क्रान्तिकारी नहीं रहे, तब वह गड़बड़ा गए। वह हिन्दू पदपादशाही और जाने क्या-क्या प्रतिक्रियावादी बातें कहते रहे, पर लन्दन में वह पूर्णतः राजनैतिक क्रान्तिकारी रहे।

सभी पूर्णतः क्रान्तिकारी नहीं होते। झगड़े वाले उदाहरण लेकर पोथा बढ़ाने की जरूरत नहीं। एक उदाहरण लीजिए, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का। यह त्यागी, तपस्वी, विद्वान थे। जेल में बैठकर उन्होंने गीता पर एक महान ग्रंथ लिखा, जिसमें अकाट्य तर्कों से प्रमाणित किया कि जैसे उच्च गणित में चलकर समानान्तर रेखाएं मिल जाती हैं, उसी तरह लक्ष्य ठीक होने पर हिंसा-अहिंसा में कोई फर्क नहीं, दोनों ही तरीके उचित और वैध हैं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने इस महाग्रन्थ में क्रान्ति का दर्शन प्रतिपादित किया। मैं अपनी बात कहूं कि एक तरफ हमने इटली के क्रान्तिकारी चिन्तक मेजिनी की कृतियों से, विशेषकर 'मनुष्य के कर्तव्य' से प्रेरणा ली, उसी प्रकार तिलक महाराज की कृति से अपनी बैटरी में बिजली भरी।

तिलक राजनैतिक क्रान्तिकारी

तिलक महाराज कई बार जेल गए। यहां तक कि उस युग के अंग्रेजी ऐंग्लोइंडियन साहित्य में वह अंग्रेजों के सबसे बड़े दुश्मन रूप में चित्रित हुए। बाद में

प्रचारकों ने जान-बूझकर लाल (लाला लाजपतराय), बाल (बालगंगाधर तिलक), पाल (बिपिनचन्द्र पाल) की महत्ता को चित्रित नहीं किया, पर सार्वजनिक क्षेत्र में महात्मा गांधी के पहले के युग में इन लोगों का सबसे बड़ा व्यक्तित्व था। अवश्य उनके सौरमण्डल में या उनसे जरा बाहर श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचन्द आदि विभूतियां भी थीं।

दूसरे शब्दों में, तिलक अपने युग के एक महान क्रान्तिकारी थे। पर जरा खुर्दबीन या अणुवीक्षण यन्त्र लेकर उतर आइए, तो राजनैतिक क्षेत्र में क्रांतिकारी होते हुए भी सामाजिक प्रश्नों पर वह गतानुगतिकतावादी थे। उन्हीं के युग में महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानाडे नाम से एक सरकारी उच्च अधिकारी (जस्टिस यानी न्यायमूर्ति) थे जो बाल-विवाह के विरोधी, विधवा-विवाह के प्रतिपादक थे। सरकारी नौकर के रूप में रानाडे ब्रिटिश राज्य-समर्थक थे, पर वह सामाजिक दृष्टि में क्रान्तिकारी थे।

अधिकांश क्रान्तिकारी आंशिक क्रान्तिकारी

इस प्रकार गहराई में जाकर विश्लेषण करने पर निन्यानवे प्रतिशत क्रांतिकारी केवल आंशिक रूप से क्रान्तिकारी थे। फिर क्रांतिकारी की धारणा का युगानुसार विकास होता है। पचास साल पहले मुसलमान के साथ बैठकर खाने वाला हिन्दू एक हद तक क्रान्तिकारी था, पर आज लगभग कुछ कूढमगज दकियानूसी व्यक्तियों के अलावा सभी लोग रोटी के मामले में छुआछूत से पूर्ण रूप से मुक्ति पा चुके हैं, अतएव सहभोज में कोई क्रान्तिकारित्व नहीं रहा।

मदनलाल धींगड़ा

मदनलाल धींगड़ा का महत्त्व केवल इस कारण नहीं है कि उन्होंने लन्दन में फांसी पाकर अन्तर्राष्ट्रीय रूप से लोगों की आंखों में उंगली डालकर अंग्रेजों के इस प्रचारकार्य का पर्दाफाश कर दिया कि भारत में अमन-चैन है और यहां के लोग अंग्रेजों के शासन में (जिसमें सूर्यास्त नहीं होता) खुश हैं।

इसके अलावा जो दूसरा असर हुआ, वह बहुत ही ऐतिहासिक है। वह यह कि मदनलाल धींगड़ा को जो विश्वव्यापी ख्याति मिली, गांधी जी उससे भड़क गए और उनमें अहिंसा, सत्याग्रह के जो विचार भीतर ही भीतर बुदबुदा रहे थे, वे स्पष्ट हो गए और उन्होंने एक लेखमाला शुरू की, जो 'हिन्द स्वराज्य' या 'इंडियन होम रूल' नाम से छपी। इस पुस्तक का गांधी विचारधारा में वही महत्त्व है, जो वैज्ञानिक समाजवाद में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखित 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' का है।

'हिन्द स्वराज्य' में भ्रूण रूप में महात्मा गांधी के दीर्घ जीवन के सारे चिन्तन

और कर्मधारा के आदिबीज मिलेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मदनलाल धींगड़ा का स्थान ऐतिहासिक रूप से कितना महत्वपूर्ण है। 'हिन्द स्वराज्य' पुस्तक के अन्दर इसके आन्तरिक प्रमाण पग-पग पर है।

शहीदे-आजम कौन

सन् 1964 के ऐन अन्त में बटुकेश्वर दत्त कैंसर से पीड़ित होकर दिल्ली के आल इंडिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट में इलाज के लिए आए। लगभग आठ महीने मृत्यु से जूझने के बाद उनका देहान्त हुआ जुलाई, 1965 में। उस वक्त उनके कब्जे में दो कमरे थे। मैंने तथा साथियों ने वहां का माहौल ऐसा रखा था कि लगे, हम क्लब में है। हर समय चाय चलती। सैकड़ों लोग आते। उन दिनों, मैं एक दिन बाहर टहल रहा था तो एक वृद्ध सज्जन आकर मेरे साथ बात करने को उत्सुक जान पड़े। वह थे लगभग 1910 ई० में सुदूर रंगून में फांसी पाने वाले सोहनलाल पाठक के भाई। उन्होंने हांफते हुए, सकुचाते हुए कहा, "क्या किसी एक शहीद को शहीदे-आजम कहना ठीक है?"

उनका इशारा था भगतसिंह का शहीदे-आजम के खिताब के साथ जो प्रचार चालू था उसकी ओर। मैं उनका दर्द समझ गया। मैंने कहा, "नहीं।"

लम्बे ब्यौरे में नहीं जाऊंगा। पर जब मंच की सारी रोशनियां (फुटलाइट और हेडलाइटें) जल रही हों, तो मृत्यु-भय दूर हो जाता है। भगतसिंह इसी प्रकार के माहौल में फांसी पर चढ़े। पर दूसरे शहीद जैसे सोहनलाल पाठक या मदनलाल धींगड़ा जो उनसे पूरी एक पीढ़ी पहले फांसी पर चढ़े, उस समय चारों तरफ अंधेरा था, उन्हें अपनी दधीचि वाली हड्डियां जलाकर जुगनू की तरह अन्दर से रोशनी पैदा करनी पड़ी। इसलिए कोई भी शहीद शहीदे-आजम नहीं है या सभी शहीद शहीदे-आजम हैं। सोहनलाल पाठक के भाई का सन्देह वाजिब था।

मदनलाल धींगड़ा का परिवार राजभक्त परिवार था। वे ऐसे लोग थे जिनके दिमाग में यह भूस भर दिया गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं है, इसलिए यह चिरस्थायी है। अंग्रेजपरस्ती इस परिवार का पेशा था। इस कुल में अपवाद की तरह 1897 ई० में मदनलाल पंजाब में पैदा हुए। उनके पिता बड़े डाक्टर थे। वह अपने पिता के सातवें पुत्र थे। मदनलाल धींगड़ा अमृतसर से इंटर पास कर बी० ए० होने लाहौर गए। बी० ए० हो गए, नौकरी लग गई, तो घर-वाले चाहते थे कि शादी हो जाए। लेकिन उनकी बेचैन आत्मा भड़क गई। तब घरवालों ने सोचा, उनपर काबू पाने के लिए उन्हें विलायत भेजा जाए, जहां अंग्रेज ही अंग्रेज हैं, ताकि मदन भी अंग्रेज बन जाए। यही उस युग में गोरेपरस्तों (भारत के गोरों, अंग्रेजों के) का धर्म और ईमान था। तब से गोरेपरस्त शब्द ही प्रचलित हो गया।

जब मदनलाल धींगड़ा इंगलैंड इंजीनियरिंग पढ़ने पहुंचे तो वहां भारतीयों के कई आलोक-स्तम्भ पहुंच चुके थे। इनके नाम-भर लूंगा : (1) मादाम विकाजी कामा जो जर्मनी के स्टुटगार्ट शहर में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन मे मौजूद थीं। इस नाते भारत की प्रथम समाजवादी बनी। उन्होंने स्टुटगार्ट में भारत का तिरंगा फहराया था। याद रहे उस समय की कांग्रेस से तिरंगे का कोई सम्बन्ध नहीं था। हां, कलकत्ते के कुछ स्वप्नद्रष्टा चोरी से तिरंगे पर जान देते थे, (2) अध्यापक श्यामजी कृष्ण वर्मा जिन्होंने गांधी जी से बोअर युद्ध के दौरान इस बात पर लोहा लिया था कि इस युद्ध में भारत को अंग्रेजों के विरुद्ध जाना चाहिए न कि उनके साथ, जैसाकि गांधीजी ने बयान दिया था ; (3) विनायक दामोदर सावरकर जो स्वयं में एक इतिहास बन चुके थे।

जब तक मदनलाल धींगड़ा भारत में रहे, तब तक उन्हे पता नही चला था कि देशभक्त भी कोई जीव होता है। लन्दन मे नई हवा आई फेंफड़ो के अन्दर। खून मे तेजी आई। घरवालो ने भेजा था गुलामी का तमगा हासिल करने, पर यहां तो वह राह दिखाई दे गई जिसपर चल पड़े थे मंगल पांडे, अजीमुल्ला, लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे, बाद को अब्दुल्ला, शेरअली, चाफेकर बन्धु और हाल में खुदीराम (फांसी 11 अगस्त, 1908) और कन्हाईलाल (फांसी 20 नवम्बर, 1908)।

सावरकर ने 1857 के विद्रोह को हमारा प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध प्रमाणित करने के लिए ब्रिटिश संग्रहालय में शोध किया था। एक क्रान्तिकारी ने, न कि किसी विश्वविद्यालय के अध्यापक इतिहासकार ने, विद्वानों मे 1857 को प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध की प्रतिष्ठा दिलाई थी। डा० भगवानदास माहौर ने अजीमुल्ला के उस गीत का आविष्कार किया, जो तब प्रचलित था। मदनलाल धींगड़ा के लन्दन पहुंचने के बाद जो 10 मई पड़ी, उसमें स्वातन्त्र्य दिवस मनाया गया, तो धींगड़ा उसमें विराजमान थे। उनके घरवाले देखते तो उनको गश आ जाता। उस सभा में सब लोग प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध का बिल्ला गर्व के साथ लगाए हुए थे। धींगड़ा भी यह बिल्ला लगाए हुए थे।

प्रति रविवार को श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा स्थापित लंदन के इंडिया हाउस मे क्रान्तिकारियों का जमघट होता। मुकाबला करें कांग्रेस का, जहां उस समय कांग्रेस के अधिवेशनों मे केवल नौकरियां मांगी जाती थीं।

एक दिन लन्दन के क्रान्तिकारियों में यह बात छिड़ी कि एशिया में जापानी सबसे बहादुर हैं, पर मदनलाल धींगड़ा ने कहा, "नहीं, भारतीय सबसे बहादुर हैं। हमारा इतिहास गवाह है।"

बढ़ते-बढ़ते बात बढ़ गई और यह तय हुआ कि मदनलाल धींगड़ा स्वयं इस बात को प्रमाणित करें। मदनलाल धींगड़ा ने यह चुनौती स्वीकार कर ली। एक

साथी ने मदनलाल धींगड़ा की हथेली में पिन डालकर आर-पार कर दी। और खून टप-टप करके गिरने लगा। पर मदनलाल धींगड़ा ने उफ भी नहीं की।

और एक दिन बहस छिड़ी कि इस युग का सबसे बड़ा जालिम कौन है, तो एक ने कहा, "लार्ड कर्जन जो बंग भंग का जनक था।" इसपर दूसरे ने कहा, "वह तो भारत का हितैषी है क्योंकि चाबुक मारकर उसने भारत की सोई हुई आत्मा को जगा दिया।"

पर तीसरे क्रान्तिकारी ने कहा, "मैं कुछ नहीं जानता। सर कर्जन वाइली सबसे बड़ा जालिम है, क्योंकि वह ऊपर से भारतीय छात्रों का हितैषी है, पर भीतर से इनपर जासूसी करता है।"

किस्सा-कोताह यह कि मदनलाल धींगड़ा को ठोक-पीटकर सावरकर ने समझ लिया कि यह उस उपादान से बने हैं जिससे शहीद बने होते हैं। साम्राज्य की राजधानी में एक शहीद की जरूरत थी, जिससे श्वेतांग जाति के बोझ के मिथक की पोल खुल जाए। तदनुसार 1908 ई० की पहली जुलाई को शेर की तरह झपटकर एक भरी सभा में धींगड़ा ने गोलियों से सर कर्जन वाइली का काम तमाम कर दिया। इसपर सारे यूरोप में तहलका मच गया। अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार हुआ। यह मिथ्या जाल मिट गया कि भारत के लोग खुश हैं ब्रिटिश शासन में। क्रान्ति की गाड़ी चली तेजी से। इसपर 4 जुलाई को सर आगाखां की अध्यक्षता में वफादार भारतीयों ने मदनलाल धींगड़ा की निन्दा करने के लिए एक सभा की। मदनलाल धींगड़ा के एक भाई से मदनलाल धींगड़ा की निन्दा कराई जाने की चेष्टा हुई ताकि लगे कि उनके साथ कोई नहीं है। उस सभा में कांग्रेसी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विपिनचन्द्र पाल थे। उन लोगों ने यह कहकर जान बचाई कि आतंकवाद के कारणों को दूर किया जाए। मदनलाल धींगड़ा के भाई ने कहा, "मैं उनका भाई नहीं हूं।"

सर आगाखां ने एक से एक निन्दात्मक भाषण करवाकर कहा, "तो मान लिया जाए कि सर्वसम्मति से मदनलाल धींगड़ा की निन्दा का प्रस्ताव पास हुआ।"

इसपर सावरकर खड़े होकर बोले, "नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

अध्यक्ष बोला, "कोई प्रस्ताव का विरोधी है?"

सावरकर बोले, "मैं विरोधी हूं।"

"आपका शुभ नाम?"

"मैं हूं सावरकर।"

इसपर एक अंग्रेज युवक पामर ने सावरकर के मुंह पर एक घूंसा मारा, जिससे उनका चश्मा टूट गया। तिरुमल आचार्य ने पामर को लाठी मारनी चाही, पर सावरकर ने रोका, "पामर को मारकर शान्ति भंग न करो।"

प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास नही हो सका, क्योंकि सावरकर बोले, "मैं अब भी प्रस्ताव का विरोधी हूं।"

नतीजा यह हुआ कि खैरख्वाहों की नही चली। सावरकर ने 'लन्दन टाइम्स' में एक पत्र भी लिखा कि इस प्रकार विचाराधीन मुकदमे से सम्बन्धित घटना पर निन्दात्मक सभा करना गलत है और न्याय की प्रक्रिया में बाधा पहुंचाना है।

इस सम्बन्ध में सबसे मजेदार बात यह हुई कि मदनलाल धींगडा के परिवार वालों ने उनको अस्वीकार किया, पर इससे मदनलाल के मनोबल मे कोई फर्क नही आया। उनके लिए दल ने एक बयान प्रस्तुत किया था जो उनकी जेब मे था, पर अदालत ने उस बयान को स्वीकार नहीं किया। फिर भी बाहर के क्रान्तिकारियों के प्रभाव से वह बयान सारे ससार के अखबारों मे छपा। बर्लिन के सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता आगुस्ट बेबेल के फोरवार्ड्स (अग्रगामी) तथा पेरिस के 'ल्युमानिते' (मानवता) मे धींगड़ा पर प्रशंसात्मक लेख छपे।

सन् 1909 के 18 अगस्त को मदनलाल धींगडा को फांसी हो गई। उनका मर्मस्पर्शी बयान अब भी भारत के ऐतिहासिक वातावरण में गूंज रहा है।

सातवां अध्याय

अरविन्द और बारीन्द्र—पांडिचेरी और अन्दमान

सन् 1903 से उस समय के बंगाल प्रान्त को टुकड़ों में बांटने की बात हवा में थी। उसी समय इसका प्रबल विरोध हुआ। पर जब 1905 में लार्ड कर्जन ने बंगभंग कर दिया, तो बंगाल-भर में इसपर बड़ा आन्दोलन हुआ। यह आन्दोलन स्वदेशी आन्दोलन कहलाया। इसके अन्तर्गत स्वदेशी वस्त्र के पूरक के रूप में चर्खा-करघा, सरकारी स्कूल-कालेजों, अदालतों का बायकाट था। यह बड़े पैमाने (प्रान्तीय) पर पहला जन-आन्दोलन था और यह द्रष्टव्य है कि उनमें सब वही उपादान थे जो बाद को गांधी जी के नेतृत्व मे भारतीय पैमाने पर 1921 में असहयोग के रूप में चले।

पहले बंगाल का स्वदेशी आन्दोलन भी पूर्ण रूप से अहिंसात्मक था और उसकी मांग-मात्र यह थी कि बंगभंग रद्द किया जाए।

पर जब इसे दबाया गया, तो यह भूमिगत होकर गुप्त समितियों का आन्दोलन हो गया। श्री अरविन्द, जो विलायत में पैदा हुए थे, इस आन्दोलन में

नेता के रूप में सामने आए। वह पत्रों में लिखकर और बोलकर क्रान्ति का आवाहन करने लगे। उन्हीके नेतृत्व मे सुप्रसिद्ध अलीपुर षड्यन्त्र हुआ। इसी षड्यन्त्र के कन्हाईलाल ने मछली या कटहल के अन्दर पिस्तौल मंगाकर जेल के अन्दर मुखबिर नरेन्द्र गोस्वामी का काम तमाम कर दिया, जिसपर वृद्ध नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अपने अखबार के दफ्तर में इतने उल्लसित हुए कि उन्होंने मिठाई बांटी। जब कन्हाईलाल को फांसी के बाद चिता पर चढाया गया तो एक लाख व्यक्ति रो रहे थे, उसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। उनकी चिता की राख लूट ली गई। राख भरकर बच्चों-बच्चियो के लिए गंडा-तावीज बने ताकि बच्चे-बच्चियां उसी प्रकार बहादुर बनें। अज्ञातनामा सैकडों जनकवियों ने कविताए लिखी जो छप नहीं सकती थीं, पर बिना छपे वेदों की ऋचाओं की तरह सारे संसार मे फैल गई।

खुदीराम भी इसी षड्यन्त्र के किशोर थे। उन्हे किंग्स फोर्ड नामक एक अत्याचारी मजिस्ट्रेट को मारने के लिए मुजफ्फरनगर भेजा गया। इस किंग्सफोर्ड ने वन्दे मातरम् बोलने पर लोगों को लम्बी सजाएं दी थीं। जनकवियो ने किंग्सफोर्ड को रावण-कंस का आधुनिक रूप दे दिया था। खुदीराम का बम किंग्सफोर्ड को मारने की बजाय अन्य कुछ गोरों को यमपुरी पहुंचा गया। खुदीराम गीता कन्धे पर रखकर फासी पर चढ गए। यह भी कन्हाईलाल की तरह, बल्कि दोनो मिलकर एक दास्तान बन गए, जिसने स्वतन्त्रता आन्दोलन के पौधों को लाल लहू से सींचा।

तिलक-सावरकर का चलाया हुआ आन्दोलन मदनलाल धींगड़ा के बलिदान से विश्व-प्रसिद्धि प्राप्त कर गया था। स्वय सावरकर जब बन्दी बनाकर लन्दन से भारत लाए जा रहे थे, तो वह फ्रास की भूमि पर भाग गए। फ्रेंच पुलिस ने उन्हे अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया। यह मुकदमा अन्तर्राष्ट्रीय अदालत (हेग) तक चला, पर जैसा कि सारी अदालतों मे होता है, जबर्दस्त की चली। फ्रांस ने अपनी भूमि के अपमान के मामलों पर जोर नही दिया क्योंकि उसके पास भी साम्राज्य था। वह क्यों एक दूसरे साम्राज्य का विरोध करता। मुकदमा खारिज हो गया और सावरकर अन्दमान की कोठरियों मे सड़ाए गए।

पर मदनलाल धींगड़ा और सावरकर की विश्व-प्रसिद्धि के बावजूद महाराष्ट्र मे क्रान्तिकारी आन्दोलन जमा नही, पर बंगाल में चूंकि यह आन्दोलन जन-आन्दोलन की नीव पर पनपा था, यह कभी दबाया नही जा सका, उत्तरोत्तर तगड़ा पड़ता गया।

अलीपुर षड्यन्त्र चला। उसमे श्री अरविन्द के भाई वारीन्द्रकुमार घोष आदि को काले पानी की सजा हुई। अन्दमान द्वीपपुंज के साथ मुख्य भूमि का नाड़ीगत सम्पर्क हो गया। अलीपुर षड्यन्त्र मे श्री अरविन्द फसाए न जा सके। वह

जेल से छूटकर पांडिचेरी पहुंचे। पहुंचकर अध्यात्म में चले गए। पर उनके भाई तथा शिष्य अन्दमान पहुंचे।

अन्दमान का रोमांचकारी इतिवृत्त

हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ अन्दमान द्वीपों का सम्बन्ध तब जुड़ा था जब 1857 के विद्रोहियों का उससे सम्बन्ध जुड़ा। इस विद्रोह के हजारों योद्धा ही नहीं, साधारण निर्दोष व्यक्ति फांसी पर चढ़ाए गए। पर जाने कैसे फांसी के फंदे से बचे कुछ लोगों को काला पानी भेजा गया।

बंगाल की खाड़ी मे कलकत्ता से लगभग 800 किलोमीटर दक्षिण में अन्दमान द्वीपपुज है। इनका कुल क्षेत्रफल 8,293 वर्ग किलोमीटर है। राजधानी पोर्टब्लेअर है। और अब आबादी है लगभग 1,50,000। द्वीप में नारियल और हरिण खूब हैं। लकड़ी भी है प्रचुर मात्रा मे। पूरा द्वीपपुंज प्राकृतिक बन्दरगाह है। इस दृष्टि से समुद्री बेड़े के लिए आदर्श स्थल है। 'अन्दमान की गूंज' नामक पुस्तक मे मैंने दिखलाया है कि विश्वस्त रूप से जो तथ्य मिले, उनसे पता चलता है कि 1857 के ये विद्रोही, जिन्हें फांसी न देकर काला पानी भेजा गया था, अन्दमान नही अन्य द्वीपों मे भेजे गए थे। पर उनकी इस प्रकार सागर पार कैद के बाद किसी समय ब्रिटिश सरकार ने अन्दमान द्वीपपुज को खतरनाक कैदियों के लिए निर्दिष्ट किया और 1857 के बचे हुए कैदी अन्य टापुओं से लाए जाकर अन्दमान भेजे गए और वे वहीं से छूटकर भारत की मुख्य भूमि पर वापस आए।

किस्सा कोताह यह कि बाद को अति खतरनाक मुजरिम कैदियों के अलावा क्रान्तिकारी इसी द्वीपपुज में भेजे जाते रहे। ऐसे भेजे जाने वाले कैदियों मे थे वहाबी आन्दोलन के शेरअली जिनका वृत्तान्त हम पहले दे चुके हैं।

बाद को अन्दमान में जो क्रान्तिकारी इस शताब्दी के द्वितीय दशक मे भेजे गए उनमें प्रमुख थे सावरकर, बारीन्द्रकुमार घोष (श्री अरविन्द के छोटे भाई), शचीन्द्रनाथ सान्याल ('बन्दी जीवन' के लेखक), गदर के बाबा लोग, परमानन्द द्वय—भाई—परमानन्द और झांसी के (असल में) हमीरपुर के पं० परमानन्द।

पं० परमानन्द अन्य सारे गदर पार्टी के सदस्यों की तरह अराजनैतिक कारणों से भारत के बाहर सैर-सपाटा, रोजगार के लिए गए थे। पर उन्होंने देखा, देश के बाहर वे रुपये तो खूब कमा सकते हैं, पर उनकी विदेशों में कोई इज्जत नहीं क्योंकि वे स्वाधीन देश के नागरिक नहीं, अंग्रेजों के गुलाम थे।

गदर पार्टी की स्थापना

यह एक अनोखा ऐतिहासिक तथ्य है कि देश के अन्दर जो लोग देश की दशा से बिलकुल बेखबर थे, वे देश के बाहर जाकर यह समझने लगे कि देश की

स्वाधीन कराना जरूरी है। इसीके लिए प्रवासी भारतीयों ने 1913 में गदर पार्टी की स्थापना की। यों तो पहले ही ओरियन मे हिन्दुस्तानी एसोसिएशन की स्थापना हुई थी। सस्थापक थे मुशीराम, करीमबख्श, नवाबखान, केसरसिंह, बलवन्तसिंह, करतारसिंह। केसरसिंह प्रधान और बलवन्तसिंह मन्त्री बने। अभी यह पूर्णत. राजनैतिक सस्था नही बल्कि प्रवासी भारतीयों की सस्था थी, फिर भी उसके उद्देश्यो मे राजनैतिक विचार-गोष्ठियों की तैयारी एक उद्देश्य थी। शीघ्र ही हिन्दी एसोसिएशन बना, जो वृहत्तर सस्था थी और इसीसे गदर पार्टी की स्थापना हुई। इस घटना के पीछे लाला हरदयाल का बहुत बड़ा हाथ रहा। वह विद्वान, साथ ही क्रान्तिकारी विचारों के थे यानी यह समझते थे कि अग्रेजों को जबर्दस्ती निकाल देना चाहिए।

गदर पार्टी ने वन्दे मातरम् को राष्ट्रीय गीत माना। धर्मनिरपेक्षता इस रूप में रही कि धार्मिक विचार पार्टी से अलग होंगे। खाने-पीने की खुली छूट रही। गदर पार्टी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के अलावा हर देश के लिए स्वतन्त्रता चाहना था, इसलिए शोध करने वालो को यह मालूम रहना चाहिए कि इनका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय था। इससे बहुत पहले 19वी शताब्दी के अन्त मे बोअर युद्ध में क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा ने बोअरों का समर्थन किया था, जबकि महात्मा गांधी अग्रेजों के पक्ष मे थे। गाधी और क्रान्तिकारियो का पारस्परिक विरोध बोअर युद्ध के समय (1899–1902) का है।

प० परमानन्द गदर पार्टी के सदस्य हो गए, और इसी सिलसिले मे गिरफ्तार किए जाकर भारत आए। उनपर मुकदमा चला और उन्हें अन्य लोगो के साथ फांसी की सजा सुनाई गई। इन्होंने सिंगापुर के फौजी विद्रोह में प्रमुख भाग लिया था। उनके साथ जिनको फांसी की सजा सुनाई गई थी, उनमे कर्तारसिंह सराभा थे।

जब अपील हुई तो पं० परमानन्द की फांसी रद्द होकर आजन्म काले पानी की हो गई, पर कर्तारसिंह की फांसी बरकरार रही। जिस दिन सवेरे फांसी होने वाली थी, परमानन्द ने उस दिन फांसी से एक घण्टा पहले अपनी कोठरी से कर्तार को आवाज दी, "कर्तार, क्या कर रहे हो?"

कर्तार ने मस्ती के साथ कहा, "मै एक कविता लिख रहा हूं, सुनोगे?"

परमानन्द बोले, "सुनाओ।"

कविता यह थी :

जो कोई पूछे कौन हो तुम,
तो कह दो बागी नाम हमारा
जुल्म मिटाना हमारा पेशा
गदर का करना य' काम अपना।

नमाज सन्ध्या यही हमारी
श्रीपाठ पूजा सब यही है।
धरम-करम सब यही है प्यारो,
यही खुदा और राम अपना।
तेरी सेवा में ऐ भारत अगर तन जाए, सिर जाए,
तो मैं समझू कि है मरना यहां पर भक्ति पथ हमारा।

थोड़ी देर मे जल्लाद आए और क्रान्तिकारी कवि को फांसी हो गई। आश्चर्य है कि इस कविता से हमारे साहित्यकार अध्यापक परिचित न होकर यह कहते है कि प्रगतिशील कविता का जन्म 1930 के लगभग हुआ, जबकि सच्चाई यह है कि इससे बहुत पहले 'वन्दे मातरम्' (शताब्दी मन चुकी) आदि कितनी ही कविताए लिखी जा चुकी थी। उनमें कर्तारसिंह की कविता को विशेष गौरव दिया जाना चाहिए। परमानन्द इसके पहले श्रोता थे। जैसे कवि वैसे ही श्रोता। धन्य है दोनों। इस वीरतापूर्ण इतिहास का एक पुछल्ला अन्त यह है कि कर्तारसिंह के परमानन्द आदि साथियो ने जवाब मे यह कहा :

हम तुम्हारे मिशन को पूरा करेंगे साथियो,
कसम हर हिन्दी तुम्हारे खून की खाता है आज।

कर्तारसिंह आदि को फांसी तो हो गई और प० परमानन्द आदि अन्दमान की सेलुलर जेल मे भेजे गए। महाराजा नामक जहाज उनको लेकर पहुंचे। कैदियों को डेक पर नही, उन्हे नीचे जैसे माल जाता है उस तरह भेजा गया। जो जहाज पर सैर कर चुके हैं वे ही इसकी लज्जत को समझ सकते हैं। वह साक्षात् नरक था क्योंकि उसीमे जानवरों की तरह टट्टी-पेशाब, कै (झोंकों के कारण) करना पड़ता था। कोई चार दिन की समुद्र की यात्रा मे मर जाते थे। हमारे देश के नर-रत्नों (ये गणेशशंकर विद्यार्थी के शब्द है जो उन्होंने काकोरी काण्ड मे गिरफ्तार लोगो के लिए प्रयुक्त किए थे) को इस तरह उस नरक मे ले जाया जाता था। बंगाल की खाड़ी मानो वैतरणी थी। लेखक लगभग बीस साल जेलो में रहने पर भी अन्दमान नहीं गया था, इसलिए उसने 1971 मे, फिर चार वर्ष बाद 1975 मे, अन्दमान की तीर्थयात्रा की थी। अस्तु।

जब परमानन्द अन्दमान पहुंचे, तो वहां बारी नामक एक अंग्रेज जेलर था जो अपनेको जेल का खुदा कहता था। वह रावण का ही प्रतिरूप था। यहां ब्योरा देना सम्भव नहीं। वह महापापी माना जाता था। मनमौजी कवि रमेश ने बारी पर यह कविता लिखी :

पहरए अनवर तुम्हारा
खानाए जम्बूर है,
पेट भी पजने खुदा मे

सुधार के हामी थे। हां, दोनों परंपरागत शिक्षा (संस्कृत-अरबी-फारसी) के बजाय अंग्रेजी शिक्षा के अलम्बरदार थे, पर इसमें भी राजा और सैयद के दृष्टिकोण अलग थे। राजा की दृष्टि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की ओर थी, जबकि सैयद का उद्देश्य अंग्रेजी शिक्षा देकर मुसलमानों को केवल नौकरियों के बाजार में खड़ा करना था।

कुछ भी हो, इस कालेज के वातावरण में राजा महेन्द्रप्रताप का मन रजवाड़ों में प्रचलित कट्टरता से हटकर, सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष हो गया। हिन्दुओं को मुस्लिम परम्परा और वातावरण में और मुसलमानों को हिन्दू वातावरण में पलना ठीक हो सकता है। अलीगढ़ के कारण बाद को चलकर महेन्द्रप्रताप तुर्की और अफगानिस्तान जैसे देशों में सफल रहे। वह छात्र जीवन में अंग्रेजों से प्रभावित तो रहे, पर अक्सर इस बात को याद करते थे कि उनके दादा अंग्रेजों से लड़े थे। वह वातावरण ही ऐसा था कि कोई भी अनुभूतिशील छात्र अंग्रेजों के विरुद्ध बिना गए नहीं रह सकता था। स्मरण रहे इसमें सर सैयद या मोहमडन कालेज का कोई दान नहीं था क्योंकि सर सैयद अवसरप्राप्त सरकारी मुलाजिम थे और कालेज का वातावरण नौकरियां पाने का राजभक्तवादी था। गलतफहमी दूर करने के लिए यह बता दिया जाए कि उन दिनों कांग्रेस का वातावरण भी ठीक ऐसा ही था। स्वराज्य की बात सोचते थे तो केवल क्रान्तिकारी या लोकमान्य तिलक जैसे लोग, जो थे तो कांग्रेसी पर उनका मन क्रान्तिकारियों के साथ था।

'न्यू एज' वाले लोगों ने सर सैयद को राममोहन का मुस्लिम संस्करण करके पेश करना चाहा। उसका एकमात्र उद्देश्य कम्युनिस्ट पार्टी के लिए कट्टर मुसलमानों के वोट प्राप्त करना है। पर उसके लिए इतिहास को झुठलाना गलत है। धर्मनिरपेक्ष भारत में हिन्दू विश्वविद्यालय या मुस्लिम विश्वविद्यालय का स्थान नहीं है। सैयद अहमद और मदनमोहन मालवीय दोनों आदर्श धर्मनिरपेक्षतावादी नहीं कहे जा सकते। अस्तु।

राजा साहब का विवाह कम उम्र में ही जिन्द की राजकुमारी से हो चुका था। दहेज बहुत मिला था, जिसका बहुत हिस्सा राजा साहब ने फौरन बांट दिया था। 1906 में ही राजा साहब रियासत पा चुके थे, क्योंकि कर्मचारियों ने उम्र एक साल बढ़ाकर लिखाई थी। राज्य पाते ही उन्होंने निम्नतम कर्मचारियों के वेतन में दो रुपये बढ़ा दिए। खाली भूमि पर गरीब बसाए गए।

वेद-उपनिषद गुलामी से क्यों बचा न सके

एफ०ए०के बाद राजा का मन पढ़ने में नहीं लगा। अब उनमें घुमक्कड़ी पैदा हुई, तो 1907 में वह श्रीलंका गए। लौटकर विश्व-भ्रमण की योजना बनी। फ्रांस, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी, इंगलैंड, न्यूयार्क आदि भ्रमण किया। लोगों ने चाहा तो भारत के गौरव—वेद-उपनिषद् पर भाषण देने चले गए। एक

गोरे ने उन्हें अलग ले जाकर पूछा, "महाराज, पर आपके वेद-उपनिषद् आपको गुलामी से न बचा सके। यह क्या बात है?"

यह बात राजा साहब के मन में गड़ गई। वह इसीपर सोचते रहे। उनकी समझ में यह आया कि शिक्षा विशेषकर प्रौद्योगिक शिक्षा की कमी के कारण देश पिछड़ा है। देश लौटकर अधिकांश जायदाद देकर उन्होंने इसी कमी को दूर करने के लिए प्रेम महाविद्यालय की स्थापना 1909 की 28 मई को महारानी विक्टोरिया के जन्म दिवस पर की। इसके अलावा भी उन्होंने कई दान दिए।

1912 में उन्होंने एक अछूत के साथ भोजन किया, जिसपर बड़ा बावेला मचा। महामना मालवीय बीच में पड़े, तब वह बचे। किसीने उनसे कहा, बम का कारखाना शुरू हो, पर उन्होंने उत्साह नहीं दिखाया। हां, वह अपनी संस्था में अवनी मुकर्जी नामक एक क्रान्तिकारी को ले आए क्योंकि वह पश्चिम में वस्तुविज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर आए थे। मुकर्जी प्रेम महाविद्यालय में जम न सके। बाद को वह रूस में राजा साहब से मिले। अवनी मुकर्जी और एम० एन० राय प्रथम क्रांतिकारी थे, जिन्होंने समाजवाद ग्रहण कर क्रांतिकारी आन्दोलन में चार चांद लगाए।

राजा साहब 1914 में अंतिम रूप में तरुणी पत्नी तथा दो बच्चे छोड़कर भारत से निकल पड़े। वह मार्सेल्स होकर स्विट्ज़रलैंड पहुंचे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, संस्कृत के महाविद्वान श्यामजी कृष्ण वर्मा से मिलकर वह लाला हरदयाल के पास पहुंचे। वहां से वह घूमते-घामते जेनेवा गए। एक अन्य प्रसिद्ध क्रान्तिकारी वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय से मिले। उनके साथ वह जर्मनी गए। वहां कैसर (जर्मनी सम्राट्) से उनकी भेंट हुई। यह तय हुआ कि राजा साहब अफगानिस्तान जाकर वहां के बादशाह को अंग्रेजों के विरुद्ध तैयार करें। तदनुसार वह तुर्की होते हुए वहां पहुंचे। वहां उनका स्वागत हुआ। वहां पहले से ही देवबन्द के ओबेदुल्ला आदि क्रान्तिकारी थे।

ओबेदुल्ला में सर्वइस्लामवाद की हार

ओबेदुल्ला की कहानी बड़ी विचित्र है। वह तथा उनके मुस्लिम साथी यह उद्देश्य लेकर देश से चले थे कि मुस्लिम देशों को भड़काकर, भारत पर हमला करा-कर, इस्लाम या मुगल राज्य की स्थापना की जाए। बहुत-से मुसलमान तब तक यह समझते थे कि चूंकि अंग्रेजों ने मुगलों से राज्य छीना (सच्चाई यह है कि जैसा हम दिखा चुके हैं, लालकिले के पास से अधिक से अधिक जामा मस्जिद तक मुगलों का राज्य था) इसलिए लौटकर राज्य उन्हींको मिलना चाहिए। ये बेचारे सभी मुस्लिम देशों के दरवाजे खटखटाते रहे, पर किसी विदेशी मुस्लिम को इस योजना में कोई दिलचस्पी नहीं थी। सब अपने देश के कल्याण को सर्वोपरि समझते थे। तुर्कों ने अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों से सर्वइस्लामवाद को प्रोत्साहन दिया। पर

जब वह कार्यरूप में कुछ करने को तैयार नहीं हुआ, तब ओबेदुल्ला ऐसे लोगों की आखें खुली और ये विदेशों में भटकते हुए हिन्दू क्रान्तिकारियों के कन्धों से कन्धे मिलाकर काम करने को तैयार हुए।

राजा महेन्द्रप्रताप के नेतृत्व में काबुल के आगे बाबर में दिसम्बर, 1914 को भारतीय क्रान्तिकारियों की सम्मिलित गुप्त बैठक हुई। बाद को इसी समिति की देखरेख में काबुल में भारत की अस्थायी सरकार बनी, जिसके राजा साहब अध्यक्ष बने और ओबेदुल्ला, बरकतुल्ला आदि मंत्री बने। यह सर्वइस्लामवाद की प्रत्यक्ष पराजय थी। इसी सरकार की ओर से जारशाही रूस को पत्र भेजा गया, पर कोई उत्तर नहीं मिला।

1917 की फरवरी में जब रूस में क्रान्ति हुई, तो भी इस अस्थायी सरकार ने पत्र भेजा, तब भी कोई पत्र नहीं मिला। हां, जब अक्टूबर क्रान्ति हुई, तब भारतीय क्रान्तिकारी एम० एन० राय, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय तथा राजा महेन्द्रप्रताप लेनिन से मिले। राजा साहब ने लेनिन को अपनी 'रिलीजन आव लव' (प्रेम-धर्म) पुस्तक भेंट की, जो अब भी मास्को में सुरक्षित है। लेनिन ने पुस्तक देखकर कहा, "यह तो तोलस्तोयवाद है।" राजा साहब शायद जन्म से राजा होने के कारण समाजवाद पचा नहीं पाए।

स्वतंत्रता के ऐन पहले राजा महेन्द्रप्रताप जापान में रासबिहारी बोस और आनन्दमोहन सहाय से मिले और फिर एक बार अस्थायी सरकार बनी, पर राजा साहब वहां भी छूछे रहे क्योंकि संगठित होकर कूटनीतिक तरीके से वह काम नहीं कर सकते थे। हां, स्वतंत्र देश में राजा साहब का स्वागत हुआ। वह एक बार संसद् सदस्य भी रहे, पांच साल तक। मैं उनके साथ मसूरी में कई दिनों तक आमने-सामने के कमरों में रहा। वह कमरे के अन्दर से प्रात:कृत्य, व्यायाम, भजन करके काफी पीकर सात बजे निकलते थे, फिर सचिव आ जाता, उसे पत्रोत्तर या लेख लिखाते। रविवार को सार्वजनिक सर्वधर्म भजन और उपासना होती। यह बाइबिल, गीता, कुरान पढ़कर प्रेम-धर्म की व्याख्या करते। फिर प्रसाद बंटता। थे तो वह त्यागी और क्रान्तिकारी, पर वह समय के साथ प्रगति न कर सके, जैसे एम० एन० राय आदि ने की थी।

नौवां अध्याय

बालेश्वर की लड़ाई

क्रान्तिकारी आन्दोलन में ऐसी कई घटनाएं हुईं, जिनका विज्ञापन बहुत कम हुआ और जिनके वीरों के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया। चन्द्रशेखर आजाद इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में सम्मुख युद्ध करते हुए शहीद हुए, पर उनसे बहुत पहले उड़ीसा के बालेश्वर में कई क्रान्तिकारी सम्मुख युद्ध करते हुए मारे गए। इसकी कहानी बहुत कम लोगों को मालूम है।

क्रान्तिकारियों ने प्रथम महायुद्ध (1914–18) के समय अंग्रेजों के विरोधी देशों के राजनीतिज्ञों से सम्बन्ध स्थापित किए और दुश्मन का दुश्मन दोस्त होता है, इस नीति के अनुसार उनसे हर तरह की सहायता मांगी। जर्मन भी इसपर राजी हो गए, क्योंकि दुश्मन के देश या उपनिवेश में अशान्ति हो या उपद्रव मचे, तो लाभ ही रहता है। उस हालत में दुश्मन को अपनी बहुत-सी सेना देश या उपनिवेश में रखनी पड़ती है, इस प्रकार उसका युद्ध-प्रयास कमजोर हो जाता है।

तय यह हुआ कि एक जर्मन जहाज अस्त्र-शस्त्र से लदकर आएगा, और वह अपने अस्त्र-शस्त्र क्रान्तिकारियों को देकर चला जाएगा। तदनुसार, क्रान्तिकारियों ने जहाज के लिए उड़ीसा का बालेश्वर नामक स्थान चुना, जहां जहाज आकर अपने अस्त्र-शस्त्र उतारेगा। बालेश्वर इसलिए चुना गया था कि उसके समुद्रतट पर जंगल था और उस जंगल में कुछ भी हो सकता था। स्मरण रहे कि पहले बंगाल का सुन्दर वन इस कार्य के लिए चुना गया था। वहां जंगल भी अधिक घना था, पर पुलिस को इसका पता लग गया और इसलिए इस स्थल को बदलकर बालेश्वर का जंगल कर दिया गया।

बारीन्द्रकुमार घोष के बाद बड़े क्रान्तिकारी नेता यतीन्द्रनाथ मुखर्जी (वह अपने को जोतिन्द्रनाथ लिखते थे, पर सारे साहित्य में उनका नाम यतीन्द्रनाथ चल गया) इस टुकड़ी के ही नहीं, इस दल के नेता थे, जो यह काम स्वयं अपनी देखरेख में कर रहे थे। क्रान्तिकारियों ने अपने कार्यकलाप को छिपाने के लिए बालेश्वर में यूनिवर्सल इम्पोरियम नाम से एक दुकान खोल रखी थी, जिससे इधर-उधर घूमने-फिरने का एक मासूम कारण दिखाया जा सकता। क्या कर रहे हो, दुकान के लिए दौरा कर रहा हूं, इसी आड़ में काम चल रहा था, पर इस दुकान पर भी पुलिस की कुछ दृष्टि गई है, ऐसा जानकर यतीन्द्रनाथ बंगाल की खाड़ी के

मुहाने के पास एक घने जगल मे रहने लगे। इस जगल में कोप्तिपोदा नाम का
एक छोटा-सा गांव बालेश्वर से बीस मील की दूरी पर था। उसीमें यतीन्द्रनाथ
अपने परम विश्वस्त साथियो के साथ रहते थे। इन दो साथियों के नाम थे—
नीरेन्द्र और मनोरजन। इस गाव से बारह मील की दूरी पर एक छोटे गाव ताल-
दीही मे चित्तप्रिय और ज्योतिष नाम के दो क्रान्तिकारी रहते थे।

कलकत्ते के हैरी एण्ड सन्स मे तलाशी हुई और यह पता लग गया कि यह
क्रान्तिकारियो का अड्डा है। यह भी पता लगा कि बालेश्वर का यूनिवर्सल इम्पो-
रियम हैरी एण्ड सन्स की शाखा है। यतीन्द्रनाथ को जगल मे रहते हुए यह पता
लग गया कि अब पुलिस को कोप्तिपोदा और तालदीही का भी पता लग जाएगा।
चाहते तो यतीन्द्रनाथ अपने चारो साथियो सहित भाग निकलते, पर ज्योतिष पाल
अस्वस्थ थे, इस कारण वह फौरन भाग नही सके। नतीजा यह हुआ कि पुलिस
को समय मिल गया।

दुकानो मे तलाशी लेने के बाद पुलिस के डिप्टी इन्स्पेक्टर जनरल डेनेहम
और सुप्रसिद्ध पुलिस अधिकारी टेगर्ट और मिस्टर बर्ड जगलों मे यतीन्द्रनाथ की
खोज करने लगे। यो तो कोई पता नही था, पर बालेश्वर यूनिवर्सल इम्पोरियम
की तलाशी लेते समय कोप्तिपोदा नाम कही लिखा मिल गया। पहले तो पुलिस
यह समझी कि यह कोई गुप्त शब्द है, पर स्थानीय पुलिस वालों से यह पता लगा
कि कोप्तिपोदा एक गाव का नाम है, इसलिए पुलिस बिना जानकारी के कोप्ति-
पोदा का रहस्य उद्‌घाटित करने पहुची। वहा पता लगा कि हां, तीन अपरिचित
और क्रान्तिकारी ढग के युवक इधर रहते थे, वे कभी-कभी गाव में आते थे। बड़ी
कठिनाई से उस स्थल का पता लगा, जहा क्रान्तिकारी अपना आश्रम या आश्रय
बनाए हुए थे। जब पुलिस वहा पहुची तो चिड़िया उड चुकी थी, पर जब उस
स्थान की तलाशी ली गई, तो यह ज्ञात हो गया कि क्रान्तिकारी बहुत भयकर किस्म
के थे, क्योंकि चारो तरफ गोलिया चलाने के चिह्न थे, जिससे ज्ञात होता था कि
क्रान्तिकारी गोलिया चलाने का अभ्यास करते है। साथ ही और तलाश करने पर
सुन्दरवन का एक मानचित्र और पेनाग मे प्रकाशित एक समाचारपत्र की कटिंग
मिल गई, जिसमे मावेरिक नामक जहाज की यात्रा की खबर दी गई थी।

अब तो ब्रिटिश अधिकारियों के होश उड गए। कंचुआ खोदा तो सांप
निकला। यह तो अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र था और पता नहीं कब से चल रहा है और
उसके फलस्वरूप न जाने भारत मे कितना अस्त्र-शस्त्र आया है। फौरन ही मजिस्ट्रेट
किलवी ने रेलवे स्टेशन मे जाकर ट्रेन के रास्ते बन्द कर दिए।

यतीन्द्रनाथ अपने चार साथियों के साथ दौड़ते-भागते बूढ़ी बालाम नदी के
किनारे चलकर गोविन्दपुर नामक एक स्थान पर पहुचे। उन दिनों नदी बढ़ी हुई
थी, क्योंकि अगस्त (1915) के दिन थे, इसलिए उसे बिना नाव के पार करना

सम्भव नहीं था। तब क्रान्तिकारियों ने सानासाह नामक एक उड़िया मल्लाह से कहा कि हमें नदी पार करा दो।

पर वह बोला, "मेरी नैया बहुत छोटी है, इसमें पांच आदमी पार नहीं हो सकते।" उसने बता दिया, "पास ही और भी नावें हैं और बाबू लोग वहां से पार कर सकते हैं।"

कुछ दूर जाने पर क्रान्तिकारियों को सचमुच कुछ नावें मिलीं, पर वहां कोई मल्लाह नहीं था। हां, एक गांव वाला बैठकर मछली पकड़ रहा था। यतीन्द्रनाथ ने उससे कहा कि नदी पार करा दो। उसे पैसे दिए गए और उसने नदी पार करा दिया। पर यहीं से विपत्ति पीछे लग गई, क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने अपने सारे साधन लगाकर फैला दिया था कि कोई भी अज्ञात आदमी इधर दिखाई पड़े तो उसकी खबर फौरन दफेदार-चौकीदार को दी जाए। उस मल्लाह ने पांच आदमियों को पार करते समय पूछा कि आप लोग कहां जाएंगे तो यतीन्द्रनाथ ने बताया कि हम लोग बालेश्वर स्टेशन जा रहे हैं। मल्लाह ने जाकर फौरन खबर पहुंचा दी, पर यतीन्द्रनाथ बालेश्वर स्टेशन गए ही नहीं। वह बांध के सहारे घने जंगल में घुस गए। उस मल्लाह को यह भी पता लगा और उसने यह खबर फैला दी कि पांच जर्मन जंगल में घुसे हुए हैं। उड़ीसा और बंगाल के लोगों में चेहरे का विशेष फर्क नहीं होता है, बोली भी ऐसी है कि एक-दूसरे को समझ लेते हैं, पर सीधे-सादे ग्रामवासी जर्मन क्या होता है, यह नहीं जानते, इसलिए उन्होंने पांचों बंगाली युवकों को जर्मन समझ लिया। अब जो यह बात फैल गई कि अपने इलाके में जर्मन आए हुए हैं, तो गांव वालों में बहुत अधिक कौतूहल पैदा हुआ और गांव वाले पांच युवकों के पीछे-पीछे चलने लगे। चौकीदारों ने इसका लाभ उठाया और पुरस्कार के लोभ से अधिक से अधिक गांव वालों को क्रान्तिकारियों के पीछे डाल दिया।

जर्मन देखने का लोभ

अब तो क्रान्तिकारियों के लिए बहुत भयंकर स्थिति हो गई, क्योंकि जर्मन देखने के लोभ से सब लोग अपना काम-काज छोड़कर उन पांच व्यक्तियों के पीछे हो गए। इसी हालत में क्रान्तिकारी दामुद नामक गांव के पास पहुंचे, तो वहां के पार वाले भी पीछा करने वालों की बात सुनकर क्रान्तिकारियों के पीछे पड़ गए। जनता की संख्या बढ़ती ही चली गई, जब क्रान्तिकारियों ने दो-चार खाली कारतूस छोड़े, तो जनता कुछ पीछे हो गई, फिर भी पीछा करती रही। तब मनोरंजन ने मजबूरी से भीड़ पर गोली चलाई। एक तरफ दफादार, चौकीदार और भीड़ थी दूसरी तरफ पुलिस से भागते हुए पांच क्रान्तिकारी। जब भीड़ किसी तरह नहीं मानी, तब क्रान्तिकारियों ने असली गोली चलाई जिससे राज महन्ती नामक एक

ग्रामवासी मारा गया और सुदान गिरि नामक एक व्यक्ति घायल हुआ। जब भीड़ ने यह देखा कि उनका एक आदमी मर गया तब तमाशा देखने की प्रवृत्ति शान्त हुई और फिर भीड़ आगे नहीं बढ़ी।

इसका फायदा उठाकर क्रान्तिकारी जंगल में गायब हो गए। अब पांचों क्रान्तिकारी थोड़ा आगे बढ़े, तो उन्हें एक छोटी नदी मिली। यह नदी पार की जा सकती थी, पर सवाल यह था कि पिस्तौल-कारतूसों को भीगने से कैसे बचाया जाए। क्रान्तिकारियों ने सारी सामग्री को पोटलियों में बन्द कर दिया और सिर पर पोटलियों को रखकर तैरकर नदी को पार किया। नदी के उस पार चसकन्द नाम का एक गांव मिला। और इसके बाद ही घना जंगल शुरू होता था। यह तय हुआ कि इसी जंगल में तब तक रहा जाए जब तक कि आगे की स्थिति साफ न हो जाए। उधर ब्रिटिश सरकार के कर्मचारी क्रान्तिकारियों का पता लगा रहे थे। इतने में यह खबर मिली कि इस प्रकार क्रान्तिकारियों में और गांव वालों में लड़ाई हुई और उनमें एक ग्रामीण घायल हुआ तथा दूसरा मारा गया। खबर पाते ही मजिस्ट्रेट मिस्टर किलबी सशस्त्र पुलिस और कई गोरों के साथ, जिनमें क्रांतिकारियों के जानी दुश्मन टेगर्ट भी थे, बूढ़ी बलान नदी के किनारे पहुंच गए। वहां उन्होंने आपस में सलाह की कि कैसे घने जंगल में छुपे हुए क्रान्तिकारियों को जिन्दा या मुर्दा पकड़ा जाए। यह निश्चय हुआ कि एक टुकड़ी मयूरभंज की तरफ और दूसरी टुकड़ी मेदिनीपुर रवाना हो। इस प्रकार क्रान्तिकारियों को घेर लिया जाए।

तदनुसार दोनों तरफ से जंगल को घेर लिया गया और कंघी-सी चलाते हुए दो टुकड़ियां दो तरफ से आगे बढ़ीं। यतीन्द्र मुखर्जी को थोड़े ही समय के अन्दर यह समझ में आ गया कि शायद बचना मुश्किल है। भागने का कोई भी उपाय नहीं था। एक तरफ प्रबल पराक्रमी ब्रिटिश सरकार के सारे साधन, केवल यही नहीं, उसके साथ मूर्ख भारतीय जनता जो पुलिस के भड़काने पर यह समझ रही थी कि ये जर्मनों, डाकुओं या चोरों का गिरोह है और दूसरी तरफ पांच नवयुवक थे जो कई दिन के भूखे-प्यासे थे, सोने का भी मौका नहीं मिला था। इस प्रकार यह स्पष्ट था कि पराजय अवश्यम्भावी है।

क्रान्तिकारियों के सामने दो ही मार्ग थे, एक तो आत्मसमर्पण और दूसरे सम्मुख युद्ध में अपने प्राणों का विसर्जन। यतीन्द्र मुखर्जी के नेतृत्व में सब क्रान्तिकारियों ने यही तय किया कि युद्ध करते हुए शहीद हो जाना ही एकमात्र रास्ता है, जिसे अपनाया जा सकता है। जब यह निश्चित हो गया तो क्रान्तिकारी गोलियों का जवाब गोलियों से देने के लिए तैयार हो गए। यह कोई लड़ाई नहीं थी, क्योंकि पुलिस वालों की संख्या 100 से ऊपर थी और उनके पास राइफलें और घोड़े थे, जबकि क्रान्तिकारियों के पास केवल पिस्तौलें थीं और गोलियों की संख्या भी बहुत सीमित थी। फिर भी क्रान्तिकारी मरने को तैयार हो चुके थे, इसलिए वे

आगे बढ़कर हमला करने लगे। पुलिस वालों में से कई उनकी गोली खाकर धराशायी हो गए। कई घण्टों तक लड़ाई चली। इतने में चित्तप्रिय के सीने के पास गोली लगी, फिर भी वह लड़ते रहे। एक गोली आकर यतीन्द्र मुखर्जी की जांघ में लगी, फिर भी वह लड़ते रहे। चित्तप्रिय के शरीर से बहुत खून जा रहा था और वह अब बेहोश हो रहे थे। यह देखकर यतीन्द्र उनके पास जाकर उन्हें अपनी गोद में रखना चाहते थे कि एक गोली आकर यतीन्द्र के पेट में लगी। अब की बार वह बहुत घायल हो गए।

यतीन्द्र स्वयं तो जीवन की आशा छोड़ चुके थे और चित्तप्रिय भी यदि शहीद नहीं हुए थे, तो होने ही वाले थे; दूसरे क्रान्तिकारी भी घायल हो चुके थे। अब यतीन्द्र ने यह फैसला किया कि व्यर्थ में अब दूसरों को क्यों मारा जाए, इसलिए उन्होंने अपने शरीर से चादर उतारकर उसे सफेद झण्डे के रूप में तान दिया। तब पुलिस वाले आगे बढ़े। उस समय तक चित्तप्रिय शहीद हो चुके थे। जब गोरे अफसर और पुलिसवाले वहां पहुंचे तो वहां का दृश्य देखा कि एक क्रान्तिकारी मर चुका है, दूसरा जो बहुत घायल है उसे गोद में लिए हुए है। पुलिस वालों को सिर पर आया हुआ देखकर यतीन्द्र मुखर्जी ने मनोरंजन से पानी मांगा। मनोरंजन अस्त्र छोड़कर चादर लेकर नदी में गए और वहां से चादर भिगोकर उससे बूंद टपकाकर अपने नेता को पिलाया।

अब यतीन्द्र ने मि० किलवी को सामने देखा तो कहा, "मैं नहीं जानता था कि आप आए हैं। आप तो अपना कर्त्तव्य कर रहे हैं, पर मैं बंगाली पुलिस वालों को गोली मारना नहीं चाहता था। आप इसपर कुछ बुरा न मानें।"

मजिस्ट्रेट साहब यतीन्द्रनाथ की बात से खुश हुए। मनोरंजन और नीरेन्द्र गिरफ्तार कर लिए गए क्योंकि उन्हें मामूली चोटें आई थीं। चित्तप्रिय, यतीश और यतीन्द्र के लिए तीन खाटें तैयार की गईं और वे उनमें लिटा दिए गए। यतीन्द्रनाथ को केवल उन दो लड़कों की फिक्र थी, बोले, "देखिए, देख रहे हैं न, गोलियां तो मैंने और चित्तप्रिय ने चलाईं। ये सम्पूर्ण रूप से निर्दोष हैं। इनपर कोई ज्यादती न करें। सारी बातों के लिए मैं जिम्मेदार हूं।"

यतीन्द्रनाथ और यतीश को अस्पताल भेजा गया, पर यतीन्द्र अगले दिन स्वतन्त्रता का स्वप्न देखते हुए परलोक सिधार गए।

बाकी बचे नीरेन्द्र, मनोरंजन और यतीश। इन तीनों पर न्याय और व्यवस्था से स्थापित ब्रिटिश सरकार को सशस्त्र शक्ति द्वारा उलटने का अभियोग लगाया गया। 1915 की पहली अक्टूबर से 15 अक्टूबर तक इनपर मुकदमा चला। मुकदमा एक ट्रिब्यूनल के सामने चला, जिसमें एक तो अंग्रेज था—बालेश्वर का जज, बाकी थे वकील, रायबहादुर निमाईचरण मित्र और सब-जज राय बहादुर दयानिधि दास।

बहुत दिनों तक लोगों को विश्वास नहीं हुआ कि यतीन्द्र मुखर्जी शहीद हुए हैं। किसीने उनकी लाश नहीं देखी, इसलिए उनकी पत्नी इन्दुबाला देवी बारह वर्ष तक सधवा की तरह रहीं और उसके बाद हिन्दू रीति के अनुसार कुश का पुतला जलाकर अपने को विधवा माना।

बिस्मिल ने कहा है :

हे शहीदे-मुल्कोमिल्लत मैं तेरे ऊपर निसार।
अब तेरी हिम्मत का चर्चा गैर की महफिल में है।

यही बात इन वीरों के सम्बन्ध में चरितार्थ हुई। क्रान्तिकारियों के दुश्मन टेगर्ट साहब ने किसीसे कहा था, "यद्यपि मुझे अपना कर्तव्य करना पड़ा, पर मेरे मन में उनके प्रति बड़ी प्रशंसा की भावना है। वे ही एकमात्र बंगाली थे जो ट्रेंच के अन्दर से लड़ते हुए खेत रहे।"

स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में बालेश्वर की लड़ाई चिरस्मरणीय रहेगी।

यतीन्द्र मुखर्जी के शिष्य नरेन्द्र भट्टाचार्य उर्फ एम०एन० राय (मानवेन्द्रनाथ राय) शस्त्रास्त्र के सिलसिले में बटेविया भेजे गए थे, वहां से कैसे रूस पहुंचे, लेनिन से मिले और स्विट्जरलैण्ड से 'वैनगार्ड' (अग्रदूत) नामक पत्र निकालकर चोरी से भारत भेजते रहे, कैसे उनके नेतृत्व में ताशकन्द में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। (इस समय की कम्युनिस्ट पार्टियां उसकी शाखाएं नहीं हैं) फिर किस तरह वह कानपुर (1924), मेरठ (1928) षड्यन्त्र के फरार नेता करार दिए गए, यह लम्बी कहानी है। यद्यपि एम० एन० राय पुराने क्रान्तिकारी आन्दोलन से अलग हो चुके थे, पर वह यतीन्द्र मुखर्जी के अन्त तक महान प्रशंसक रहे।

दसवां अध्याय

असहयोग से पहले

क्रान्तिकारी आन्दोलन का ब्योरा मैंने पूरी तरह 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' में लिखा है, जिसका 1939 वाला प्रथम संस्करण ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। स्वतन्त्र भारत में ही वह फिर से छप सका।

यहां हम इस आन्दोलन में उत्तर भारत के क्रान्तिकारी नेता शचीन्द्रनाथ सान्याल के 'बन्दी जीवन' से कुछ सामग्री देंगे। वह एक चिन्तक भी थे। वह



चन्द्रशेखर आजाद
शहादत : 27 फरवरी, 1931



सरदार भगतसिंह
फांसी : 23 मार्च, 1931



सुखदेव

फांसी 23 मार्च, 1931



राजगुरु
फांसी : 23 मार्च, 1931



अशफाक उल्ला
फांसी 19 दिसम्बर, 1927



यतीन्द्रनाथ दास
शहीद 13 सितम्बर 1929



प्रीति वादेदार
गोली खाकर से आत्महत्या
24 सितम्बर, 1932



सूर्यसेन
फांसी 12 जनवरी 1934



रामप्रसाद बिस्मिल
फांसी 19 दिसम्बर 1927



[illegible] वीर सावरकर



राजेन्द्र लाहिड़ी
फांसी 17 दिसम्बर, 1927



गणेशशंकर विद्यार्थी
शहादत 25 मार्च, 1931

अध्यात्मवादी थे, पर पुरोहित, मुल्ला में वह विश्वास नहीं करते थे। वह आर्थिक मामलों में समाजवादी पद्धति को ठीक समझते थे। वह जो कुछ थे खुले आम थे, कम्युनिस्टों की तरह ऊपर से मार्क्सवादी, भीतर से घण्टा बजाने वाले, हनुमान-चालीसा पढ़ने वाले, कलमा पढ़कर शादी करने वाले नहीं थे।

प्रथम महायुद्ध के जमाने में ही रासबिहारी बोस के साथ उत्तर भारत के क्रान्तिकारी आंदोलन के नेता होने के कारण उन्हें आजीवन काले पानी की सजा मिली। उनको बनारस षड्यन्त्र में सजा दी गई, पर लार्ड हार्डिंग पर 23 दिसम्बर, 1912 को जो हमला हुआ था, उसकी जानकारी उन्हें थी। पहले ब्रिटिश भारत की राजधानी कलकत्ते में थी। जब अंग्रेज बंगाल के क्रान्तिकारियों से परेशान हो गए, तो उन्होंने बंगभंग रद्द कर दिया और वह राजधानी को कलकत्ते से उठाकर दिल्ली ले आए। उस समय तक आन्दोलन का लक्ष्य बंगभंग रद्द कराने से बढ़कर स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो चुका था, इसलिए पहली चाल व्यर्थ गई।

वायसराय पर बम

कलकत्ते से राजधानी हटाकर राजधानी को दिल्ली लाने का जवाब था हार्डिंग पर आक्रमण। चांदनी चौक में जब लार्ड हार्डिंग हाथी पर जुलूस में जा रहे थे, तो बसन्तकुमार दास ने (जो पहले रासबिहारी बोस के परिचारक, बाद को साथी क्रान्तिकारी हो गए) उनपर बम फेंका। वायसराय तो बच गए, उनका अंगरक्षक वहीं ढेर हो गया। यद्यपि हार्डिंग बच गए, पर सरकार दिल्ली में राजधानी लाकर जो रोब पैदा करना चाहती थी, वह पैदा नहीं हुआ। मदनलाल धींगड़ा की तरह यह भी अन्तर्राष्ट्रीय समाचार बन गया और ब्रिटिश सरकार की भद्द हो गई। इसका बदला सरकार ने कुछ षड्यन्त्र चलाकर लिया, जिसमें मास्टर अमीरचन्द, अवधबिहारी, बालमुकुन्द और बसन्तकुमार दास को फांसी की सजा हुई। लाला हरदयाल का भी इन लोगों से सम्बन्ध था, पर वह पकड़े न जा सके। रासबिहारी जहाज पर खलासी बनकर जापान में जा बसे। वहीं उन्होंने जापानी भाषा में भारत पर कई ग्रन्थ लिखे। बाद को वह आजाद हिन्द फौज के नेता हो गए। सुभाष के सिंगापुर पहुंचने पर उन्होंने फौज का नेतृत्व उन्हें सौंप दिया। यह कितनी बड़ी बात थी, इसको हम तभी समझ सकते हैं जब हम इस समय राजनीति में फैली हुई पद-लोलुपता के साथ उसकी तुलना करें। रासबिहारी आदि क्रान्तिकारी नेतागीरी कायम रखने को उत्सुक नहीं थे; यह देखकर कि सुभाष के नेतृत्व में ज्यादा काम होगा, वृद्ध नेता ने युवक सुभाष को खुशी से नेतृत्व सौंप दिया।

अमीरचन्द, बालमुकुन्द, अवधबिहारी दिल्ली के प्रमुख क्रान्तिकारी नागरिक थे। इन तीनों को दिल्ली जेल में (अब वहां मौलाना आजाद अस्पताल है) और बसन्तकुमार

दास को पंजाब जेल में फांसी हुई।

मैनपुरी षड्यन्त्र और गेंदालाल दीक्षित

उत्तर भारत के मैनपुरी में एक षड्यन्त्र हुआ, जो मैनपुरी षड्यन्त्र कहलाया। इसके नेता थे गेंदालाल दीक्षित, जो डकैतों को सुधार कर क्रान्तिकारी बनाने का स्वप्न देखते थे। उनका विश्वास था कि तरलमति छात्रों से डकैत कहीं कारगर सिद्ध हो सकते हैं। रामप्रसाद बिस्मिल और मुकुन्दीलाल पहले-पहल इन्हींके शिष्य थे।

इस दल के क्रान्तिकारी एक काव्यमय प्रतिज्ञा करते थे। इस दल में कवि एक ही थे—रामप्रसाद बिस्मिल, इससे अनुमान करता हूं यह उन्हींकी रचना है, पर ऐसा हो सकता है यह रचना बहुत कुछ सामूहिक प्रयास का फल हो।

मैनपुरी की प्रतिज्ञा

है देश को स्वाधीन करना जन्म मम संसार में,
तत्पर रहूँगा मैं सदा अंग्रेज दल संहार में।
अन्याय का बदला चुकाना मुख्य मेरा कर्म है,
मद दलन अत्याचारियों का यह प्रथम शुचि कर्म है।
मेरी अनेकों भावनाएँ उठ रहीं हृद्-धाम में,
बस शान्त केवल कर सकूँगा मैं उन्हें संग्राम में।
स्वाधीनता का मूल्य बढ़कर है सभी संसार से,
बदला चुकेगा हरणकर्ता के रुधिर की धार से।
अंग्रेज रुधिर प्रवाह में निज पितृगण तर्पण करूँ,
अंग्रेज सिर सहित भक्ति में जननी के अर्पण करूँ।
हो तुष्ट दु:शासन-रुधिर स्नान से यह द्रौपदी,
हो सहस्रबाहु विनाश से यह रेणुका सुख में पगी।
है कठिन अत्याचार का ऋण ब्रिटिश ने हमको दिया,
सह ब्याज उसके उऋण का कठिन प्रण है किया।
मैं अमर हूँ मेरा कभी भी नाश हो सकता नहीं,
है देह नश्वर प्राण इसका हो कहीं मरना नहीं।
होंगे हमारे मास जग में पददलित होंगी नहीं,
रहते परोक्ष पुत्र के जननी दुखित होगी नहीं।
उद्धार हो जब देश का इस कलेश कारागार से,
भयभीत तब होंगे नहीं हम जेल से तलवार से।
रहते हुए तन प्राण रण से मुख न मोड़ेंगे कभी,

कर शक्ति है जब तक न अपने शस्त्र छोड़ेंगे कभी।
परतन्त्र होकर स्वर्ग में भी वास की इच्छा नहीं,
स्वाधीन होकर नरक में रहना भला उससे कहीं।
है सुवर्ण पिंजर वास अति दुख पूर्ण सुन्दर कीर को,
वह चाहता स्वच्छंद विचरण अति विपिन गम्भीर को।
जंजीर की झनकार में शुभ गीत गाते जाएँगे,
तलवार के आघात में निज जय मचाते जाएँगे।
हे ईश, भारतवर्ष में शत बार मेरा जन्म हो,
कारण सदा ही मृत्यु का देशोपकारक कर्म हो।
(क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, पृ० 117–18)

गेंदालाल दीक्षित का जन्म एक गांव में हुआ था। यह 1889 की बात है। दीक्षित जी ने बड़ी कठिनाइयों से एण्ट्रेन्स पास किया था। वह चाहते थे कि और आगे पढ़ें, पर इतने गरीब थे कि वह आगे पढ़ नहीं सके। उस जमाने में एंट्रेंस पास करने से ही नौकरी मिल जाती थी। इसलिए उनको नौकरी में लग जाना पड़ा। श्यामनन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल में उन्हें शिक्षक का कार्य मिला। वह स्वामी दयानन्द द्वारा चलाए हुए आर्यसमाज के सदस्य थे। उन दिनों आर्यसमाज एक क्रान्तिकारी शक्ति के रूप में था। आर्यसमाजियों के मन में प्रबल इच्छा थी कि भारत कभी गौरवशाली था, वह फिर से उसी प्रकार गौरवशाली बने। आर्यसमाजी चाहते थे कि भारत का पुनरुत्थान हो।

गेंदालाल दीक्षित अखबार पढ़ते थे। उस जमाने में अखबार आज की तुलना में बहुत पिछड़े हुए थे। फिर भी उनमें राष्ट्रीयता की आवाज गूंज रही थी। गेंदालाल दीक्षित पर यह प्रभाव पड़ा कि देश को स्वतन्त्र कराना चाहिए। महाराष्ट्र और बंगाल के क्रान्तिकारियों की खबर उन तक पहुंच चुकी थी और वह चाहते थे कि उत्तर भारत में भी एक क्रान्तिकारी दल बनाया जाए। तब गेंदालाल दीक्षित ने छत्रपति शिवाजी के नाम पर एक शिवाजी समिति बनाई। इस समिति का लक्ष्य यह था कि देश को किसी भी तरीके से स्वतन्त्र किया जाए। शिवाजी ने मुगलों से छुटकारा पाने के लिए लड़ाई की थी—यह उदाहरण दिखाया गया कि अब अंग्रेजों से छुटकारा पाने के लिए लड़ाई करने की जरूरत है। गेंदालाल ने यह बात अपने छात्रों और पढ़े-लिखे लोगों से कही। पर किसी ने भी उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। पढ़े-लिखे लोग चाहते थे कि उन्हें नौकरी मिले, धन मिले। वह देश की सेवा नहीं करना चाहते थे। क्रान्तिकारी बनना तो बहुत दूर की बात है; उन्हें इस बात से बड़ा कष्ट हुआ कि पढ़े-लिखे लोग उन्नति माने अपनी उन्नति समझते हैं, देश की उन्नति नहीं।

जब वह पढ़े-लिखे लोगों से निराश हो गए, तो उनका ध्यान चम्बल और

यमुना के डाकुओं की ओर गया। उन्होंने देखा कि ये डाकू बिलकुल निडर हैं और उनके पास हथियार भी हैं। इसलिए उन्होंने डाकुओं को सगठित करने की बात सोची। उन्हें बहुत थोड़े-से पढ़े-लिखे लोगों का साथ मिला, जिनमें हमारे रामप्रसाद बिस्मिल प्रमुख थे।

गेंदालाल दीक्षित ने डाकुओं को लेकर जो संगठन तैयार किया, वह सफल नहीं हुआ। कारण यह था कि डाकुओं में बहादुरी अवश्य थी पर वे क्रान्तिकारी नहीं हो सकते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उनका दल छिन्न-भिन्न हो गया। और वह पकड़ लिए गए। पर वह जेल में आकर भी नहीं घबराए। वह वहां से भी एक मुखबिर को लेकर भाग निकले और बहुत करुण स्थिति में उनका देहान्त हुआ।

रामप्रसाद बिस्मिल इन्हीं गुरु गेंदालाल के शिष्य थे। वह गिरफ्तार नहीं हो सके और वर्षों तक किसान के भेस में किसानों का काम करते रहे। और पुलिस उन्हें बिलकुल पकड़ नहीं सकी।

जब 1919 में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर राजनैतिक कैदियों को माफी दे दी गई, तो फरार रामप्रसाद बिस्मिल को भी माफी दे दी गई। तब वह अपने छिपने के स्थान से बाहर आए और शाहजहांपुर में काम करने लगे। पर वह तो क्रान्ति करना चाहते थे। उनका मन इन कामों में नहीं लगा। फिर भी कुछ तो करना ही था। इसलिए उन्होंने रेशम का करघा लगाकर उसपर काम करना शुरू किया।

रामप्रसाद के बाप-दादा ग्वालियर राज्य के रहने वाले थे। वहीं से आकर यह इधर बसे थे। उनके पिता कई घरेलू विपत्तियों के कारण इधर आकर बसे थे। वह साधारण व्यक्ति थे। और साधारण रूप से ही जीवन व्यतीत करना चाहते थे। सात वर्ष की उम्र में रामप्रसाद बिस्मिल पढ़ने के लिए बिठाए गए थे। उन्हें हिन्दी, उर्दू दोनों की शिक्षा मिली थी। रामप्रसाद के कई भाई और बहन थे। बचपन से ही रामप्रसाद का मन घर में नहीं लगता था। वह चुपचाप सोचा करते थे और इधर-उधर की किताबें पढ़ा करते थे। वह आर्यसमाज के मंदिर में जाने लगे थे। वहां पर उन दिनों जो लोग नेता थे, उन्होंने उन्हें सत्यार्थप्रकाश दिया। सत्यार्थप्रकाश पढ़कर उनकी आंखें एक हद तक खुल गईं। वहां तो वह बुरी आदतों की ओर जा रहे थे और अब वह एकाएक पलट गए। वह अपने शरीर को कष्ट देने के लिए एक तख्त पर कम्बल बिछाकर सोने लगे। रात के समय खाना भी छोड़ दिया। किसीने कहा कि नमक नहीं खाना चाहिए तो उन्होंने बस नमक खाना भी छोड़ दिया। मिर्च-खटाई आदि तो वह छूते ही नहीं थे। चार सालों तक नमक नहीं खाया। साथ ही वह आसन और दूसरे व्यायाम भी करते थे। इस प्रकार से उनका शरीर बहुत सुन्दर बन गया और मन तो पहले ही पवित्र

हो चुका था। इन्हीं दिनों उनकी भेंट गेंदालाल दीक्षित से हुई और उन्हीं के कारण वह क्रान्तिकारी आन्दोलन में आए। उन्होंने देखा कि केवल आर्यसमाजी बनने से कुछ नहीं होगा। असली बात तो यह है कि अंग्रेजों को निकाल बाहर करना चाहिए। उसीके अनुसार गेंदालाल ने जो भी रास्ता दिखलाया उसीके अनुरूप वह चलने लगे। वह अमरीका को स्वाधीन कराने वाले जार्ज वाशिंगटन आदि की कहानी से प्रभावित हुए। उन दिनों भारत में वाशिंगटन और उनके साथियों की बहुत ख्याति थी और लोग समझते थे कि अगर गोरे होते हुए भी अमरीकनों ने अंग्रेजों की गुलामी से अपना छुटकारा कर लिया तो हमारे साथ तो अंग्रेजों का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। हमें स्वतन्त्र होना चाहिए।

रामप्रसाद को लिखने का भी शौक लग गया और उन्होंने छोटी-मोटी कई पुस्तकें लिखीं। एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था 'अमरीका को स्वाधीनता कैसे मिली'। इस प्रकार बोलशेविकों या रूसी क्रान्तिकारियों पर भी एक पुस्तक लिखी गई। उन्होंने 'कैथराइन' नाम से भी एक पुस्तक लिखी, इसे उन्होंने प्रकाशक को दिया। इसके बाद उन्होंने 'रंग' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की, यह भी देशभक्ति-पूर्ण पुस्तक थी। जब रामप्रसाद बिस्मिल फरारी के जीवन से वापस आए, तो उनके मन में यह लहर उठ रही थी, 'क्या मैं एक साधारण नागरिक बन जाऊं, जैसा कि सरकार चाहती है या मैं कुछ करूं?' इन दिनों उन्होंने गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पादकत्व में निकलने वाली पत्रिका 'प्रभा' में गेंदालाल दीक्षित आदि पर कई लेख लिखे। इन्हीं लेखों से पता लगा कि गेंदालाल दीक्षित ने किस प्रकार से क्रान्तिकारी कार्य किया था। इसके पहले किसीको इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं थी। रामप्रसाद बिस्मिल लिखते रहे और सोचते रहे।

नीरव त्यागी नलिनी बागची

श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल ने अपनी अमर कृति 'बन्दी जीवन' में नीरव त्यागी का एक उदाहरण दिया, जो प्रकाशित हो चुका है। यह तो हम पहले बता चुके हैं कि 9 सितम्बर, सन् 1915 को यतीन बाबू और उनके साथियों ने बालेश्वर की पुरी लड़ाई में प्राण दिए। किन्तु, उनके बाद भी प्रायः सन् 1918 तक विप्लवियों के अस्तित्व का परिचय विशेष रूप से मिलता रहा। सन् 1916 के अन्तिम भाग में खुफिया विभाग के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय पर, जो इससे पहले दो बार आत्मरक्षार्थ तरीकों से बच गए थे, तीसरी बार विप्लवियों ने हमला कर उन्हें साफ कर दिया। सन् 1917 में गौहाटी में विप्लवियों के साथ पुलिस का मुठभेड़ हुआ, जिसमें विप्लवियों के दो व्यक्ति [illegible]। ढाका में भी एक छोटी-मोटी मुठभेड़ हुई, इन सबके अलावा खून-डकैती तो जारी ही थी। इन सब लगातार मुठभेड़ों का थोड़ा-बहुत परिचय यहां देते हैं। सम्भवतः सन् 1916 में

विप्लव दल की ओर से बिहार में विप्लववाद का प्रचार करने को वीरभूमि के नलिनी बागची भागलपुर के कालेज में पढ़ने भेजे गए। कुछ ही दिनों में इस बंगाली पर पुलिस की नजर पड़ गई। नलिनी पढ़ना छोड़कर फरार हो गए। नलिनी छात्रवृत्ति पाने वाले अच्छे विद्यार्थी थे, पर छात्रवृत्ति के झंझट में कौन पड़े! नलिनी एकदम खालिस बिहारी बनकर बिहार के शहर-शहर में घूमने लगे। कुछ ही दिन बाद फिर पुलिस की नजर में पड़े। जब नलिनी बंगाल आए, तब था, सन् 1917। बंगाल का उस समय बुरा हाल और टेढ़े दिन थे—चारों ओर थी धर-पकड़, खाना-तलाशी, नजरबन्दी, देसनिकाला और गोलियों की बौछार। इसीमें बंगाल में रहना तब खतरे से खाली नहीं था। विप्लवी दल में तब यह फैसला हुआ कि दल के अच्छे-अच्छे कार्यकर्ताओं को आसाम के किसी अच्छे स्थान में सुरक्षित सेना के रूप में रखा जाए। फलतः नलिनी बागची, नलिनी घोष, नरेन बनर्जी और अन्य अनेक लोगों ने गौहाटी (आसाम) में आकर आश्रय लिया। सोते समय उनके सिरहाने भरी रिवाल्वरें रहती और उन्हींमें से एक-एक आदमी दो-दो घंटे के लिए पहरेदार के रूप में खिड़की के नजदीक सावधानी से बैठा रहता।

कलकत्ते की पुलिस ने किसी गिरफ्तार विप्लववादी के पास से गौहाटी का सवाद पाकर 9 जनवरी, सन् 1917 को यह मकान घेर लिया। पहरेदार ने पुलिस को आते देख सबको जगा दिया, पर चुपचाप ही। रिवाल्वर और पिस्तौल हाथ में लेकर सभी बाहर आकर पुलिस पर गोलियां दागने लगे। इस एकाएक आक्रमण से पुलिस छिन्न-भिन्न हो गई और इसी बीच विप्लवी भी पहाड़ की ओर खिसक गए, किन्तु तीसरे पहर अनगिनत सशस्त्र पुलिस ने आकर सारी पहाड़ी के आसपास घेरा डाल दिया। दोनों ओर से गोली चली, बहुत-से क्रान्तिकारी घायल होकर पकड़े गए। इसमें केवल दो जन पुलिस की आंख बचाकर भाग गये। इन दो में एक यही नलिनी थे। छह दिन रास्ता चलकर पहाड़ पार होकर नलिनी लामडिंग स्टेशन पर आ पहुंचे। यह यात्रा क्या सीधी बात थी! बगैर खाए और सोए प्रतिदिन चढ़ाई-उतराई पर गोड़े तोड़ने पड़ते थे। सदा पुलिस की नजर से अपने को बचाते हुए कभी वृक्ष पर चढ़कर, कभी पहाड़ की चोटी पर—किसी चट्टान पर सोकर रात कटती थी। बराबर तेज चाल से पहाड़ की चढ़ाई-उतराई में चलते-चलते हाथ-पैर की उंगलियों में दरारें पड़ गईं। फिर क्या पेट भरने की ही व्यवस्था थी! पहाड़ की एक किस्म की चिचड़ी नलिनी के माथे और पीठ में चिपट गई, अनेक तरह से खींचने-छुड़ाने से भी वह नहीं छूटी। इस चिचड़ी का सिर गड़ जाने की पीड़ा से जर्जरित होकर नलिनी एकदम बेहाल हो गए। अस्तु, मौत के साथ लड़ाई लड़कर, आसाम की पुलिस के हाथ से बचकर, नलिनी बिहार आए, किन्तु वहां रहना निरापद न था। यह देख वह फिर बंगाल को आए। हावड़ा स्टेशन पर उतरकर जिनके मिलने की आशा की थी, उनमें से किसी-

को न देख पाया। संग में एक रिवाल्वर था। कहां जाएं? पखवाड़े से अधिक हो चुका था जब से न खाना, न सोना, न कोई और नियम रहा था, शरीर टूट चुका था, जहरीला कीड़ा तब भी साथे और देह में चिपटा हुआ था, हफ्ता में ही नलिनी को तेज बुखार हो गया। लाचार कोई उपाय न देखकर वे किले के मैदान के एक पेड़ के नीचे सो गए। मुर्दे की तरह दिन-रात वहीं पड़े रहे। परले दिन दैवयोग से उनके एक परिचित विप्लवी ने उन्हें देख लिया। उनके सब अंगों में उस समय चेचक के चिह्न दिखाई दिए। कलकत्ते में विप्लवियों की अवस्था उस समय अत्यन्त शोचनीय थी, प्रायः सभी विप्लवी पकड़े जा चुके थे। टका-पैसा तब किसी के हाथ में नहीं था, दो-चार जो बाकी थे, वे भी तब क्षीण आशा के साथ इधर-उधर घूमते-फिरते थे। कलकत्ते की एक छोटी-सी कोठरी में उन्हें रखा गया। चेचक से उनकी आंखें और मुंह ढक गए, जिह्वा अचल हो गई थी। तीन दिन तक बात करना भी बन्द रहा। इस प्रकार पैसा पास न होने से चिकित्सा कराए बिना दिन काटते रहे। इस मकान में उस समय केवल एक और विप्लववादी अपने-आपको छिपाए हुए थे। मृत देह की यथोचित क्रिया करने को भी लोग कैसे जुटेंगे, यह समझ में न आता था। सन् 1918 में विप्लवियों की अवस्था ऐसी ही शोचनीय हो गई थी। किन्तु नलिनी इस चेचक से भी दबे नहीं। मृत्यु और भी महनीय रूप में दिखाई देने के लिए उस समय तक ढाका में प्रतीक्षा कर रही थी। चंगे होकर नलिनी बुझते विप्लव दीप का भार लेकर फिर ढाका पहुंचे। नलिनी और तारिणी मजुमदार एक ही मकान में रहते थे। सन् 1918 की 15 जून को भोर के समय पुलिस ने फिर नलिनी का मकान घेर लिया। फिर दोनों ओर से गोली चली। तारिणी के अंगों में बहुत गोलियां लगने से वे वहीं मरकर गिर पड़े। नलिनी ने गोली खाकर भी भागने की चेष्टा की, परन्तु फिर बन्दूक की गोली से घायल होकर उनका शरीर भी जमीन पर लोटने लगा।

विप्लववादी नलिनी घायल अवस्था में अस्पताल में लेटाए हुए हैं—पुलिस नाम-धाम जान लेने के लिए व्यग्र है। डाइंग डिक्लेरेशन—मरते समय का इकरार मांगती है।

मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए घायल विप्लववादी असह्य यन्त्रणा सहते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा में हैं। ऐसे समय साधारण व्यक्ति अपने को छिपा नहीं सकता, वरन् इच्छा होती है कि उसके कार्यों को देशवासी भली भांति जान जाएं। जिनके लिए वह मरता है वे जान जाएं कि किस प्रकार दूसरों के लिए प्राण दे गया, साधारण मनुष्य की यही इच्छा होती है। किन्तु विप्लववादियों की, अपनेको छिपाने की ऐसी साधारण नहीं होती। शिक्षा और साधना के बिना आत्मगोपन की ऐसी सामर्थ्य आती ही नहीं। मृत्यु के समय भी इच्छा नहीं है, कोई उन्हें जान जाए, या कोई उनका 'मूल्य' समझ ले—कोई सन्देश नहीं है। "वह नहीं चाहता कोई उस-

पर आंसू बहाए, कोई उसका नाम याद करे, कोई भी उसका गीत गाए। इसीलिए मृत्युशय्या पर पड़े विप्लववादी के क्षीण कण्ठ से उत्तर निकला, "तंग न करो भाई, मुझे शांति से मरने दो।'—डोण्ट डिस्टर्ब मी प्लीज, लेट मी डाई पीसफुली।"

पुलिस ने अनेक प्रकार से बात निकालने की चेष्टा की। कहा, "नाम तो बताओ⋯घर कहा है?" किन्तु उसका वह एक ही उत्तर था, "तंग न करो, शान्ति से मरने दो।"

सर्वइस्लामवाद

शचीन्द्रनाथ सान्याल ने चिन्तक होने के नाते हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्बन्ध पर भी विचार किया। उनके विचारों का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है, क्योंकि आज इस सम्बन्ध में कई कारणों से फिर से विचार करने की आवश्यकता है, "हमारे दल में मुसलमान दल का यही भेद था कि हम लोग स्वाधीन भारत के जिस रूप की कल्पना करते थे, उसमें हिन्दुओं के स्वावलम्बन की बात भले रही हो, हिन्दुओं की प्रधानता का कोई विचार न था, एवं हमारी कार्यप्रणाली में मुसलमानों को अलग रखने का ख्याल तो दूर रहा, हम तो उन्हें दल में खींचने की ही चेष्टा करते थे। हमारे बुलाने पर मुसलमान यदि नहीं आते थे, तो उसका कारण यह था कि मुसलमान लोग भारतवर्ष से हिन्दुओं की तरह प्रेम न करते थे। मुसलमानों के साथ मिलने-जुलने से हमारी यह धारणा हुई है कि हमारे देश के मुसलमान लोगों का तुर्की, मिस्र, अरब, फारस अथवा काबुल की ओर जितना खिंचाव है, भारत की ओर उतना नहीं है। वे तुर्की के गौरव से अपनेको जितना गौरवान्वित मानते हैं, भारतवासियों के, हिन्दुओं के गौरव से अपनेको उतना गौरवान्वित नहीं मानते। मुसलमानों के मन के भाव बहुत कुछ ऐसे थे, इसी कारण उनका विप्लव दल भी एक स्वतन्त्र रूप से गठित हुआ था। नवीन तुर्की के आदर्श से अनुप्राणित होकर भारत के अनेक मुसलमान विप्लववादियों ने भी निखिल-इस्लामिक आदर्श को ग्रहण किया था, इसीलिए भारत के मुसलमान विप्लव दल को केवल भारतीय विप्लव दल न कहकर भारत का मुसलमान विप्लव दल कहना संगत है।"

हम इस विषय पर विचार करते यह दिखा चुके हैं कि किस प्रकार देवबन्द के कट्टर मुसलमान मुल्ला आदि सर्वइस्लामवादी विचारों से प्रेरित होकर देश से बाहर मुस्लिम देशों में गए, पर वहां ठोकरें खाकर हिन्दू क्रान्तिकारियों के साथ मिल-जुलकर काम करने पर राजी हुए। यह दुःख की बात है कि वर्तमान समय में सोवियत और सऊदी अरब और शायद अमरीका मिलकर संगठन भारत में सर्व-इस्लामवाद का विस्तार होना चाहते हैं ताकि भारत के मुसलमान अरब और फारस के देशों की तरफ देखकर उजबेकिस्तान, ताजिकिस्तान की तरफ न देखें। भारत

के मध्यम वर्ग के मुसलमान सर्वइस्लामवाद के प्रभाव में हैं, पर ममार में क्या हो रहा है ? मुसलमान मुसलमान को मार रहे हैं।

सऊदी अरब में वहां के राजवंश के प्रति जनता का इतना असन्तोष है कि वहां की सेना भी इससे अछूती नहीं रखी जा सकी। इसलिए सऊदी अरब के राजवंश ने पाकिस्तान के डिक्टेटर, अपनेको राष्ट्रपति कहने वाले जिया से उन्हें रुपये लेकर पाकिस्तानी सेना के दो डिविजन दिए हैं। यह दोनों देशों की सरकार के लिए शर्मनाक है। इस प्रकार पाकिस्तानी सेना आकुपेशन आर्मी (देश हड़पनेवाली किराये की सेना) हो गई, जो सऊदी अरब की जनता को लोकतन्त्र प्राप्त करने से रोकेगी।

हम पहले ही बता चुके हैं कि पाकिस्तानी सेना ने 1971 की लड़ाई में, जिसमें बांगला देश की मुक्तिवाहिनी ने बहादुर भारतीय सेना की सहायता से स्वाधीनता प्राप्त की, 30 लाख बंगाली (जिनमें कम से कम 25 लाख मुसलमान होंगे क्योंकि हिन्दू भारत भाग आए थे) मारे और एक लाख स्त्रियों के साथ बलात्कार किया। इन एक लाख स्त्रियों में भी 75,000 मुसलमान रही होंगी।

ईरान के शाह ने भी अपनी 100 फीसदी मुस्लिम प्रजा के साथ कैसा भयंकर अत्याचार किया था, इसके कुछ सर्वमान्य आंकड़े पेश हैं। 1964 के जून में जब खुमैनी के 15,000 अनुयायी शाह द्वारा मौत के घाट उतार दिए गए, तब खुमैनी देश के बाहर चले गए। इसी प्रकार 1978 के 8 सितम्बर को शाह ने तेहरान की एक निहत्थी सभा पर चारों तरफ से घेरकर गोलियां चलाईं, उस अवसर पर हैलीकोप्टर से भी बम बरसाए गए। इसमें 15,000 से अधिक लोग मौत के घाट उतार दिए गए। हमारे इतिहास के जलियांवाला बाग का हीरो डायर ईरानी शाह के मुकाबले में बच्चा था, उसने तो 1000 निहत्थे भारतीय मारे थे। डायर के पास हैलीकोप्टर होता, तो वह भी शाह का योग्य पूर्वपुरुष माना जाता। पर एक भारी फर्क है, डायर अंग्रेज था, वह हिन्दुस्तानियों पर गोलियां चला रहा था, शाह ने मुसलमान होते हुए अपने देश के मुसलमानों की हत्या की। ईरान में खुमैनी ने मुस्लिम से 1200 सहारों को मृत्युदण्ड दिया। ये लोग शाह के नौकर और सिपाही के शामिल थे।

खुमैनी के शक्ति-आरूढ़ होने के बाद अयातुल्ला तैलेगानी मर गए। जब उनके मृत शरीर को कब्र देने से पहले बड़ी धूमधाम से साथ जुलूस दिया गया, तो पहली बार लोगों को पता लगा कि उनकी पीठ पर (जैसे ढोर को दागा जाता है) दगा था "शाह जिन्दाबाद!" शायद अयातुल्ला तैलेगानी को यह पता नहीं था कि उन्हें कैद करने के बाद उनके साथ क्या-क्या ज्यादती की गई। ये ज्यादती करने-वाले लोग मुसलमान ही थे। इस कारण सर्वइस्लामवाद भारतीय पढ़े-लिखे मुसलमानों को अधिक दिनों तक गुमराह नहीं कर सकता।

ग्यारहवां अध्याय

चौरी चौरा के बहाने
क्रांति के साथ विश्वासघात

सन् 1919 के 6 अप्रैल के जलियावाला हत्याकाण्ड से राष्ट्रीय चेतना को भयंकर ठेस लगी और वहीं से उसने एक मोड़ ले लिया। वहीं से पुराने कांग्रेसी नेताओं में से अधिकांश निकम्मे साबित हो गए क्योंकि वे आवेदन-निवेदन की राजनीति से आगे जाने को तैयार नहीं थे और गांधी जी ने गौरव के साथ भारतीय राजनैतिक रंगमंच पर प्रवेश किया। वहां उनका आकार दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता गया और वह सर्वव्यापी हो गया। असहयोग आंदोलन ने एक ऐसे शून्य की पूर्ति की, जिसे और कोई आंदोलनकारी नहीं भर पा रहा था।

असहयोग के पहले स्वतंत्रता-संग्राम के नाम पर ले-देकर जो कुछ भी था, वह क्रांतिकारी आंदोलन था। यह मुख्यतः, जैसा कि हम देख चुके, एक युवक और छात्र आंदोलन था, यद्यपि उसकी जड़ें जनता की चेतना की गहराई तक थीं जैसा कि बार-बार प्रमाणित हुआ था। हम यह भी देख चुके कि शहीदों को जब फांसी दी जाती थी तब यदि लाश दी जाती थी, तो उसके साथ लाखों की भीड़ होती थी। असहयोग ने भारतीय जनता के सामने वह अस्त्र जन पैमाने पर रखा, जिसकी उसे फिर भी बहुत सख्त जरूरत थी।

जलियावाला से आंदोलन के अश्वमेध का जो घोड़ा छूटा, वह चौरी चौरा पर जाकर लड़खड़ाकर गिरा। चौरी चौरा उस समय के गोरखपुर जिले का एक छोटा-सा गांव बल्कि युग्मग्राम है, चौरी और चौरा, जिसका नाम इसके पहले किसी ने नहीं सुना था। पर वह एक ही रात में भारतविख्यात हो गया, यहां तक कि वह देश के इतिहास का एक मोड़ बन गया। घटना यों थी कि 5 फरवरी, 1922 ई० को असहयोग आंदोलन के अंग के रूप में चौरी चौरा में एक जुलूस निकला। वह तो निकल गया था पर जुलूस के कुछ लोग जोश में स्थानीय थाने के इर्दगिर्द घूम रहे थे। इस पर थाने के सिपाहियों ने उनको भला-बुरा कहा और उनके चलने-फिरने में हस्तक्षेप किया। भीड़ से कहा कि तितर-बितर हो जाओ। गांव वालों ने इनकार कर दिया और सिपाहियों ने एकत्रित भीड़ पर गोली चलाई। वे गोली चलाते रहे, चलाते रहे जब तक कि गोलियां खतम नहीं हो गईं। जनता के तीन व्यक्ति मर चुके थे—एक मुसलमान दो हिन्दू जिनके नाम थे: (1) नजर अली जुलाहा, ग्राम चौरा, (2) लेखावन भर, मरटांडिया, ग्राम चौरा तथा (3) भगवान

तेली, मुंडेरा बाजार। हत्याओं के बाद पुलिसवाले थाने के अंदर चले गए। तब जनता ने थाने में जाकर उन्हें बाहर आने को कहा, पर वे जब नहीं निकले तो आग लगा दी और 23 सिपाही मर गए। इस घटना की खबर 8 फरवरी को फैल गई।

मजे की बात यह है कि ठीक इसी समय गांधी जी अपने आंदोलन को एक मोड़ देकर और विस्तृत बनाने के लिए बारडोली में जन सत्याग्रह शुरू करने वाले थे, वह स्वयं उसका नेतृत्व करने वाले थे। इस सम्बन्ध में बारडोली से, जहां गांधी जी मौजूद थे, अंतिम चेतावनी भेजी जा चुकी थी, पर चौरी चौरा की खबर पाते ही महात्मा गांधी ने जन सत्याग्रह की योजना छोड़ दी। तेन्दुलकर ने लिखा है, "परिस्थिति बहुत ही जटिल हो गई क्योंकि अभी कुछ दिन पहले उन्होंने वायसराय को अंतिम पत्र भेजा था। अपने कार्यक्रम को हास्यास्पद बिना बनाए हुए, वह उसे वापस कैसे ले सकते थे। गांधी जी का कहना था कि शैतान तो कह रहा था कि चलने दो, पर यह समझकर कि शैतान की आवाज और अहंकार की आवाज एक ही है, उन्होंने अन्तिम पत्र यानी चेतावनी वापस लेने का निश्चय किया। 11 फरवरी को उन्होंने जेल से बचे लोगों की कार्यसमिति के सदस्यों के सामने अपने सन्देह और मनोकष्ट का चित्र पेश किया, पर उन लोगों ने उनसे सहमति प्रकट नहीं की, फिर भी उनकी जिद पर जन सत्याग्रह कार्यक्रम को रद्द करने का कार्यक्रम स्वीकृत हुआ और उसके स्थान पर कताई, नशाबन्दी, समाज-सुधार और शिक्षा-सम्बन्धी कार्य रखे गए। गांधी जी ने 12 फरवरी को पांच दिन का आत्मशुद्धिमूलक उपवास शुरू कर दिया।"

16 फरवरी के यंग इण्डिया में एक लेख निकला जिसमें गांधी जी ने कहा, "ईश्वर मुझपर बड़े कृपालु रहे हैं। उन्होंने मुझे तीसरी बार यह चेतावनी दी कि भारत में अभी तक अहिंसा और सत्य का वह वातावरण नहीं है जिसमें जन सत्याग्रह चालू किया जा सकता है। ईश्वर ने मुझे उस समय भी चेतावनी दी थी जब 1919 में रौलट ऐक्ट का आंदोलन शुरू हुआ था पर उसने चौरी चौरा के जरिये बहुत स्पष्ट बात कही है। मुझे यह बताया गया है कि जिन सिपाहियों को पाशविक रूप से मार डाला गया, उन्होंने बड़ी ज्यादतियां की थीं। पुलिस वालों ने गोलियां चलाईं। उनके पास जो गोलियां थीं वे खतम हो गईं और जनता ने, जैसा कि मुझे बताया गया है, थाने में आग लगा दी। इसपर सिपाहियों को जान बचाने के लिए बाहर आना पड़ा और उन्हें काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए और उन टुकड़ों को जलती आग में डाल दिया गया। यह दावा किया जाता है कि इस घटना में किसी असहयोगी स्वयंसेवक का हाथ नहीं था और जनता को न केवल तात्कालिक उत्तेजना दिलाई गई थी, बल्कि पुलिस उस जिले में जो निरंकुश अत्याचार कर रही थी, उससे भी वह परिचित थी। फिर भी इसका किसी भी तरह समर्थन नहीं

ग्यारहवां अध्याय

चौरी चौरा के बहाने क्रांति के साथ विश्वासघात

सन् 1919 के 6 अप्रैल के जलियांवाला हत्याकाण्ड से राष्ट्रीय चेतना को भयकर ठेस लगी और वही से उसने एक मोड ले लिया। वही से पुराने कांग्रेसी नेताओ मे मे अधिकाश निकम्मे साबित हो गए क्योकि वे आवेदन-निवेदन की राजनीति से आगे जाने को तैयार नही थे और गाधी जी ने गौरव के साथ भारतीय राजनैतिक रंगमच पर प्रवेश किया। वहां उनका आकार दिन दूना और रात चौगुना बढता गया और वह सर्वव्यापी हो गया। असहयोग आदोलन ने एक ऐसे शून्य की पूर्ति की, जिसे और कोई आदोलनकारी नही भर पा रहा था।

असहयोग के पहले स्वतत्रता-संग्राम के नाम पर ले-देकर जो कुछ भी था, वह क्रातिकारी आदोलन था। यह मुख्यतः, जैसा कि हम देख चुके, एक युवक और छात्र आदोलन था, अवश्य उसकी जड़ें जनता की चेतना की गहराई तक थी जैसा कि बार-बार प्रमाणित हुआ था। हम यह भी देख चुके कि शहीदों को जब फांसी दी जाती थी तब यदि लाश दी जाती थी, तो उसके साथ लाखों की भीड होती थी। असहयोग ने भारतीय जनता के मामने वह अस्त्र जन पैमाने पर रखा, जिसकी उसे फिर भी बहुत सख्त जरूरत थी।

जलियावाला से आदोलन क अश्वमेध का जो घोड़ा छूटा, वह चौरी चौरा पर जाकर चरचराकर रुका। चौरी चौरा उस समय के गोरखपुर जिले का एक छोटा-सा गाव वल्कि युग्मग्राम है, चौरी और चौरा, जिसका नाम इसके पहले किसीने नही सुना था। पर वह एक ही रात मे भारतविख्यात हो गया, यहां तक कि वह देश के इतिहास का एक मोड़ बन गया। घटना यों थी कि 5 फरवरी, 1922 ई० को असहयोग आदोलन के अग के रूप मे चौरी चौरा में एक जुलूस निकला। वह तो निकल गया था पर जुलूस के कुछ लोग जोश मे स्थानीय थाने के इर्दगिर्द घूम रहे थे। इसपर थाने के सिपाहियों ने उनको भला-बुरा कहा और उनके चलने-फिरने मे हस्तक्षेप किया। भीड़ ने कहा कि तितर-बितर हो जाओ। गाव वालों ने इन्कार कर दिया और सिपाहियो ने एकत्रित भीड पर गोली चलाई। वे गोली चलाते रहे, चलाते रहे जब तक कि गोलियां खतम नही हो गई। जनता के तीन व्यक्ति मर चुके थे—एक मुसलमान दो हिन्दू जिनके नाम थे: (1) नजर अली जुलाहा, ग्राम चौरा, (2) भैलावन भर, भरटोलिया, ग्राम चौरा तथा (3) भगवान

तेली, मुडेरा बाजार। हत्याओं के बाद पुलिसवाले थाने के अंदर चले गए। तब जनता ने थाने में जाकर उन्हे बाहर आने को कहा, पर वे जब नहीं निकले तो आग लगा दी और 23 सिपाही मर गए। इस घटना की खबर 8 फरवरी को फैल गई।

मजे की बात यह है कि ठीक इसी समय गाधी जी अपने आंदोलन को एव भीड़ देकर और विस्तृत बनाने के लिए बारडोली में जन सत्याग्रह शुरू करने वाले थे, वह स्वय उसका नेतृत्व करने वाले थे। इस सम्बन्ध मे बारडोली से, जहां गाधी जी मौजूद थे, अतिम चेतावनी भेजी जा चुकी थी, पर चौरी चौरा की खबर पाते ही महात्मा गांधी ने जन सत्याग्रह की योजना छोड़ दी। तेन्दुलकर ने लिखा है, "परिस्थिति बहुत ही जटिल हो गई क्योकि अभी कुछ दिन पहले उन्होने वायसराय को अंतिम पत्र भेजा था। अपने कार्यक्रम को हास्यास्पद बिना बनाए हुए, वह उसे वापस कैसे ले सकते थे। गांधी जी का कहना था कि शैतान तो कह रहा था कि चलने दो, पर यह समझकर कि शैतान की आवाज और अहकार की आवाज एक ही है, उन्होंने अन्तिम पत्र यानी चेतावनी वापस लेने का निश्चय किया। 11 फरवरी को उन्होने जेल से बचे लोगों की कार्यसमिति के सदस्यो के सामने अपने सन्देह और मनोकष्ट का चित्र पेश किया, पर उन लोगों ने उनसे सहमति प्रकट नही की, फिर भी उनकी जिद पर जन सत्याग्रह कार्यक्रम को रद्द करने का कार्यक्रम स्वीकृत हुआ और उसके स्थान पर कताई, नशाबन्दी, समाज-सुधार और शिक्षा-सम्बन्धी कार्य रखे गए। गांधी जी ने 12 फरवरी को पाच दिन का आत्मशुद्धिमूलक उपवास शुरू कर दिया।"

16 फरवरी के यंग इण्डिया मे एक लेख निकला जिसमे गाधी जी ने कहा, "ईश्वर मुझपर बडे कृपालु रहे हैं। उन्होंने मुझे तीसरी बार यह चेतावनी दी कि भारत में अभी तक अहिंसा और सत्य का वह वातावरण नही है जिसमे जन सत्याग्रह चालू किया जा सकता है। ईश्वर ने मुझे उस समय भी चेतावनी दी थी जब 1919 में रौलट ऐक्ट का आंदोलन शुरू हुआ था पर उसने चौरी चौरा के जरिये बहुत स्पष्ट बात कही है। मुझे यह बताया गया है कि जिन सिपाहियों को पाशविक ढग से मार डाला गया, उन्होंने बडी ज्यादतिया की थी। पुलिस वालों ने गोलिया चलाई। उनके पास जो गोलियां थी वे खतम हो गई और जनता ने, जैसा कि मुझे बताया गया है, थाने मे आग लगा दी। इसपर सिपाहियों को जान बचाने के लिए बाहर आना पडा और उन्हे काटकर टुकडे-टुकड़े कर दिए गए और उन टुकडो को जलती आग मे डाल दिया गया। यह दावा किया जाता है कि इस पशुता मे किसी असहयोगी स्वयसेवक का हाथ नहीं था और जनता को न केवल तात्कालिक उत्तेजना दिलाई गई थी, बल्कि पुलिस उस जिले मे जो निरन्तर अत्याचार कर रही थी, उससे भी वह परिचित थी। फिर भी इसका किसी भी तरह समर्थन नहीं

किया जा सकता।" यह देखने की बात है कि पुलिस ने जिन निहत्थे लोगों की जान ली थी और जिन्हें घायल किया था, उनका कोई उल्लेख नहीं था। यह है, गांधी मार्का सत्य जिसमें जनता के साथ ज्यादती को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। गांधी जी द्वारा इस प्रकार निन्दा के कारण चौरी चौरा के लिए जो मुकदमा चला, राष्ट्रीय पत्रकारिता ने उसे एक राजनैतिक मुकदमे की मर्यादा नहीं दी और सरकार ने खुलकर न्याय का गला घोंटा—226 व्यक्तियों पर मुकदमा चलाकर। 23 अक्टूबर, 1923 तक यह मुकदमा चला। 172 को फांसी की सजा सुनाई गई। खैरियत यह रही कि मदनमोहन मालवीय और सान्याल परिवार के एन० के० सान्याल ने मुकदमे की पैरवी की। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने 19 की फांसी बहाल रखी, 57 को पांच साल की, 20 को 3, 19 को 8 और 14 को आजन्म काले पानी की सजा हुई। *जिन 19 अभियुक्तों के मृत्युदंड को बहाल रखा, उनके नाम ये हैं :*

(1) अब्दुल्ला उर्फ सुखी; (2) भगवान अहीर; (रामनाथ अहीर का पुत्र), ड्रिल मास्टर, (3) विक्रम अहीर; (4) दुधई (संझावन का पुत्र); (5) कालीचरन, (6) लाल मोहम्मद, वालंटियरों का नेता, (7) लंटू, (8) महादेव (कुंजविहारी का पुत्र), (9) मेघू उर्फ लालबिहारी (जानकी का पुत्र); (10) नजर अली, (11) रघुवीर (जद्दू का पुत्र), (12) रामलगन (शिवटहल का पुत्र); (13) रामरूप (रामटहल का पुत्र), (14) रुदली, (15) सहदेव (जित्तू का पुत्र), *(16), सपत (जीउत का पुत्र); (17) सपत (मोहन का पुत्र),* (18) श्यामसुंदर (आयु 20 वर्ष) तथा (19) सीताराम (सरकारी गवाह ठाकुर के भाई)।

राजेन्द्र प्रसाद उन दिनों बारडोली में मौजूद थे। उनका इस सम्बंध में लिखा हुआ ब्यौरा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जो इस प्रकार है, "इस बीच एक बहुत दु:खद और महत्त्वपूर्ण घटना हो गई। गोरखपुर जिले के चौरी चौरा गांव में जनता और पुलिस में मुठभेड़ हो गई। जनता ने आवेश में आकर पुलिस थाने को जला दिया। *कितने ही पुलिस कर्मचारियों को भी मार डाला।* महात्मा जी के दिल पर इसका बहुत गहरा असर पड़ा। उन्होंने देख लिया कि देश ने अभी तक अहिंसा के तत्व और महत्त्व को नहीं समझा है; इसलिए यदि सत्याग्रह आरम्भ हुआ, तो इस प्रकार की घटनाएं अनेक स्थानों में होने लगेंगी। इसके फलस्वरूप सरकार की ओर से भी दमन-नीति जोरों से बरती जाएगी और जनता उसको बर्दाश्त नहीं कर सकेगी, इसलिए यद्यपि वायसराय को सत्याग्रह करने की सूचना दे दी गई है, तथापि सत्याग्रह को स्थगित ही कर दिया जाना चाहिए। देश की नाड़ी पहचानकर महात्मा जी इस निश्चय पर पहुंच गए। इसीपर विचार करने के लिए उन्होंने वर्किंग कमेटी की बैठक की। यद्यपि मैं जल्द से जल्द रवाना हुआ था, तथापि जब मैं बारडोली स्टेशन पर पहुंचा, तो उसी ट्रेन में वापसी के लिए रवाना होते हुए

पंडित मदनमोहन मालवीय जी से वहीं भेंट हो गई। उन्होंने बता दिया कि वर्किंग कमेटी का काम समाप्त हो चुका है और सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय कर लिया गया है। जब मैंने यह सुना तो मेरे दिल पर भी एक धक्का-सा लगा। मैं वहां पहुंचा जहां गांधी जी ठहरे थे। उन्होंने जाते ही पूछा कि निश्चय सुन लिया है न ? मैंने कहा, 'हां'। इसपर उन्होंने पूछा कि इस विषय में तुम्हारी राय क्या है ? मैं अभी कुछ उत्तर नहीं दे सका था कि वह समझ गए, मेरे दिल में कुछ संदेह मालूम हो रहा है। उन्होंने उसी क्षण सब बातें समझा दी। मैं सुनता गया, पर अभी किसी निश्चय पर नहीं पहुंचा था कि अंत में उन्होंने कहा, 'जो कुछ मैंने कहा है उसपर विचार करो।'

"संध्या हो गई थी। मैंने रात को सब बातों पर और पहलुओं पर, महात्मा जी की बताई बातों की रोशनी में, विचार किया। मेरी भी दृढ़ राय हो गई कि निश्चय ठीक ही हुआ है। दूसरे दिन गांधी जी ने फिर पूछा, 'क्या विचार किया ?' मैंने उत्तर दे दिया कि मैं सब बातें समझ गया और निश्चय ठीक ही हुआ है। इससे वह कुछ प्रसन्न मालूम हुए।"

इस निश्चय के प्रकाशित होते ही सारे देश में एक अजीब परिस्थिति उत्पन्न हो गई। मामूली कार्यकर्ताओं की बात कौन कहे, बड़े-बड़े धुरन्धर नेता—पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय प्रभृति जो सभी जेल में थे—इससे बहुत असन्तुष्ट हुए। अखबारों में भी विरोध की आवाज उठी। हां, हकीम अजमल खां और डाक्टर अन्सारी भी बारडोली की उस बैठक में नहीं पहुंच सके थे। इन लोगों ने सत्याग्रह स्थगित करने की राय वहां भेज दी थी। साधारण जनता में एक प्रकार की मुर्दनी-सी दिखाई देने लगी, मानो दौड़ता हुआ मनुष्य ठेस लग जाने से गिर पड़ा हो।

बारडोली में ही गांधी जी ने पहले-पहल उस रचनात्मक कार्यक्रम को निश्चित और परिष्कृत रूप दिया, जो आज तक कांग्रेस का मुख्य कार्यक्रम है। वह प्रस्ताव इतने महत्त्व का है कि उसका उद्धरण आवश्यक है। नीचे उसका हिन्दी रूपान्तर दिया जाता है :

"चूंकि गोरखपुर (चौरी चौरा) का भयानक काण्ड इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देश की जनता अब तक यह बात अच्छी तरह नहीं समझ सकी है कि अहिंसा भद्र अवज्ञा या सिविल नाफरमानी का एक जरूरी क्रियात्मक और प्रमुख अंश है; और चूंकि स्वयंसेवकों की भर्ती में बिना छानबीन किए ही—और कांग्रेस की बताई हुई हिदायतों के खिलाफ—लोग ले लिए गए हैं, जिससे लोगों में सत्याग्रह के मूल तत्त्व की समझ की कमी जाहिर होती है, और चूंकि इस कार्यकारिणी कमेटी की राय में राष्ट्रीयता तक पहुंचने में देरी होने का एक प्रधान कारण कांग्रेस के शासन-प्रबंध को व्यवहार में लाने में अपूर्णता और दुर्बलता ही है, इस-

लिए कांग्रेस के अंदरूनी संगठन को सुदृढ बनाने के ख्याल से यह वर्किंग कमेटी कांग्रेस के सभी संगठित अंगों को सलाह देती है कि वह नीचे लिखे कार्यक्रम को अंजाम देने में संलग्न हो जाए

"1 कम से कम एक करोड़ कांग्रेस के मेम्बरों की भर्ती।

"2. चर्खे को लोकप्रिय बनाने और हाथ के कते हुए सूत से हाथ की बुनी हुई खादी तैयार करने का संगठन (यानी प्रबंध) करना।

"3. नेशनल स्कूल यानी राष्ट्रीय विद्यालय कायम करना।

"4. गिरी हुई दलित जातियों के रहन-सहन को बेहतर बनाने के लिए तथा उनकी सामाजिक, मानसिक एवं नैतिक हालत सुधारने के लिए उनका संगठन करना। उनको समझा-बुझाकर उनके बच्चों को स्कूलों में पढने के लिए भेजना और जो सुविधाएं सबको मिलती हैं, वे इन लोगों को भी दिलवाना। जहां कहीं अछूत जातियों के लोग ज्यादातर अलग रहते हैं, और छुआछूत की भावना जबरदस्त है, वहां पर उनके बालकों के लिए कांग्रेस के पैसे से अलग स्कूल-पाठशालाएं खोली जानी चाहिए और लोगों को समझा-बुझाकर अछूतों को भी सार्वजनिक कुओं से पानी भरने देने का प्रबन्ध कराना चाहिए।

"5 मादक द्रव्य-निषेध।

"6 आपस के झगड़ों और मुकदमों की खानगी तौर पर ही तय-तसफिया करा देने की गरज से शहरों और गांवों में पंचायतें कायम करना।

"7. हर जाति के या वर्ग के लोगों में मेल-जोल बढाने और आपस के ऐसे मेल-मिलाप की आवश्यकता पर सबका ध्यान खींचने की गरज से मेल का बढाना असहयोग आन्दोलन का एक ध्येय है। ऐसे सामाजिक सेवा विभाग का संगठन करना जो बगैर किसी भेदभाव के सबकी सेवा, रोग-शोक या आपत्ति-विपत्ति-काल में, एक तरह से, एक भाव से करे।

"8 तिलक स्वराज्य फंड को इकट्ठा करने का काम।

"9. वर्किंग कमेटी का यह प्रस्ताव, अगर जरूरी समझा जाएगा तो, संशोधन (तरमीम) के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की अगली बैठक में पेश किया जाएगा।

"10 वर्किंग कमेटी की राय में किसी ऐसे प्रबन्ध की जरूरत मालूम पड़ती है जिसके जरिये सरकारी नौकरियों को छोडकर आए हुए लोगों के लिए कुछ रोजगार-धन्धा दिया जा सके। इस गरज से यह कमेटी सर्वश्री मियां मुहम्मद हाजीजान, मुहम्मद छुटानी, सेठ जमनालाल बजाज तथा वी० जे० पटेल को मुकर्रर करती है कि ये लोग एक योजना उस तरह की तैयार करके आगामी अखिल भारतीय कमेटी की विशेष बैठक में विचारार्थ पेश करें।"

राजेन्द्र बाबू लिखते है :

"गांधी जी ने पाच दिनो का उपवास किया। वहा की जनता की सभा मे उन्होंने अपने निश्चय को बतलाया। मैं भी उस सभा मे उपस्थित था। लोगों ने बात तो मान ली, पर यहां भी निराशा मालूम होती थी।

"दिल्ली मे, वकिंग कमेटी की बैठक मे जो अखिल भारतीय कमेटी की बैठक के पहले हुई, लाला जी और पण्डित मोतीलाल तथा औरो की रोषपूर्ण सम्मतियां मिली, 'यह निश्चय देश के लिए बडा हानिकर हुआ है। इससे केवल जनता हतोत्साह ही नही होगी बल्कि देश की प्रतिष्ठा को भी ठेस लगेगी।' कुछ नेताओ के पत्र भी इसी आशय के गाधी जी के पास जेल से आ गए थे। ऐसा मालूम होता था कि मानो सभी नेता, यदि वे बाहर होते तो, गाधी जी को पदच्युत कर देते और सत्याग्रह जारी करते। किन्तु गाधी जी टस से मस नही हुए। उन्होंने साफ-साफ बता दिया कि जो लोग जेल में है, उनको परिस्थिति का पूरा ज्ञान नही हो सकता, इसलिए उनको राय देने का कोई अधिकार नही है, और यदि वे राय देते है तो उसका बहुत वजन नही हो सकता। वकिंग कमेटी मे ही मैंने देखा कि गांधी जी जब निश्चय पर पहुच जाते है, तो किस प्रकार अटल रह सकते है। और अटल रह सकते है तीव्र से तीव्र विरोध के बावजूद।"

मोतीलाल व जवाहरलाल परम असन्तुष्ट

राजेन्द्र बाबू ने जिस प्रकार से महात्मा गाधी के सकल्प को स्वीकार कर लिया, जेल मे बन्द बहुत-से बडे नेताओं ने, यहां तक कि पडित मोतीलाल और श्री जवाहरलाल ने, गांधी जी के इस स्थगन को उस पालतू रूप मे नही लिया। मोतीलाल जी का असन्तोष इतना अधिक था कि गाधी जी ने 19 फरवरी, 1922 को उन्हें शान्त करने के लिए एक पत्र जवाहरलाल के नाम लिखा जो इस प्रकार है:

प्रिय जवाहरलाल,

मुझे मालूम हुआ है कि तुम सबको कार्य समिति के प्रस्तावो पर भयकर पीडा हुई है। मुझे तुमसे हमदर्दी है और पिता जी की बात सोचकर मेरा दिल टूटता है। उन्हे जो पीड़ा हुई होगी उसकी मैं अपने मन मे कल्पना कर सकता हू। परन्तु मुझे यह भी महसूस होता है कि यह पत्र अनावश्यक है, क्योंकि मैं जानता हू कि पहले आघात के बाद स्थिति सही तौर पर समझ मे आ गई होगी। बेचारे देवदास की बचपन-भरी नासमझियों का हमारे दिमाग पर बहुत बोझा नहीं होना चाहिए। बिल्कुल सम्भव है कि उस गरीब लड़के के पैर उखड गये हों और उसका मानसिक सन्तुलन जाता रहा हो, परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि असहयोग आन्दोलन से सहानुभूति रखने वाली गुस्से से पागल भीड ने पुलिस के सिपाहियों की वहशियाना ढग मे हत्या की। इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह

भीड़ राजनैतिक चेतना रखने वाली भीड़ थी। ऐसी साफ चेतावनी पर ध्यान न देना बड़ा अपराध होता।

मैं बता दूं कि यह चरम सीमा थी। वायसराय के नाम मेरी चिट्ठी शंकाओं से खाली नहीं थी, जैसा कि उसकी भाषा से जाहिर है। मद्रास की करतूतों से भी मैं बहुत अशान्त हुआ था, लेकिन मैंने चेतावनी की आवाज को दबा दिया। मुझे कलकत्ता, इलाहाबाद और पंजाब के हिन्दुओं और मुसलमानों के पत्र मिले थे। यह सब गोरखपुर की घटना से पहले की बात है। उनका कहना था कि सारा दोष सरकारी पक्ष का ही नहीं है, हमारे लोग आक्रमणकारी, हेकड़ और धमकाने वाले बनते जा रहे हैं, हाथ से निकले जा रहे हैं और उनका रवैया अहिंसक नहीं है। जहां फीरोजपुर की घटना सरकार के लिए अपयशकारी है, वहां हम भी एकदम निर्दोष नहीं हैं। हकीम जी ने बरेली के बाबत शिकायत की। मेरे पास झज्जर के बारे में कड़ी शिकायतें हैं। शाहजहांपुर में भी टाउन हाल पर जबरदस्ती कब्जा करने की कोशिश की गई। कन्नौज से भी खुद कांग्रेस के मन्त्री ने तार दिया कि स्वयंसेवक उद्दण्ड हो गए हैं और हाई स्कूल पर धरना लगाकर 16 वर्ष से छोटे लड़कों को स्कूल जाने से रोक रहे हैं। गोरखपुर में 36,000 स्वयंसेवक भर्ती किये गये इनमें से सौ भी कांग्रेस की प्रतिज्ञा का पालन नहीं करते। जमनालाल जी मुझे बताते हैं कि कलकत्ता में घोर असंगठन है। स्वयंसेवक विदेशी कपड़े पहनते हैं और अहिंसा की प्रतिज्ञा से कतई बंधे हुए नहीं हैं। ये सब खबरें और दक्षिण से इससे भी ज्यादा खबरें मेरे पास थीं, तब चौरी चौरा के समाचारों ने बारूद में जबरदस्त चिनगारी का काम दिया और आग लग गई। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि अगर यह चीज मुल्तवी न कर दी जाती, तो हम एक अहिंसक आन्दोलन के बजाय असल में हिंसक संग्राम को चलाते। यह बेशक सच है कि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अहिंसा गुलाब के इत्र की खुशबू की तरह फैल रही है, परन्तु हिंसा की दुर्गन्ध भी अभी तक जबरदस्त है। और इसकी उपेक्षा करना, इसे तुच्छ समझना बुद्धिमानी नहीं है। हमारे इस तरह पीछे हटने से काम आगे बढ़ेगा, आन्दोलन अनजाने में सही रास्ते से हट गया था। अब हमने अपनी पतवार फिर सम्भाल ली है और सीधे आगे जा सकते हैं। घटनाओं को सही रूप में देखने के लिए तुम्हारी स्थिति जितनी प्रतिकूल है मेरी उतनी ही अनुकूल है।

दक्षिण अफ्रीका का मेरा अपना अनुभव सुनाऊं? जेलों में हमारे पास तरह-तरह की खबरें पहुंचाई जाती थीं। अपने पहले अनुभव के दो-तीन दिनों में तो मैं इधर-उधर के समाचार सुनकर खुश होता रहा, लेकिन मैंने फौरन समझ लिया कि इस निष्फलभोगी में मेरा दिलचस्पी लेना बिलकुल व्यर्थ है। मैं कुछ कर नहीं सकता था। मेरे किसी सन्देश के भेजने में कोई लाभ नहीं था और मैं व्यर्थ अपनी आत्मा को कष्ट पहुंचाता था। मैंने अनुभव किया कि जेल में बैठ आन्दोलन

का पथ-प्रदर्शन करना मेरे लिए असम्भव है इसलिए मैं तो तब तक प्रतीक्षा ही करता रहा, जब तक बाहर वालों से मुलाकात होकर खुलकर बातें नहीं हुई। फिर भी मेरी बात सच मानो कि मैंने दिमागी दिलचस्पी ली, क्योंकि मैंने महसूस किया कि किसी बात का निर्णय करना मेरे अधिकार से बाहर है और मुझे मालूम हो गया कि मैं बिल्कुल सही रास्ते पर हू। मुझे याद है कि किस तरह हर बार मेरे जेल से छूटने के समय तक जो विचार बनते थे, वे रिहाई के बाद और रूबरू जानकारी मिलने पर तुरत बदल जाते थे। जो हो, जेल के वायुमण्डल के कारण हमारे मन में सारी बातें नहीं रहती। इसलिए मैं चाहूगा कि तुम बाहर की दुनिया को अपने ख्याल से ही निकाल दो और यही समझ लो कि यह है ही नही। मै जानता हू कि यह काम बहुत ही कठिन है, परन्तु यदि कोई गम्भीर अध्ययन शुरू कर दो और कोई शरीर-श्रम का काम हाथ मे ले लो, तो यह काम हो सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि तुम कुछ भी करो, मगर चर्खे से न उकताओ। तुम्हारे और मेरे पास बहुत-सी बातें करने और बहुत-सी मान्यताए रखने पर अपने-आपसे अरुचि होने के कारण हो सकते है, मगर इस बात पर अफसोस करने का कभी कारण नही मिलेगा कि हमने चर्खे पर श्रद्धा केन्द्रित क्यों कर ली या मातृभूमि के नाम पर हमने रोज इतना अच्छा सूत क्यों काता। तुम्हारे पास 'साग सिलेशियल' है। मै तुम्हें एडविन आर्नल्ड जैसा बेमिसाल अनुवाद तो नही दे सकता, मगर मूल संस्कृत का उल्था यों है, 'शक्ति बेकार नही जाती, नष्ट तो होती ही नही। थोड़े-से धर्म से भी मनुष्य कई बार गिरने से बच जाता है।' इस धर्म का आशय कर्मयोग मे है और हमारे युग का कर्मयोग चर्खा है। प्यारेलाल के मार्फत तुमने मुझे खून सुखाने वाली खुराक पिलाई है, उसके बाद तुम्हारा उत्साहवर्धक पत्र आना चाहिए।

तुम्हारा
मो० क० गाधी

इस पत्र की भूमिका के रूप मे जवाहरलाल ने इस सम्बन्ध मे अपना मत भी लिखा है जो इस प्रकार है: "जब हमने सुना कि महात्मा गाधी ने इस आन्दोलन को वापस लेने का अचानक हुक्म दे दिया है, तब हममें से ज्यादातर जेलखाने में थे। उनमे मेरे पिता जी भी शामिल थे। कारण यह बताया गया कि उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले मे चौरी चौरा के किसानों की एक उत्तेजित भीड ने एक पुलिस चौकी पर हमला करके उसे जला दिया और जो थोड़े-से पुलिस वाले वहा थे उन्हें मार डाला। जेल मे हम सबको बड़ा दुःख हुआ कि किसी गांव मे लोगो के एक समूह के दुराचरण के कारण एक महान आन्दोलन इस तरह अचानक वापस ले लिया गया। महात्मा गाधी उस समय आजाद थे, यानी जेल-

खाने में नहीं थे। हमने जेलखाने से किसी तरह, जो कदम उन्होंने उठाया था उस पर, अपनी गहरी तकलीफ उन तक पहुंचा दी। यह पत्र गांधीजी ने उसी अवसर पर लिखा था। यह मेरी बहन सरूप (अब विजयालक्ष्मी पंडित) को मुलाकात में हमारे सामने जेल में पढ़कर सुनाने को दिया गया था।"

यह द्रष्टव्य है कि गांधी, जवाहरलाल, सभी इस बात को छिपाते हैं कि पहले पुलिस वालों ने जनता को भून डाला, इसपर जनता उत्तेजित हुई, जैसा कि क्रान्ति का तकाजा था। पर सत्याग्रह तो दबाव राजनीति ही है, जो आवेदन-निवेदन से ऊंची है, पर क्रान्ति गुणगत रूप से भिन्न वस्तु है।

क्रान्तिकारी मोड़

इस प्रसंग के उस हिस्से को जिसका अब तक वर्णन किया गया है बहुत-से लोग जानते हैं, पर चौरी चौरा किस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए भी एक मोड़ साबित हुआ, इसे बहुत थोड़े लोग जानते हैं। मैंने इस सम्बन्ध में 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' में जो कुछ लिखा है, उससे कहीं विस्तृत ब्यौरा सुभाषचन्द्र बोस ने 'इण्डियन स्ट्रगल' में लिखा है, जो यहां उद्धृत किया जा रहा है। उन्होंने लिखा :

"जब महात्मा गांधी पहले-पहल असहयोग का आन्दोलन लेकर सामने आए, तो *क्रान्तिकारी दल की ओर से उनकी अहिंसा* का विरोध हुआ। महायुद्ध के दौरान हजारों क्रान्तिकारी जेल भेजे गए थे, और उनमें से काफी लोग 1919 की आम माफी में छोड़ दिए गए थे। उनमें से बहुतों ने अहिंसा के सिद्धान्त को पसन्द नहीं *किया* और उनको *शंका थी कि अहिंसा और अप्रतिरोध* के सिद्धान्त से जनता नपुंसक हो जाएगी और उनकी प्रतिरोधशक्ति घट जाएगी। यह सम्भावना थी कि पूरा क्रान्तिकारी वर्ग विचारधारागत मतभेदों के कारण कांग्रेस के विरुद्ध जाएगी। सच्ची बात तो यों है कि उनमें से कुछ लोगों ने बंगाल में असहयोग के विरुद्ध प्रचार शुरू कर दिया था। बहुत ही अजीब बात है कि इस कार्य के लिए धन ब्रिटिश व्यापारी वर्ग की ओर से नागरिक रक्षा लीग के नाम से दिया जा रहा था। यह धन एक भारतीय एडवोकेट के जरिये से बंट रहा था। और उस एडवोकेट ने यह नहीं बताया कि धन कहां से आ रहा है। देशबन्धु चित्तरंजन दास चाहते थे कि क्रान्तिकारियों का विरोध बन्द हो और यदि सम्भव हो तो कांग्रेस आन्दोलन को उनकी सक्रिय सहायता मिले। इसलिए उन्होंने महात्मा गांधी और क्रान्तिकारियों के बीच एक सम्मेलन बुलाया जिसमें वह स्वयं भी मौजूद थे। क्रान्तिकारियों ने महात्मा जी के साथ खुलकर बातचीत की। महात्मा जी ने और देशबन्धु ने उन लोगों को यह समझाने की कोशिश की कि अहिंसात्मक असहयोग जनता की प्रतिरोध-सामर्थ्य को घटाने या उसको कमजोर करने के बजाय उसे

बल पहुंचाएगा। सम्मेलन का नतीजा यह रहा कि उपस्थित सब लोगों ने कहा कि कांग्रेस को स्वराज्य प्राप्त करने का पूरा मौका देंगे और उसके कार्य में किसी प्रकार बाधक न होंगे। उनमें से बहुतेरों ने सक्रिय सदस्य के रूप में कांग्रेस में शामिल होना स्वीकार किया। क्रान्तिकारियों और महात्मा जी में यह जो सम्मेलन हुआ वह सितम्बर 1921 में दरवाजे बन्द करके हुआ। उन दिनों महात्मा जी तथा कार्य समिति के अन्य सदस्य देशबन्धु चित्तरंजनदास के अतिथियों के रूप में उनके घर पर ठहरे हुए थे।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि असहयोग आन्दोलन जब से शुरू हुआ तब से लेकर चौरी चौरा तक क्रान्तिकारी आन्दोलन क्यों बन्द रहा। उस दौरान जनता में जो जोश दिखाई पड़ा था और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति जिस प्रकार थी, उसे देखते हुए क्रान्तिकारियों ने असहयोग आन्दोलन को पूरा मौका देना चाहा। इसी कारण 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' में किसी भी क्रान्तिकारी कार्य या घटना का जिक्र नहीं आता। बहुत-से क्रान्तिकारी असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े, पर कई इस बीच केवल दूर से उसे देखते रहे और जैसे जाड़ों में कई जीव दीर्घ निद्रा लेते हैं, उसी तरह वह भी दीर्घनिद्रा में पड़े रहे। उसके साथ ही यह बता दिया जाए कि बहुत-से असहयोगी जैसे चन्द्रशेखर आजाद (1920 में 15 बेंत), विष्णुशरण दुबलिस, रामदुलारे त्रिवेदी, बजरगबली गुप्त 1921 के आन्दोलन में शामिल थे और चौरी चौरी के कारण गांधीजी से निराश होकर क्रान्तिकारी बने।

चौरी चौरा के कारण एकाएक असहयोग आन्दोलन बन्द कर दिए जाने के कारण क्रान्तिकारी फिर सजग हो गए। फिर से सिर पर कफन बांधकर शचीन्द्र-नाथ सान्याल, रामप्रसाद बिस्मिल, सुरेश भट्टाचार्य, मुकुन्दीलाल आदि लोग उत्तर भारत में और बंगाल में अनुशीलन आदि दल के पुराने नेता कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। क्रांतिकारियों ने 1919—21 के दौरान महात्माजी और असहयोग पर पूरा विश्वास रखकर अपने हथियार डाल दिए थे, यानी छिपा दिए थे। अब वे हथियार फिर से निकाले गए और उनपर लगा हुआ जंग तेल से साफ किया गया। क्रान्ति-कारियों का यह कहना था, और ऐसा केवल क्रान्तिकारियों का ही नहीं बाद को कम्युनिस्टों का भी कहना था, जिनका उस समय तक भारत में कोई अस्तित्व नहीं था, कि चौरी चौरा की जनता पर पुलिस वालों ने तब तक गोली चलाई जब तक कि उनके पास एक भी गोली बाकी रही, यानी उनके पास यदि और गोली होती तो और चलाते। ऐसी हालत में यदि जनता ने क्रोध में उन्हें मार डाला तो कोई ज्यादती नहीं हुई। फिर पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन को देखते हुए यह घटना छोटी-सी थी, इसपर आन्दोलन नहीं रोकना चाहिए था।

मैं पहले ही दिखा चुका हूं कि कांग्रेस के नेताओं में भी बहुतों की यह राय

थी कि आन्दोलन को इस प्रकार 'किक' मारकर रोकना उसके साथ ज्यादती रही। जनता के जोश के साथ इस प्रकार खिलवाड़ करना उचित नहीं रहा। यह केवल एक राय मात्र नहीं रही, बल्कि इसके समर्थन में यह कहा जाता है कि जब तक गांधी जी आन्दोलन चलाते रहे, तब तक ब्रिटिश सरकार को यह हिम्मत नहीं हुई कि उन्हें गिरफ्तार करे, पर ज्योंही उन्होंने आन्दोलन वापस ले लिया, त्यों ही वह उस तार की तरह हो गए जिसमें से बिजली निकल गई हो और वह गिरफ्तार हो गए।

स्वयं सीतारमैया ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है, "पासे फेंके जा चुके थे, अब सरकार की ओर से गांधी पर झपट्टा मारने की बारी थी। कोई भी प्रशासन उस समय किसी भी नेता पर हमला नहीं बोलता जब कि वह बहुत ही जनप्रिय होता है। वह धैर्यपूर्वक समय की प्रतीक्षा करता है और जिस समय सेना अपने पृष्ठ की रक्षा करती हुई पीछे हटती होती है, उस समय वह भेड़ के झुण्ड पर भेड़िया की तरह कूद पड़ता है। 13 मार्च, 1922 को महात्मा जी गिरफ्तार हो गए, उनकी गिरफ्तारी के सम्बन्ध में फैसला फरवरी के अन्तिम सप्ताह में ही हो चुका था।"

इस प्रकार चौरी चौरा जो एक छोटा-सा गांव है, एकदम से इतिहास के लिए एक मोड़ साबित हुआ। न केवल सत्याग्रह के इतिहास के लिए बल्कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास के लिए भी, क्योंकि इसके बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन का वह युग शुरू हुआ, जिसमें 'बिस्मिल', अशफाक उल्ला, राजेन्द्र लाहिड़ी, रोशनसिंह, चन्द्रशेखर आजाद से लेकर भगतसिंह, सूर्यसेन तक कितने ही क्रान्तिकारी हुए।

अब चौरी चौरा में जो लोग गिरफ्तार हुए उनके सम्बन्ध में दो शब्द। चौरी चौरा के सम्बन्ध में बहुत-से लोगों की गिरफ्तारी हुई। महात्मा जी ने तो दया-धर्म से काम लिया था, पर सरकार ने दया से काम नहीं लिया। हम बता चुके हैं कि प० मदनमोहन मालवीय ने इन अभागों की सहायता की और उनके प्रयासों के कारण अन्त तक कुछ ही लोगों को फांसी हुई, बाकी लोगों को कालेपानी आदि। दीर्घ जेल जीवन में इन चौरी चौरा कैदियों में से रामरूप नाम से एक कैदी मिला, जिसकी याद आती है जो बहुत ही सरल और सीधा-सादा था। उसे हम लोगों ने अपने किचन में ले लिया था और उसे अंग्रेजी पढ़ाने की भी व्यवस्था की गई थी। पता नहीं चौरी चौरा के बचे-खुचे कैदी कहां गए, कितने उनमें से जेल काटकर छूटे, कितने जेल में मर गए! 1979 में जब मैं तीर्थयात्रा के रूप में अन्दमान गया (हम लगभग 80 स्वातन्त्र्य-योद्धा थे) तो हमें चौरी चौरा मुकदमे में पहले फांसी, फिर उम्र कैद काटे हुए 84 वर्ष के श्री द्वारकाप्रसाद मिले। उनके अनुसार चौरी चौरा में पुलिस की गोलियों से 26 आदमी शहीद हुए थे, फांसी पाए सो अलग। इस

परिप्रेक्ष्य मे चौरी चौरा एक नये रूप मे आता है। यदि चौरी चौरा पर देश मे सैकडो चौरी चौरा होकर क्रान्ति हो जाती, तब तक लीग कुछ नहीं थी, देश के टुकडे भी नही होते। जो कुछ भी हो, चौरी चौरा एक मोड रहा और बहुत बड़ा मोड़, इसमे सन्देह नहीं। गाधी जी की क्रान्तिभीति के कारण स्वतन्त्र होने का एक सुअवसर हाथ से जाता रहा।

बारहवा अध्याय

रूस की क्रान्ति और क्रान्तिकारी

शचीन्द्रनाथ सान्याल 1919 ई० मे प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद आम बन्दी-मुक्ति मे छोड दिए गए। इसके बाद 1921 ई० का असहयोग आन्दोलन चुपचाप देखते रहे, उस समय उन्होने विवाह भी कर लिया, पर आत्मा की बेचैनी नही मिटी। जानकारों को मालूम है कि शचीन्द्रनाथ सान्याल ने विवाह तो कर लिया, पर वह रात को अक्सर उठकर पागलों की तरह टहला करते थे, जिससे घबड़ाकर उनकी पत्नी सहम जाती थी। उपन्यासकार शरतचन्द्र शचीन्द्रनाथ सान्याल को जानते थे और ऐसे ही लोगो के चरित्र को लेकर उन्होंने वह अमर उपन्यास 'पथ के दावेदार' लिखा।

जब महात्मा गांधी ने चौरी चौरा काण्ड के बहाने असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया, तब जो लोग यह आशा करते थे कि शायद असहयोग से ही भारत स्वतन्त्र हो जाए, उनमे से बहुतों को निराशा हुई और एक बार फिर क्रान्तिकारी दल के लिए मनोभूमि तैयार हो गई। हर जगह नौजवान बेचैन होकर आगे आए। शचीन्द्रनाथ सान्याल भला फिर किस प्रकार चुप रहते, उन्होंने फिर से क्रान्तिकारी संगठन शुरू कर दिया, फिर से अस्त्र-शस्त्र एकत्र होने लगे, फिर से बम के कारखाने चालू हो गए और शचीन्द्रनाथ सान्याल जिसे सबसे अधिक महत्त्व देते थे—फिर से भयकर रूप मे राजनैतिक और क्रान्तिकारी साहित्य, दर्शन शास्त्र आदि पढ़े जाने लगे।

क्रान्ति की सुनहली किरणें

रूस की क्रान्ति की किरणें जब भारतीय क्रान्तिकारी के मनों की पखुडियो तक अपना सुनहला रग फैला चुकी थी तो बड़े जोरों के साथ भौतिकवाद और

अध्यात्मवाद के साथ ही साथ समाजवाद के विभिन्न पक्षों का अध्ययन शुरू हुआ। क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में अक्सर यह चित्र सामने रखा जाता है जैसे वे पिस्तौल के घोड़े दागने के प्रेमी मात्र हों, जिससे पुस्तकालय में बैठकर उन पुस्तकों के अध्ययन वाला अंश, जिन्हें कोई नहीं पढ़ता, बिल्कुल आंखों से ओझल हो जाता है। जेलों में पहुचकर क्रान्तिकारियों की यह अध्ययन-प्रवृत्ति और भी बढ़ जाती थी जिसका एक छोटा-सा ब्यौरा यहा देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—अन्दमान की बात है। वहा ब्रिटिश सरकार अधिक से अधिक साम्यवादी साहित्य इसलिए भेज रही थी कि लोगों का मन आतंकवाद वाले हिस्से से हट जाए, जिससे ब्रिटिश सरकार को बहुत परेशानी और डर था। एक मोटी पुस्तक आती। यदि यह एक व्यक्ति के पास रहती, तो कई दिनों में दूसरे व्यक्ति की बारी आती, इसलिए क्रान्तिकारी कैदी उसे फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर लेते, जिससे लाभ यह होता कि पहले दिन उसे एक व्यक्ति पढ़ता, पर दूसरे दिन दो व्यक्ति पढ़ते, तीसरे दिन तीन व्यक्ति पढ़ते, इस प्रकार थोड़े समय में बहुत-से लोग उस पुस्तक को पढ़ जाते थे। साथ-साथ बहस भी होती जाती थी।

शचीन्द्रनाथ सान्याल इस प्रकार के अध्येताओं में सर्वश्रेष्ठ कहे जाएगे। वह अंग्रेजी, बंगला, हिन्दी की पुस्तकें पढ़ते, उर्दू की कुछ पुस्तकों को पढ़वाकर सुनते, मित्रों से पैसे मंगाकर पुस्तकें पढ़ते। इस प्रकार उनका ज्ञान-जीवन का अभियान चलता था।

सन् 1922 के बाद उन्होंने उत्तर भारत में एक अच्छा संगठन बना लिया, जिसके कुछ प्रमुख अभिनेता थे—सुरेश चक्रवर्ती, रामप्रसाद बिस्मिल, विष्णुशरण दुबलिस, राजेन्द्र लाहिड़ी, रोशनसिंह, अशफाक उल्ला, यतीन्द्रनाथ दास, रामदुलारे त्रिवेदी, मणीन्द्रनाथ बनर्जी, विष्णुशरण दुबलिस, रमेश गुप्त, मनमोहन गुप्त आदि-आदि। इनमें से कइयों को फांसी हुई। चन्द्रशेखर आजाद वर्षों तक क्रान्तिकारी दल का गौरवपूर्ण नेतृत्व करने के बाद गोलियों का जवाब गोलियों से देते हुए शहीद हो गए। अफसोस है कि शचीन्द्रनाथ सान्याल अपने दल का पूरा इतिहास नहीं लिख सके, पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह बहुत ही प्रामाणिक है और उसमें पता लगता है कि क्रान्तिकारी किस प्रकार जेल के बाहर ही नहीं जेल के भीतर भयंकर संग्राम करते रहे।

कांग्रेस आन्दोलन का इतिहास अतिशयोक्तिपूर्ण रूप से देश के सामने आ चुका है, पर क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास अभी कम आया है। यह आन्दोलन एक तरफ यूरोप, दूसरी तरफ अमरीका तक फैला रहा, साथ ही यह भारत के कोने-कोने में फैला रहा, जिसकी पूरी खबरें अभी मिलनी बाकी हैं। हिन्दी में तो इस सम्बन्ध में बहुत कम ही पुस्तकें हैं। इसीको दूर करने के लिए संसद सदस्य प्रसिद्ध साहित्यकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में शहीद ग्रन्थमाला

का आरम्भ किया गया, जिसमें अमरशहीद रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा, यश की धरोहर, गणेशशंकर विद्यार्थी, गदर पार्टी का इतिहास, भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, पाच पुस्तकें प्रकाशित हुई थी। इसी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत शचीन्द्रनाथ सान्याल लिखित 'बन्दी जीवन' प्रकाशित हुई। इसका पहला भाग बगाल में 1922 मे प्रकाशित हुआ था। यह लगभग वह समय था जब गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन शुरू करके उसे कुछ महीने चलाकर चौरी चौरा काण्ड के बहाने उसे एकाएक बन्द कर दिया था।

कहना न होगा कि वह समय क्रान्तिकारी दल का सही और पूरा इतिहास लिखने के लिए उपयुक्त नही था, क्योकि अंग्रेजों को स्वाभाविक रूप से ऐसे इतिहास से चिढ़ थी, जिससे लोगों को अनुप्रेरणा और भविष्य-सग्राम के लिए पथ-निर्देश मिले। सच तो यह है कि उन्ही दिनों जब गाधी जी ने आन्दोलन बन्द कर दिया, तब क्रान्तिकारी आन्दोलन का द्वितीय पर्याय शुरू हुआ। फिर भी प्रथम भाग मे ही बहुत कुछ इतिहास आ गया है। कम से कम उसकी मुख्य प्रवृत्तियां सामने आई है। क्रान्तिकारियो का संग्राम आराम कुर्सी पर बैठकर चलाया जाने वाला सग्राम नही था, और जैसा कि श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल ने प्रथम सस्करण के 1922 वाली भूमिका मे लिखा था, "क्रान्तिकारियों को ऐसे सख्त लोगों से पाला पडा था जो हाड़ और मास तो खाते थे, इसके अलावा उनका चमडा उधेड़कर ढोल मढवाने के लिए तैयार थे। एक तरफ तो अत्याचारी ब्रिटिश सरकार थी और दूसरी तरफ जनता ऐसी थी जो अभी गहरी नींद में सोई हुई थी। इन्ही दिनों चक्कियों के पाट से होकर वे ही लोग निकल सके थे जो लोहे के चने चबा सकते थे। केवल अपने आदर्शों के बल पर ही लोग इस सग्राम में टिक सके थे। गांधी अपनी सारी शक्ति लगाकर उन्हें गुमराह प्रमाणित करने पर तुले थे।"

शचीन्द्रनाथ सान्याल ने 'बन्दी जीवन' मे क्रान्तिकारी आन्दोलन का पूरा इतिहास नही लिखा, बल्कि केवल उतने का ही लिखा जितने से उनका सम्बन्ध था, इसलिए 'बन्दी जीवन' एक संस्मरण है। अवश्य ऐसा संस्मरण जिसमें केवल कहानी नही कही गई है, बल्कि हर मोड पर ठिठककर गम्भीर विवेचन किया गया है कि ऐसा क्यों हुआ और ऐसा क्यों नही हुआ। शचीन्द्रनाथ सान्याल बहुत बड़े विद्वान थे। शायद ही अरविन्द, लाला हरदयाल और एम० एन० राय के अलावा उनके मुकाबले का कोई विद्वान क्रान्तिकारी आन्दोलन में था। इसका परिचय पुस्तक के प्रति पग पर मिलता है। पर इस कारण यह जरूरी नही कि पाठक लेखक के हर उपसंहार और वक्तव्य मे सहमत हो। क्रान्तिकारी आन्दोलन मे प्रारम्भ मे केवल ऐसे लोग ही आए थे, जो धार्मिक विचार रखते थे जैसे सावरकर, बारीन्द्रकुमार घोष, खुदीराम और शचीन्द्रनाथ सान्याल। पर बाद को चलकर जब यहा रूसी क्रान्ति की लौ की ज्योति पहुची तब बहुत-से लोग समाजवाद और

मान्यवाद की ओर झुके और ऐसे लोग क्रान्तिकारी आन्दोलन मे आए जैसे भगतसिंह, वटुकेश्वरदत्त, विजयकुमारसिंह आदि जो खुलमखुल्ला अपने को भौतिकवादी बताते थे। ऐसे लोगो का यह कहना था कि धर्म और ईश्वर की सृष्टि इसलिए की गई है कि उसके द्वारा शोषितो का विद्रोह दवाकर रखा जाए तथा लोगों के मन मे यह आशा बनी रहे कि हमें परलोक मे सब कुछ मिलेगा। यदि इस लोक मे जूते मिलते है तो क्या, उस लोक में हूरें और गिल्मे प्राप्त होंगी।

पहले 'बन्दी जीवन' के दो भाग प्रकाशित हुए थे, जिनके कई-कई संस्करण हुए। यहा तक कि जब्त हो जाने पर भी छिपे तौर पर उनके सस्करण होने रहे और हाथो-हाथ विकते रहे। इस पुस्तक मे 'बन्दी जीवन' का तीसरा भाग भी, जहा तक कि प्रकाशको के हाथ लग सका, प्रकाशित है। साम्यवादियो ने क्रान्तिकारियों की जो आलोचनाएं की हैं, उनका उत्तर देने के बाद श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल, जवाहरलालजी के उस कथन का भी उत्तर देना चाहते थे, जिसमें उन्होंने किसी प्रसग मे क्रान्तिकारियों को फासिस्ट बताया है। इस प्रसग पर शचीन्द्रनाथ लिखते है, "प० जवाहरलाल जी का यह कहना कि भारतीय क्रान्तिकारी फासिस्ट थे, यह भी नितान्त भ्रमात्मक है।"

महीनों, वर्षों विप्लव के लिए अनथक परिश्रम करने के बाद भी केवल एक बड़ी व्यर्थता ही उनके हाथ लगी। जिस पथ का अतिम परिणाम केवल व्यर्थता हो, वह पथ क्या भ्रान्त नही है? इस व्यर्थता का कुछ भी मूल्य है? भारत के अभिज्ञ नेता और विचक्षण समालोचक विप्लवियो से ऐसे ही प्रश्न प्राय. करते रहे है।

प्रायः चालीस वरस की कशमकश के बाद, कितने त्याग, कितने कष्ट और कितनी अशान्तियों को लाघकर इटली ने स्वधीनता पाई थी, किन्तु इस मुक्ति-पथ के जो प्रथम यात्री थे, उन्हे उनकी पहली विप्लव चेष्टाओं के व्यर्थ होने के दिन कितनी ही निन्दाए सहन करनी पड़ी थी! इस प्रसग मे आइरिश शहीद वी० टी० मैक्स्विनी की चिरस्मरणीय वात याद आती है, "कोई आदमी तो तुम्हे यह कहे कि एक सशस्त्र मुकाबला—चाहे दस आदमी ही ऐसा मुकाबला करें, चाहे उन आदमियो के पास पत्थरो के सिवाय और कोई हथियार न हो—कोई आदमी तो तुम्हे कहे कि ऐसा मुकाबिला अपरिपक्व है, अक्लमन्दो का काम नही है या खतरनाक है, प्रत्येक ऐसा आदमी लातें खाने लायक और मुह पर थूके जाने लायक है क्योंकि यह वात समझ लो और याद रखो कि कहीं न कहीं किसी न किसी तरह और किसी-न-किसी को मुकावले का आरम्भ करना होगा और मुकावले का पहला काम हमेशा अपरिपक्व और खतरनाक होता है और होना ही चाहिए।"

आगे चलकर शचीन्द्रनाथ सान्याल कहते है—"इतिहास लिखने बैठा हूं, इसलिए भारतीय विप्लवियों को भारतवासी किस दृष्टि से देखते थे, क्यों उस दृष्टि

से देखते थे, और उन्हें किस दृष्टि मे देखना उचित है, इन सब विषयों की भी आलोचना कर गया हू। विप्लवियों ने सचमुच पागलपन किया था कि नही, यह नही जानता हूं तो भी उनके पागलपन की बात सुनकर रवि बाबू की एक कविता के कुछ पद याद आते हैं :

कोन आलोते प्राणेर प्रदीप
ज्वालिए तूमि धराय आस।
साधक ओगो प्रेमिक ओगो
पागल ओगो धराय आस।

"हे साधक, हे प्रेमिक, हे पागल, तुम इस भूमि पर आते हो—किस ज्योति से प्राणों के प्रदीप को जलाकर तुम इस भूमि पर आते हो?"

जब असहयोग रोक दिया गया, तो क्रान्तिकारी स्वभाव के सभी लोग, जैसे चन्द्रशेखर आजाद, रामदुलारे त्रिवेदी, विष्णुशरण दुबलिस, रोशनसिंह आदि जेल से लौटे। असहयोगियों के सामने समस्या खड़ी हो गई। फिर वही बात आई—नेति।

पुराने क्रान्तिकारी, जैसे शचीन्द्रनाथ सान्याल (अन्दमान जेल से लौटे हुए), रामप्रसाद बिस्मिल, सुरेश भट्टाचार्य, मुकुन्दीलाल अगड़ाई लेकर उठ खड़े हुए। चन्द्रशेखर आजाद भी क्रान्तिकारी दल मे आ गए। और आते ही वह खतरनाक से खतरनाक कामों मे भागकर शरीक होते गए। उनकी बेचैन आत्मा को देखकर रामप्रसाद बिस्मिल (वह कवि भी थे) ने उनका नाम क्विकसिलवर यानी पारा रख दिया था। पर पारा भी कभी-कभी उतरता है। वह निरन्तर चढते ही गए जब तक कि उन्होंने सुकरात की तरह शहादत का जाम पी नही लिया।

क्रान्तिकारी दल मे उन्होने जो कुछ किया उसका सक्षिप्त ब्योरा ही दें तो यह एक पोथा हो जाएगा। जब 1925 मे काकोरी षड्यन्त्र का मुकदमा चला तो आजाद के नाम भी गिरफ्तारी का वारट था। पर अन्त तक वह पकड़े न जा सके। शचीन्द्र बख्शी पकड़े गए, अशफाक पकड़े गए, कुन्दनलाल भी पकडे गए, पर आजाद पकड़े न जा सके; वह आजाद ही रहे।

रामप्रसाद बिस्मिल और काकोरी काण्ड

शचीन्द्रनाथ सान्याल के नये दल एच० आर० ए० (हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन) मे रामप्रसाद बिस्मिल जल्दी ही दल के बड़े नेता बन गए। अब की बार केवल मध्यम वर्ग के युवकों को लेकर ही दल बनाया गया था। मैनपुरी की तरह डाकुओं या दूसरे लोगों को इसमें आने नहीं दिया गया। दल की ओर से कभी-कभी जो डाका डाला जाता था, उसमें रामप्रसाद बिस्मिल नेता का काम करते थे। इसी कारण दल मे उनका महत्त्व बहुत अधिक हो गया। थोड़े दिनों तक केवल

गांवों में ही डकैतिया डाली जाने लगी। पर उनमें धन बहुत कम मिलता था। कई बार खबर देने वाला भी गलत खबर दे देता था। दुश्मनी के कारण लोग यह खबर देते थे कि अमुक महाजन के पास लाखों का धन है, पर जब क्रान्तिकारी वहा पहुचते, तो कुछ भी नही मिलता था। इन बातों से क्रान्तिकारी बहुत दुखी हुए। वे यह नहीं चाहते थे कि इस प्रकार से व्यर्थ में लोगों को सताया जाए और अपनेको जोखिम में डाला जाए। यदि देश के लिए एकाध महाजन से लड़ना सही था, तो व्यर्थ मे गाव वालों के घर में डाका डालने का कोई अर्थ नही होता था। इसलिए क्रान्तिकारी दल के नेताओं ने यह आदेश दिया कि गांवों में डाका न डाला जाए।

इसी बीच क्रान्तिकारी दल की ओर से कई तरह के परचे और साहित्य प्रकाशित हो चुके थे। एक परचे का नाम था—'रिवोल्यूशनरी'। इस परचे मे यह कहा गया था कि क्रान्तिकारी दल का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना है, जिसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण न हो सके। इसके अलावा यह कहा गया था कि क्रान्तिकारी दल आतकवाद मे विश्वास नहीं करता, पर जब कभी अत्याचार बहुत बढ जाता है, तो उसका तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया जाना जरूरी हो जाता है। नही तो लोगो मे निराशा फैलती है। यह परचा पेशावर से लेकर रगून तक एक ही दिन मे बंटा था। इस परचे के लेखक दल के नेता शचीन्द्रनाथ सान्याल थे। रामप्रसाद बिस्मिल ने इस परचे को बांटने का बहुत सुन्दर संगठन किया था। स्वयं वह उत्तरप्रदेश के आठ-दस जिलों मे जाकर परचे बांटने का प्रबन्ध करते रहे। वह अपने साथियो को गोली चलाने की शिक्षा भी देते रहे। उन्हींके जिले के ठाकुर रोशनसिंह भी उनके साथ काम कर रहे थे। वह भी अच्छे निशानेबाज थे। रामप्रसाद बिस्मिल बहुत कट्टर आर्यसमाजी होते हुए भी अशफाक उल्ला नामक एक युवक को अपने साथ कर सके। अशफाक बहुत ही साहसी क्रान्तिकारी साबित हुए। और बाद को चलकर वह रामप्रसाद बिस्मिल के साथ ही फांसी पर चढ गए।

क्रान्तिकारी दल का कार्य जोरो पर था और सरकार यह पता लगाने की चेष्टा कर रही थी कि कौन लोग क्रान्तिकारी आन्दोलन मे हैं। सरकार को यह पता लग चुका था कि अच्छा-खासा दल बन चुका है, जो बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकता है। उन्हीं दिनों दल ने धन के अभाव के कारण यह तय किया कि लखनऊ के पास काकोरी मे एक रेल का खजाना लूट लिया जाए। अशफाक उल्ला ने जब यह बात सुनी तो उन्होंने बहुत मना किया और समझाया कि क्रान्तिकारी दल अब तक जो कुछ कर रहा था वह चुपचाप कर रहा था, जानबूझकर क्रान्तिकारी गांवों मे इस तरीके से डकैती डालते थे कि किसीको पता न चले कि क्रान्तिकारी डकैती डाल रहे हैं। इसीलिए वह बिल्कुल साधारण डाकुओं का व्यवहार करते थे। पर

रेल डकैती की बात दूसरी है। अशफाक उल्ला के समझाने के बावजूद दल ने रेल में डकैती करने का निश्चय नही बदला। नतीजा यह हुआ कि 1925 को 9 अगस्त को काकोरी के पास सन्ध्या के समय की एक गाड़ी को रोककर उसका खजाना लूट लिया गया। क्रान्तिकारियों ने जजीर खीचकर गाडी रोक दी। इसके बाद वे टुकडियों मे बंट गए। एक टुकडी खजाने का वक्स निकालने में लगी, एक टुकड़ी पहरे पर रही। बड़ी कठिनाई से लोहे का सन्दूक तोड़ा जा सका। चन्द्रशेखर आजाद, अशफाक उल्ला आदि लोगों ने विशेष कार्य किया। थोड़ी देर में क्रान्तिकारी रेल का खजाना लूटकर गुप्त रास्ते से लखनऊ पहुंच गए। इसपर सरकार को ज्ञात हो गया कि यह क्रान्तिकारियों का कार्य है। और वह बहुत घबरा गई। पुलिस के बड़े अधिकारियों की सभाएं होने लगी। और अन्त में एक दिन सारे उत्तर भारत में छापा मारकर क्रान्तिकारी गिरफ्तार किए गए। लगभग 100 व्यक्ति गिरफ्तार किए गए। पर इनमे से बहुत-से लोग छूटते चले गए और अन्त तक लगभग 20 व्यक्तियों पर मुकदमा चला। रामप्रसाद बिस्मिल अपने घर मे ही गिरफ्तार हो गए थे। अशफाकउल्ला गिरफ्तार नही किए जा सके। राजेन्द्र लाहिड़ी उन दिनों कलकत्ता में बम बनाना सीखने गए थे इसलिए वह भी गिरफ्तार नही हुए। चन्द्रशेखर आजाद को आहट मालूम हो गई थी, इसलिए वह भाग निकले। इसी प्रकार शचीन्द्रनाथ बख्शी जो उस रात को नाटक देख रहे थे, वही से खिसक गए। पर धीरे-धीरे, अशफाक उल्ला, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी और शचीन्द्र बख्शी सब गिरफ्तार हो गए। लखनऊ में एक मुकदमा चला जो काकोरी षड्यन्त्र कहलाया। डेढ़ साल तक मुकदमा चलता रहा। प्रतिदिन सरकार कई हजार रुपये खर्च करती रही और इस प्रकार करीब 10 लाख रुपये वकील को देकर सब क्रान्तिकारियों को सजा दिलाई गई। जब क्रान्तिकारी गिरफ्तार हुए तो उनको कानूनी सहायता देने के लिए देश की ओर से बडी कमेटी बनी, जिसमें मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू आदि का भी सहयोग था। कलकत्ता से एक बैरिस्टर बी० के० चौधरी बुलाए गए जिन्होंने नाममात्र का पारिश्रमिक लेकर क्रान्तिकारियों की पैरवी करना स्वीकार किया।

डेढ़ साल दो सेप मे मुकदमा चलने के बाद सजाएं सुनाई गईं। 4 व्यक्तियों को फांसी की सजा दी गई। उनमें से तीन, यानी रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह और अशफाक उल्ला शाहजहांपुर के ही थे और राजेन्द्र लाहिड़ी ने अभी-अभी हिन्दू विश्वविद्यालय मे एम० ए० पास किया था। दूसरे लोगों को भी सजाएं दी गई जिनमें से कइयों को आजीवन काले पानी की सजाएं हुईं। सजा देने के बाद सभी कैदियों को अलग-अलग बन्द कर दिया गया। रामप्रसाद बिस्मिल को गोरखपुर भेज दिया गया। इसी प्रकार अशफाक उल्ला को फैजाबाद, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी को गोंडा और रोशनसिंह को इलाहाबाद जिला जेल भेज दिया गया। बहुत दिनों

तक उनकी अपील चलती रही। पर कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टे पाच व्यक्तियों की सजा और बढा दी गई। इस दृष्टि से देखने पर काकोरी षड्यंत्र एक अजीब षड्यंत्र रहा।

सबसे बड़ी बात जो अखबारों में बराबर छपती रही, वह यह थी कि क्रान्तिकारी जेल या अदालत की कुछ भी परवाह नहीं करते। वे अदालत में इस तरह से बरताव करते मानो कोई तमाशा हो रहा हो। रामप्रसाद बिस्मिल कविताएं भी लिखते थे। उनकी कई कविताए 'भारत के क्रान्तिकारी' नामक पुस्तक में छपी हैं।

1927 की 19 दिसम्बर को रामप्रसाद बिस्मिल को फांसी हुई। 18 दिसम्बर की रात का उन्हें दूध पिलाने के लिए सिपाही आया तो उन्होंने कहा, "अब मैं दूध नहीं पीऊंगा, अब मैं मा का ही दूध पीऊंगा।" उनका मतलब यह था कि मेरा फिर जन्म होगा और मैं अगले जन्म में फिर देश की सेवा करता रहूंगा। उन्हे जिस दिन सवेरे फासी दी जाने वाली थी, उस दिन नित्य कर्म, सन्ध्यावन्दन आदि बाकायदा किया, मा को एक पत्र लिखा और फांसी के लिए प्रतीक्षा करते रहे। जब जल्लाद और सिपाही उन्हे फासी पर चढाने के लिए ले जाने लगे, तो उन्होने 'वन्दे मातरम्' और 'भारत माता की जय' का नारा दिया। चलते समय उन्होने एक कविता कही। फांसी के दरवाजे पर पहुंचकर उन्होने कहा, "मैं ब्रिटिश साम्राज्य का विनाश चाहता हू।" इसके बाद तख्ते पर चढ़कर वह वेदमंत्र का उच्चारण करते-करते फांसी पर झूल गए।

रामप्रसाद बिस्मिल के अन्य तीन साथियों ने भी अपनी-अपनी जेलों में बड़ी बहादुरी से फासी खाई, जिसका कुछ ब्योरा जनता तक उन्हीं दिनों पहुंचा और बड़ा जोश फैला।

तेरहवा अध्याय

चन्द्रशेखर आजाद

चन्द्रशेखर आजाद पकडे नहीं जा सके थे। वह सभी अर्थों में जनता के सबसे नीचे के तबके से आए थे, इस कारण जब मौका आया तो उन्हें समाजवाद को अपनाने में सरदार भगतसिंह की तरह मोटी-मोटी पुस्तकें नहीं पढनी पड़ीं। वह जब तक जीते रहे, उग्र से उग्रतर होते चले गए। राजनैतिक रूप से क्या करना है, क्या

सोचना है, इसकी एक ही कसौटी उनके पास थी कि देश के गरीबों की किसमे भलाई होगी, कैसे उनका दु:ख दूर होगा, कैसे उनका अज्ञान मिटेगा।

ब्यौरे में चन्द्रशेखर आजाद की जीवनी का अध्ययन-मनन करने पर भी कहीं यह नहीं मिलता कि उनके विद्वान साथी, जैसे भगतसिंह, भगवतीचरण वोहरा, विजयकुमारसिंह ने पुस्तकें पढकर कोई नतीजा निकाला हो और चन्द्रशेखर आजाद ने दो मिनट के लिए भी उसका विरोध किया हो। स्मरण रहे कि क्रान्तिकारी में और साधारण व्यक्ति में फर्क इतना है कि क्रान्तिकारी जब खूब सोचकर एक चिन्तन की चाभी तक पहुचता है, तो वह उसे ऊपर ही ऊपर मन्दिर में बैठाकर उसकी आरती उतारकर हाथ-पैर बांधकर बैठ नही जाता है, बल्कि वह उस विचार को दवा की तरह पी जाता है ताकि वह उसके रक्त में समाकर उसके सारे जीवन को बदल दे। अपना जीवन बदलकर ही आदमी दूसरे का जीवन बदल सकता है।

सचाई तो यह है कि असली क्रान्तिकारित्व इस बात में है कि जीवन बदल जाए। यदि जीवन नहीं बदला, केवल मंच पर बड़ी क्रान्तिकारी बातें छांटते रहे, वही दुकानदारी, श्राद्ध, दाढ़ी, जनेऊ रहा तो क्रान्तिकारी बातें भी एक ढोंग ही हुई। चन्द्रशेखर आजाद का जन्म मध्य प्रदेश के झाबुआ तहसील के एक अत्यन्त अप्रसिद्ध ग्राम भावरा में हुआ था। आज के ग्रामों में ट्रांजिस्टरों की बदौलत (जिसे एक क्रान्ति कहा गया है) दुनिया-भर की महत्त्वपूर्ण खबरें बात की बात में पहुंच जाती हैं, पर 1906 की 23 जुलाई को आजाद का जन्म हुआ था, भारत के सारे ग्राम अन्धकार में डूबे हुए थे। भारत के लगभग सबसे पिछड़े हुए इलाके की गन्दगी में पैदा होकर यह शिशु गोलियों का जवाब गोलियों से देते हुए प्राण त्यागकर कैसे सर्वयुग के क्रान्तिकारियों के लिए भगतसिंह की तरह एक साफ-सुथरा आदर्श बना हुआ है और बना रहेगा, यह परम आश्चर्य की बात है।

चतुर्वेदी, माहौर, मल्कापुरकर का दान

इस प्रसंग पर आगे बढ़ने से पहले यह बता दिया जाए कि उनके जन्म की तारीख का पता कैसे लगा, इसका सारा श्रेय डा० भगवानदास माहौर को और बनारसीदास चतुर्वेदी को है। भारत स्वतन्त्र होने पर लोग अपने-अपने काम में इतने फंस गए कि उन्हें पुण्यश्लोक शहीदों की याद नहीं रही। क्यों नहीं रही इसके तफसील में जाकर कारणों को नहीं टटोलूंगा, क्योंकि फिर तो कथा लम्बी हो जाएगी।

बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० भगवानदास और सदाशिव मल्कापुरकर चन्द्रशेखर आजाद की माता जी को ढूंढकर ले आए और झांसी में अपने घर पर रखा। उपरोक्त दोनों ने माता जगरानी देवी की खूब सेवा की। उन्हींसे पूछकर

आजाद के जन्म और बाल्यकाल का पता लगा। माता जी को बस इतना स्मरण था कि चन्द्रशेखर का जन्म सावन सुदी दूज सोमवार को दिन दो बजे हुआ था। इसी सुराग ने उनकी जन्मतिथि का 1906 की 23 जुलाई का पता लगा लिया। अब उसीके अनुसार कई लोग 23 जुलाई को उनका जन्म-दिवस मनाते है।

चन्द्रशेखर आजाद की शहादत के बाद कुछ ही सालो के अन्दर यह झगड़ा पैदा हो गया और अब भी जारी है (कभी उसका फैसला शायद ही हो, क्योंकि लोगों को सत्य से कम मतलब रहता है) कि उनका जन्म भावरा मे हुआ था या उन्नाव जिले के बदरका नामक गांव में। बदरका वाले मधुर जिद के वश में बदरका मे उनका जन्म-दिवस मनाते है। सारी प्राप्त जानकारियों पर ध्यानपूर्वक विचार करने के बाद (मैं इस समय अंग्रेजी मे चन्द्रशेखर आजाद की जीवनी करीब-करीब समाप्त कर रहा हूं) मैं इस अकाट्य और अनिवार्य उपसहार पर पहुंचा हू कि चन्द्रशेखर आजाद के पूर्वपुरुषो का, यहा तक कि उनके पिता का, जन्मस्थान बदरका था, पर दुर्भिक्ष मे बेरोजगारी के कारण उन्हे जन्मभूमि छोडकर भावरा जाना पड़ा और वीर बालक चन्द्रशेखर का जन्म वही हुआ। बदरका भी भारत मे है और भावरा भी भारत में, अतएव उससे कुछ आता-जाता नही। रहा यह कि इस सम्बन्ध मे किसी तर्क की गुंजाइश नही, क्योंकि ये तथ्य चन्द्रशेखर की माता जी से प्राप्त कर डा० भगवानदास ऐसे महान विद्वान क्रान्तिकारी ने लिपिबद्ध किया। मा से बढकर इस सम्बन्ध में किसे जानकारी हो सकती है ? सच्ची बात तो यह है कि इस प्रकार के विवाद यह दर्शाते हैं कि चन्द्रशेखर आजाद कितने जनप्रिय हैं कि उनको लेकर यह मधुर झगड़ा जारी है। तसल्ली सिर्फ इतनी है कि इससे पहले कालिदास, जयदेव और तुलसीदास को भी इस प्रकार हमलों का सामना करना पड़ा है। कालिदास को तो बगाली से लेकर कश्मीरी तक सब अपनी प्रान्तीय झोली मे बन्द करना चाहते है, तुलसीदास भी कई तरह की आंधियों मे से गुजर चुके है।

चन्द्रशेखर भावरा के डिब्बे मे बन्द रहने के लिए पैदा नही हुए थे। उनके पिता तो इस बात से ही खुश थे कि वह मामूली हिन्दी पढकर किसी मुशीगीरी की नौकरी मे बध जाए, फिर उसकी शादी हो, यथारीति पोते आदि पैदा हों, पर चन्द्रशेखर अभी यह तो नहीं जानते थे कि उन्हे क्या होना है। उनका मन इन बातों मे बैठ नहीं रहा था। नेति।

चन्द्रशेखर आजाद (अभी वह आजाद नही हुए थे) के पिता सीताराम जी तिवारी के एक पारिवारिक मित्र थे मनोहरलाल त्रिवेदी, जो उनकी सारी जानकारी 1964 के 'नर्मदा' नामक पत्रिका के विशेषाक मे भविष्य पीढियों के लिए थाती के रूप मे छोड़ गए है। उनके अनुसार सीताराम ने तीन विवाह किए थे, इससे हम सीताराम जी पर कोई लेबल न लगा दें। ब्यौरा न देकर इतना ही बता

दिया जाए कि पहली पत्नी से एक पुत्र बदरका में हुआ था, पर वह मर गया था। एक बार वह पत्नी मायके गई तो सीताराम भी उन्हे लेने ससुराल भावरा गए, पर साले ने किसी कारण कहा, ठहर जाइए। तब तिवारी जी ने पत्नी से कहा, चलो, तो वह बोली, ठहर जाओ। इसपर वह नाराज होकर चले गए और जैसा कि उस युग के पुरुषशासित कुसंस्कारग्रस्त समाज मे, विशेषकर गावों मे, आम तौर से होता था, उन्होंने अपनी पत्नी के रहते हुए दूसरी शादी कर ली। पारिवारिक मित्र मनोहरलाल ने इसका वर्णन करते हुए तिवारी जी को 'कुछ क्रोधी, हठी, वचन के पाबन्द स्वभाव के' बताया है, पर मैं कहूंगा, सारा दोष उस समाज और माहौल का है जो एक पत्नी के रहते हुए दूसरी पत्नी करने की अनुमति देता है। सो भी उस हालत मे जबकि पहली पत्नी का कोई दोष नही था। स्मरण रहे पत्नी को इस अन्याय के बावजूद तलाक पाने का या पुर्नविवाह का अधिकार नही था और अब जब कि तलाक तो मिल सकता है, पर पुर्नविवाह शायद ही हो पाए।

दूसरी पत्नी मर गई, तब जगरानी देवी से विवाह हुआ, जिसके गर्भ से आजाद का जन्म हुआ।

मैंने पारिवारिक जीवनियों की शैली से हटकर सीताराम तिवारी के विषय मे ये तथ्य इसलिए परोसे कि पाठक को यह पता लगे कि हमारे चन्द्रशेखर न केवल अत्यन्त पिछड़े हुए, घोर अन्धकार के कीचड़ फड़फड़ाते इलाके मे पैदा हुए थे, बल्कि उनका परिवार भी सारे कुसस्कारों के पंक मे आकंठ डूबा हुआ था। ऐसे दूषित वातावरण में जन्म लेकर चन्द्रशेखर आजाद पहली कतार के महान क्रान्तिकारी भगतसिंह के साथ कदम मिलाकर चल सके, यह कहानी पढकर कौन दांतों तले उंगली नहीं दबाएगा ! भगतसिंह के परिवार में कुछ क्रान्तिकारी परम्पराएं थीं, वह भी गांवों की गोद से आए थे, पर वह पुस्तकालयों के कीडे थ, जैसा कि लालबहादुर शास्त्री ने लिखा है। पर चन्द्रशेखर आजाद पोथी पढकर नही, बल्कि यों ही जीवन के विद्यालय में सीखकर एक के बाद एक क्रान्तिकारी पग उठाते चले गए; नदी जिस प्रकार किसी पूर्व ज्ञान की बदौलत नहीं, बल्कि स्वतःस्फूर्त गति में सागर की ओर दौड़ती चली जाती है।

पारिवारिक मित्र मनोहरलाल त्रिवेदी छोटे अधिकारी थे। उन्होंने बालक चन्द्रशेखर को उस गांव की दृष्टि तथा पिता की हैसियत से (सीताराम जो बाग मे लगे थे) अच्छी नौकरी में लगा दी। पर यह नौकरी पाते ही बालक चन्द्रशेखर एकाएक जाग पड़े। अरे मैं तो फंस रहा हूं, जकड़ गया क्योंकि अगला कदम होगा शादी। सिद्धार्थ की आंखें उस समय खुल गई, जब यशोधरा की गोद में राहुल का फूल खिला। वह फौरन सिर पर पाव रखकर भाग खड़े हुए। राजपाट पीछे पड़ा रह गया, पत्नी-पुत्र छूट गए।

इसी प्रकार नौकरी पाकर चन्द्रशेखर के मन मे यह भय समा गया कि अब मैं प्रचलित असेम्बली लाइन में आ गया, कोल्हू मे जुत गया, साल के बाद सारा निकल जाएगे और वही का वही रह जाऊंगा। बस, वह चौकन्ना रहने लगे, भागने का रास्ता ढूढने लगे, पर कही कोई सूराख दिखाई नही पड़ा। हमेशा से एक गाव मे कैद और कुंठित बालक के लिए बाहरी दुनिया मे कूद पडना ऐसा ही था जैसे कुए मे रहने वाले मेढक को सागर मे कुदा दिया जाए। चन्द्रशेखर इस ताक में थे कि कैसे इस कुए से निकला जाए कि गाव में एक फेरी वाला आया। उसके साथ वह बम्बई भाग गए। पर वहा फेरी वाले के बिना पैसो के नौकर बने रहने के बजाय वह जल्दी ही उससे अलग होकर मिल मजदूर का काम अपना लिया। गांव के अन्धे कुए से तो छुट्टी मिली, देश की विराटता का कुछ ज्ञान हुआ। पर नेति। यह वह नही था जिसकी तलाश थी। मजदूर जीवन का गहरा व्यावहारिक ज्ञान हुआ। पर मजदूर बनना मकसद नहीं था। नेति। वह वहां से काशी गए कि सस्कृत पढने का मौका लगे।

काशी मे सस्कृत पढने की बहुत-सी पाठशालाएं थी। हमेशा से सस्कृत पठन-पाठन मुफ्त मे होता था। धर्मात्मा लोग इन पाठशालाओं का खर्च चलाते थे। काशी में कुछ सस्कृत छात्रावास थे, जहा छात्रों को मुफ्त रहने दिया जाता था, पर वहा भोजन नही मिलता था। उसके लिए कुछ क्षेत्र बने थे, जहां मुफ्त भोजन (रोटी, दाल, एक सब्जी) मिलता था। अक्सर क्षेत्रों मे केवल दुपहर के भोजन की व्यवस्था थी। रात के भोजन के लिए छात्रों को सन्ध्या समय आरती के बाद प्रसाद पर निर्भर रहना पड़ना था। स्मरण रहे, ये सुविधाएं केवल ब्राह्मण छात्रो के लिए थी। हिन्दू धर्म मे सारी सुविधाएं ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थी क्योकि वे ही नियम बनाते थे। जो कुछ भी हो, आजाद का ब्राह्मणत्व इस मौके पर काम दे गया। चन्द्रशेखर इस प्रकार सस्कृत के छात्र हो गए। पर नही, नेति। यह 1919—20 की बात होगी।

संस्कृत पढ़ने में उनका मन कितना लगा, यह कहना कठिन है। उन दिनों पुराने ढग की इस पढाई मे रट मारने में ही विद्या मानी जाती थी। लघुकौमुदी है तो पुस्तक को रट डालो, अमरकोष है तो उसे रट डालो।

संस्कृत के ये छात्र बड़े पोंगापंथी माने जाते रहे, क्योकि एक तो ब्राह्मण, तिसपर काशी, तिसपर सस्कृत का अध्ययन। पर यह ताज्जुब की बात है कि जब महात्मा गांधी की लहर चली(यह 1919—20 की बात है), जिसका आरम्भ जलियांवाला हत्याकाण्ड से हुआ, तो संस्कृत के ये छात्र सबसे पहले प्रभावित हुए। यों गहराई से देखा जाए, तो सस्कृत के इन छात्रों की आर्थिक दशा, यों कह लीजिए दैनिक दशा, बडी दयनीय थी। पढना किसीकी दया पर, रहना अन्य किसीकी दया पर, खाना भी जैसा-तैसा, सो भी मुख्यतः एक जून। रात को भोजन मिले या न

मिले या आधा मिले।

यों तो ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन शुरू से ही रहा। गांधीजी के असहयोग की लहरों ने वाराणसी के संस्कृत छात्रों को सबसे पहले झकझोर दिया। उन्हीमे थे चन्द्रशेखर। वह गिरफ्तार करके पारसी मैजिस्ट्रेट खरेघाट के सामने पेश हुए।

खरेघाट—तुम्हारा नाम ?

चन्द्रशेखर—आजाद।

खरेघाट—तुम्हारे बाप का नाम ?

चन्द्रशेखर—स्वाधीन।

खरेघाट—घर कहां है ?

चन्द्रशेखर—जेलखाना।

खरेघाट ने इस उत्तर से जल-भुनकर चन्द्रशेखर को, जो अब चन्द्रशेखर आजाद हो चुके थे, पन्द्रह बेंत की सजा दी। समझा गया कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि से गुस्ताखी की। यह गुस्ताखी ऐसे लगी कि सभी इस उम्र के बालकों ने (जिनमें मैं भी था) एक रटाया हुआ बयान दिया था। "जलियांवाला बाग हत्याकांड और खिलाफत अन्याय के विरोध में मैं इस अदालत को स्वीकार नही करता और इससे असहयोग आन्दोलन करता हूं।"

या तो चन्द्रशेखर को यह बयान रटाया नहीं गया था या उन्होंने उसकी अवज्ञा कर मौलिकता दिखाई, जिससे उन्हें, जैसा कि मुझे मिली थी, तीन महीने की सादी कैद न होकर बेंत की सजा दी गई। चन्द्रशेखर आजाद को यह बेंत केन्द्रीय बनारस जेल में लगे। गण्डासिंह जेलर के समक्ष। उन्होंने हर बेंत पर 'महात्मा गांधी की जय' का जयघोष किया, जिससे एक बिजली-सी दौड़ गई क्योंकि उन दिनों यही हमारा युद्धघोष था। इस प्रकार चन्द्रशेखर आजाद बने, जिस प्रकार सिद्धार्थ बुद्ध बने थे।

जब वह बेंत खाकर और हर बेंत पर महात्मा गांधी की जय बोलकर एक मिथक बन गए साहस और नौजवानी का, काशी के नागरिकों ने ज्ञानवापी में उनका स्वागत किया। मैं उस सभा में मौजूद था। मेरे जैसे कई होंगे जो जेल काटकर आए थे। निःसन्देह आजाद की वीरता बहुत ऊंची किस्म की थी, क्योंकि उस समय ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य मध्य गगन पर था। इसी साहस ने चन्द्रशेखर आजाद को युवक हृदय सम्राट् बनाया क्योंकि उनके साहस का पारा उत्तरोत्तर चढ़ता ही चला गया।

एक रूसी इतिहासकार ने हिसाब लगाकर यह बताया कि औसत क्रान्तिकारी का कर्मजीवन, सिवा उनके जो देश के बाहर भाग गए, दो साल का होता था, पर खतरनाक से खतरनाक काम करते हुए चन्द्रशेखर आजाद का कर्मजीवन

सात साल का रहा। इससे भी बड़ी बात यह है कि अत्यन्त पिछड़े हुए वातावरण और परिवार से आते हुए भी वे विचारों के क्षेत्र में भगतसिंह जैसे विद्वान क्रांतिकारी के साथ कदम से कदम मिलाकर चलते रहे। रामप्रसाद बिस्मिल और शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि पुराने क्रान्तिकारी राजनीति में अग्रदूत और अग्रणी रहे। पर सामाजिक विचारों में वे परम्परा की रस्सी न तुड़ा सके थे, जबकि वे उनके मुकाबले में पुस्तकी विद्या के अधिकारी थे। भगतसिंह और उनका उसी तरह का साथ रहा जैसे उत्कृष्ट सितारी का-तबलची का रहता है। भगतसिंह को कभी उनका नेतृत्व मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई क्योंकि वह बिना शास्त्रीय तर्कों के सहज बुद्धि से चोटी पर पहुंचे दिखाई पड़ते थे। सैण्डर्स हत्याकाण्ड, असेम्बली बमकाण्ड सब कार्यों में आजाद का अतिप्रत्यक्ष सहयोग रहा। नेहरू की आत्मकथा से प्रकट है कि वह भी इस अद्वितीय ऐतिहासिक जोड़ी की अवज्ञा नहीं कर सके।

चौदहवां अध्याय

मणीन्द्रनाथ बनर्जी, बब्बर अकाली तथा मेरठ षड्यंत्र

काशी के मणीन्द्रनाथ बनर्जी की कहानी न्यारी है। वह सान्याल परिवार (शचीन्द्रनाथ, जितेन्द्रनाथ, भूपेन्द्रनाथ प्रत्यक्ष रूप से क्रान्ति दल में रहे) के असर में आए। वह विशेषकर काकोरी के शहीद राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी के प्रति अनुरक्त थे। जब 1925 में काकोरी षड्यंत्र चला, तो वह कुछ करने के लिए बिलबिला उठे, पर नेताओं ने (जो घर बैठना चाहते थे) उन्हें यह कहकर रोका कि यदि इस समय कुछ करोगे, तो सरकार उसका बदला पकड़े हुए क्रान्तिकारियों से निकालेगी। वह चुप रहे।

पर जब दिसम्बर, 1927 में रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी, रोशनसिंह, अशफाक उल्ला को फांसी हो गई, तब भी उन्हें रोका गया तो वह न रुके। उन्होंने दिन-दहाड़े डी० एस० पी० बनर्जी पर गोली चलाते हुए कहा, "लो राजेन्द्र लाहिड़ी को फांसी दिलाने का पुरस्कार।"

गोली बनर्जी के पेट में लगी। वह तीन दिन बेहोश रहा, पर वह ठीक हो गया। जिस पिस्तौल से मणीन्द्र ने हमला किया था, वह बरामद नहीं हुई क्योंकि गोली मारकर मणीन्द्र ने उसे अपने साथी को दे दिया था। मामूली मुकदमा होता, तो इसीपर सन्देह का लाभ देकर मुकदमा छूट जाता, पर मणीन्द्र को 1[illegible] साल की

सख्त कैद दी गई। फतेहगढ़ जेल में सी क्लास के राजनैतिक कैदियों (रमेशचन्द्र गुप्त, रेवती मोहन सचान, रणधीर) पर दुर्व्यवहार के विरोध में बी श्रेणी के कैदियों यशपाल, मन्मनाथ गुप्त के साथ उन्होंने अनशन किया। अनशन तो समाप्त हुआ ऐंग्लो इंडियन जेलर लेडली के मांफी मागने पर, पर इस अनशन के दौरान उनका पेट खराब हो गया और वह फतेहगढ़ जेल में 1934 के 20 जून को शहीद हो गए।

मणीन्द्रनाथ बनर्जी के कारण उनका सारा परिवार राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ा। उनके भाई प्रभास, अमिय, फणीन्द्र, मोहित, बसन्त और फणीन्द्र की स्त्री सुरमा (उनका अन्तर्जातीय विवाह था) सभी जेल गए।

बब्बर अकाली वीर

पजाब का बब्बर अकाली आन्दोलन बहादुर किसानों का आन्दोलन था। किशनसिंह गड़गंज जलियानवाला बाग हत्याकाड के जमाने से किसानों को उत्तेजित कर रहे थे। करनसिंह और उदयसिंह इनसे अलग यही काम कर रहे थे। ये दोनों गुट मिल गए। सम्मिलित दल का नाम पड़ा बब्बर अकाली। इसी नाम से करनसिंह एक पत्र भी निकालते रहे। इस दल का उद्देश्य था सेना को मिलाकर क्रान्ति कर दी जाए। उनका कहना था कि पहले की चेष्टाएं इस कारण सफल न हो सकी कि मुखबिरों ने गद्दारी की। इस कारण ये जिसपर भी मुखबिरी का शक होता, उसे जान से मारने लगे। धन्नासिंह ने एक मुखबिर, बिशनसिंह, को मारा था। बोमेली में पुलिस और क्रान्तिकारियों में जमकर लड़ाई हुई जिससे उदयसिंह और महेन्द्रसिंह खेत रहे। करनसिंह ने लड़ाई जारी रखी, पर वह भी मारे गए। धन्नासिंह को पुलिस वाले गिरफ्तार करने पहुंचे, तो वह इस प्रकार से झपटे कि उनका कमर में रखा बम फट गया जिससे कि वह पांच पुलिस वालों को यमपुर भेजकर खुद भी शहीद हो गए।

91 बब्बर अकालियों पर मुकदमा चला, जिसमें किशनसिंह गड़गज को अन्य 5 क्रान्तिकारियों के साथ फांसी की सजा दी गई।

बब्बर अकालियों का पूरा इतिहास लिखा जाना बाकी है। उस समय नक्सलवाद शब्द प्रचलित नहीं था, नहीं तो वे शायद नक्सली कहलाते, पर इन दो धाराओं में फर्क भी काफी है। बब्बर अकाली अक्खड़ भूमिपुत्र थे, जबकि नक्सली हैं सुसंस्कृत, मुख्यत. शहरी तबियत के लोग।

कानपुर और मेरठ साम्यवादी षड्यंत्र

काकोरी काड और भगतसिंह के एक महान क्रान्तिकारी नेता के रूप में उदय होने के बीच एक नये ढग का क्रांतिकारी मुकदमा मेरठ में

चला। पर इससे पहले 1924 में कानपुर षड्यंत्र चला था। मुख्य अभियुक्त प्रसिद्ध क्रान्तिकारी एम० एन० राय पकड़े न जा सके थे। श्रीपाद अमृत डांगे, शौकत उस्मानी, मुजफ्फर अहमद और नलिनी को चार-चार साल की सजा हुई। इन लोगों पर यह अभियोग था कि इन्होंने कानून और व्यवस्था को भंग कर ब्रिटिश सरकार का तख्ता उलटने की चेष्टा की। इससे पहले पेशावर में भी एक इसी प्रकार का षड्यंत्र चला था।

मार्च 1929 में देशव्यापी गिरफ्तारियों के बाद जो षड्यंत्र मेरठ में चला, वह कहीं अधिक प्रसिद्ध हुआ। इसमें लेस्टर हचिनसन, फिलिप स्प्रेट और बी०एफ० ब्रेडले नामक तीन अंग्रेजों की गिरफ्तारी के कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय समाचार-मूल्य कहीं अधिक बढ़ गया। इनपर भी काकोरी वालों की तरह 120 बी (अपराधी षड्यंत्र), 121 ए (सम्राट् के विरुद्ध युद्ध घोषणा) के दफे लगे थे। डांगे और शौकत उस्मानी इसमें फिर अभियुक्त थे। एम० एन० राय फिर भी थे, पर वह थे यूरोप में। कहा गया कि रूस की हिदायतों पर ये भारत में सोवियत पद्धति स्थापित करना चाहते हैं। सेशन ने इन्हें लम्बी सजाएं दीं। इसपर भारत और स्वयं इंग्लैंड में बड़ी बमचख मची। नतीजा यह है कि हाईकोर्ट ने सजाएं एकदम घटा दीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता की आंखों में इनका महत्त्व काफी घट गया, पर इसमें सन्देह नहीं कि पेशावर, कानपुर तथा मेरठ षड्यंत्रों के कारण पढ़े-लिखे लोगों में साम्यवादी विचारधारा पर गहराई से चिन्तन-मनन होने लगा। एम० एन० राय का लगाया हुआ पौधा फल देने लगा था। पर सरदार भगतसिंह को और दत्त को ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि राजनैतिक रूप से बहरों तक भी साम्यवाद का सन्देश पहुंच गया। यहां तक कि उनको इस सम्बन्ध में जो अतुलनीय भारतव्यापी ख्याति मिली, उससे प्रभावित होकर जवाहरलाल नेहरू को कांग्रेस की भरी सभा में तीसरा बम-सा (भगतसिंह और दत्त ने एक-एक बम असेम्बली भवन में फेंका था) फेंकते हुए कहना पड़ा, "मैं समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी हूं।" मेरठ के अधिकांश दण्डित मरते दम तक साम्यवाद के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार लड़ते रहे, अवश्य फिलिप स्प्रेट (जो एक भारतीय महिला के साथ विवाह करके भारत में बस गए) पक्के प्रतिक्रियावादी हो गए, डांगे ने कम्युनिस्ट पार्टी (जो पहले ही कई टुकड़ों में बंट चुकी थी) को 1980 में फिर एक बार द्विधटित किया। भगतसिंह फांसी पा गए, पर जवाहरलाल 17 साल तक लगभग भारत के अधिनायक (विशेषकर सरदार पटेल की मृत्यु के बाद) बने रहने पर भी समाजवाद की ओर एक भी ऐसा कदम नहीं उठा सके जो एक बुर्जुआ देशभक्त न उठाते।

पन्द्रहवां अध्याय

सरदार भगतसिंह

काकोरी का मुकदमा जब तक चलता रहा, तब तक चन्द्रशेखर आजाद आदि बाहर के क्रान्तिकारियों को यह कहकर शान्त रखा गया था कि तुम लोग संगठन करते रहो, पर कोई ऐसा कार्य न करो जिससे मुकदमा खराब हो जाए और सरकार बदलामूलक सजाएं दे, पर जब सरकार ने यों ही बदलामूलक सजाएं दीं, तो अब प्रश्न उठा कि जोर-शोर के साथ काम होना चाहिए।

यों तो इस समय बिहार, उत्तरप्रदेश तथा पंजाब में संगठन था, किन्तु इन संगठनों में आपस में कोई घनिष्ठ सहयोग नहीं था। इसलिए कार्य की सुविधा के लिए 8 दिसम्बर, 1928 को समस्त भारत के प्रमुख क्रान्तिकारियों की एक सभा हुई। इस सभा में जयदेव, शिव वर्मा, विजयकुमारसिंह, सुखदेव, ब्रह्मदत्त पाण्डेय तथा फणीन्द्रनाथ घोष थे। इन लोगों ने एक नई केन्द्रीय समिति बनाई। इसमें निम्नलिखित सात सदस्य थे : 1. सरदार भगतसिंह, 2. चन्द्रशेखर आजाद, 3. सुखदेव, 4. शिव वर्मा, 5. विजयकुमार, 6. फणीन्द्रनाथ घोष, 7. कुन्दनलाल।

केन्द्रीय समिति के इन सात सदस्यों की भी सेवाएं बराबर नहीं कही जा सकती। इनमें से कई ने बाद को पुलिस में बयान दे दिया, फणीन्द्र घोष को तो इसी अपराध में बाद को दल के वीर सदस्य बैकुंठ शुक्ल द्वारा जान से मारा गया।

इस सभा में जो बातें तय हुईं वे यों है—फणीन्द्रनाथ घोष बिहार के, सुखदेव तथा भगतसिंह पंजाब के, विजयकुमार और शिव वर्मा उत्तरप्रदेश के संगठनकर्ता चुने गए। चन्द्रशेखर आजाद यों तो सारे दल के ही अध्यक्ष थे, किन्तु वह विशेषकर सेना विभाग के नेता चुने गए। आतंकवाद फैलाने का निश्चय किया गया। काकोरी युग में समिति का नाम हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन था। यह नाम कम अर्थव्यंजक समझा गया, समझा गया कि इस नाम से दल का उद्देश्य पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं होता। यह समझा गया कि इसको और स्पष्ट करना चाहिए। तदनुसार दल का नाम हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी यानी हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातान्त्रिक सेना रखा गया। संक्षेप में, ऐसा इसलिए हुआ कि साधनों में विकास के साथ-साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन के ध्येय में भी विकास होता रहा। उसीके अनुसार यह नाम बदल दिया गया। यह परिवर्तन सूचित करता है कि दल के ध्येय में और अधिक विकास हुआ। दल ने समाजवाद और मजदूर वर्ग के

अधिनायकत्व को ध्येय घोषित किया। दल की ओर से कई जगह बम बनाने के कारखाने खोले गए जिसमे से लाहौर, सहारनपुर, कलकत्ता और आगरे में बड़े कारखाने स्थापित हुए। बाद को लाहौर और सहारनपुर के कारखाने पकड़े गए।

इन सब कार्यो के मुख्य नेता चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह थे। एक अजीब बात है कि चन्द्रशेखर आजाद शायद अपने साथियों में सबसे कम पढ़े-लिखे थे। पर अपने साहस, तजुर्बे और स्वभाव के कारण वह सहज ही मे सबके नेता बने रहे। दल का नाम हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन से हिन्दुस्तान सोशलिज्म एसोसिएशन पड़ा यानी अब समाजवाद को दल का खुला लक्ष्य घोषित कर दिया गया। कहा तो यह मान लिया गया कि समाजवाद मे ही भारत के सारे प्रश्नों का निपटारा हो सकता है, और कहा विलायत की सरकार यह सोच रही थी कि एक कमीशन भेजा जाए और शासन सुधार दिया जाए।

साइमन कमीशन

1928 मे भारत के भाग्य का निपटारा करने के लिए विलायत से एक कमीशन आया, जिसके प्रधान इंगलैण्ड के प्रसिद्ध वकील सर जान साइमन थे। केवल कांग्रेस ने ही नही बल्कि मुल्क की सारी सस्थाओं ने उसके बायकाट का निश्चय किया। 'साइमन लौट जाओ' के नारो से आसमुद्र हिमाचल भारत गूंज उठा। लाला लाजपतराय इन दिनों कांग्रेस से एक तरह से अलग-से हो रहे थे, बल्कि सच तो यों है कि कई मामलों में अन्तिम दिनों में उन्होंने कांग्रेस का बहुत जबर्दस्त विरोध किया था जिसका अकाट्य प्रमाण श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रकाशित 'बच आफ लेटर्स' के अन्तर्गत मोतीलाल नेहरू के एक पत्र में है। मुल्क की निगाहों मे वह गिरते चले जा रहे थे, क्योंकि वह जो कुछ भी कहते थे उसमे साम्प्रदायिकता की मात्रा बहुत रहती थी। ऐसे समय में मुल्क ने एकाएक सुना कि 20 अक्तूबर, सन् 1928 को जब साइमन कमीशन लाहौर मे आया, उस समय उसका बायकाट करते समय लाला लाजपतराय पर पुलिस की लाठिया पड़ी। यह सारा कार्यक्रम नौजवान भारत सभा की देखरेख मे हुआ था, जैसाकि यशपाल ने 'सिंहवलोकन' मे लिखा है। लाला लाजपतराय उस समय कांग्रेसी नही थे। जो कुछ भी हो, लाला लाजपतराय देश के एक पुराने नेता थे, बल्कि सच बात तो यह है कि नेताओं मे अग्रगण्य थे। देश ने यह भी सुना कि देश के इस पुराने नेता पर जो लाठिया पड़ी, उससे उनको काफी चोट पहुंची। इसी चोट के सिलसिले मे वह शय्यागत हो गए। 17 नवम्बर, 1928 को लाला लाजपतराय का इस चोट के कारण देहान्त भी हो गया।

देश मे इस मृत्यु से बहुत खलबली मची। इस समय क्रान्तिकारी समिति के कई सदस्य लाहौर मे मौजूद थे। उन्होंने जल्दी ही एक अपनी सभा बुलाई, जिसमें

यह तय हुआ कि चूंकि सारे भारतवर्ष की मांग है इसलिए लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लिया जाए। प० जवाहरलाल नेहरू इस प्रसग पर यों लिखते हैं, "जब लाला जी मरे तो उनकी मृत्यु अनिवार्य रूप से, उनपर जो हमला हुआ था, उसके साथ संयुक्त हो गई, और दुख से कही बढकर देश के लोगों मे क्रोध भडक उठा। इस बात को समझने की आवश्यकता है क्योंकि उसके समझने पर ही हमें बाद की घटनाओं को विशेषकर भगतसिंह और उत्तर भारत में उनकी आकस्मिक और अद्भुत ख्याति समझ मे आ सकती है। किसी कार्य की नीव का कारण समझे बिना उसके करने वाले की प्रशसा या उसकी निन्दा करना आसान है। भगतसिंह को पहले बहुत लोग नही जानते थे। उनकी प्रसिद्धि एक हिंसात्मक या आतकवादी कार्य के लिए नही हुई। भगतसिंह इसलिए प्रसिद्ध हुए कि ऐसा ज्ञात हुआ कि उन्होने कम से कम उस समय के लिए लाला लाजपतराय की और इस प्रकार उनके जरिये से सारे देश के सम्मान की रक्षा की। वह तो एक प्रतीक हो गया, लोग उस कार्य को तो भूल गए, किन्तु वह प्रतीक कुछ महीनों के अन्दर फैल गया और पंजाब के हर एक गांव और शहर तथा उत्तर भारत उसके नामों से गूंजने लगा। नेहरू ने अपनी आत्मकथा में भगतसिंह की भारतव्यापी ख्याति का जो वैज्ञानिक-सा विश्लेषण किया है, उसके यथितार्थ को समझना जरूरी है। उनका यह विश्लेषण बहुत सही है कि लाजपतराय के बारे मे मान ली गई कि उनपर साइमन गो बैक प्रदर्शन पर जो लाठी पड़ी, उसीसे सप्ताहों के अन्दर उनकी मृत्यु हो गई। जो शून्यता पैदा हुई, भगतसिंह उसमे वीरतापूर्वक कार्य के द्वारा समा गए और रातोंरात देशवासियों के लाडले हो गए। पर यही बात गांधी की रातोंरात महात्मा के रूप में स्वीकृति के पीछे है, सब उल्कावत् (meteoric) ख्याति के पीछे ऐसी कोई न कोई बात होती है, पर नेहरू ने आउट आफ दि वे जाकर भगतसिंह की ख्याति को ही अपने अणुवीक्षण यन्त्र का निशाना क्यों बनाया? क्या यह महज आकस्मिक है? भगतसिंह के हर जीवनीकार से इसका उत्तर वांछित है।

यह तो सभी जानते हैं कि जवाहरलाल नेहरू ने जनवरी 1930 को अपने को समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी घोषित किया और इस प्रकार उनकी इस बाज की तरह झपट से कांग्रेसी कबूतरखाने में फड़फड़ाहट मच गई और वह एक 'एनफॅट टेरिबल' समझे गए। बहुत अच्छी बात है। पर एकाएक यह समाजवादी विचार कहां से आया? क्या यह यूरोप यात्रा का असर था, विशेषकर एम० एन० राय और वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय से यूरोप मे मिलने का असर? या भगतसिंह के बम का असर, जिसका धमाका अभी तक लाहौर मे गूंज रहा था क्योंकि लाहौर मे ही भगतसिंह पर दूसरा मुकदमा चल रहा था? भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद के दल का सन् 1927 में नया नामकरण हुआ था 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन', क्या इस नाम से और नेहरू की उस चौंका और चौंधिया देने

वाले युद्धघोष में कोई सम्बन्ध था ? इतिहास को बारीकी से पढ़ने वाले के सामने ये प्रश्न उठेंगे।

सैंडर्स का वध

यह तय हुआ कि लाला लाजपतराय की हत्या के लिए जिम्मेदार पुलिस अफसर को मार डाला जाए। तदनुसार जयगोपाल मिस्टर स्काट की टोह में रहने लगे। हत्या के लिए दल के द्वारा चार व्यक्ति नियुक्त हुए: (1) चन्द्रशेखर आजाद, (2) शिवराम राजगुरु, (3) भगतसिंह, (4) जयगोपाल।

शिवराम राजगुरु के अतिरिक्त सभी लोग साइकिल पर घटनास्थल पर पहुंचे। इसके अलावा इस टुकड़ी की सहायता करने के लिए विजयकुमार, शिव वर्मा की अलग सशस्त्र टुकड़ी भी थी। 15 दिसम्बर के लगभग चार बजे मिस्टर सैंडर्स हेड कान्स्टेबल चननसिंह के साथ अपने दफ्तर से निकला। मिस्टर सैंडर्स की मोटर साइकिल सड़क पर आते ही शिवराम राजगुरु ने उसपर गोली चलाई। शिवराम राजगुरु का निशाना अचूक बैठा। सैंडर्स अपनी मोटर साइकिल समेत फौरन जमीन पर गिर पड़े। उनका एक पैर साइकिल के नीचे आ गया। अब भगतसिंह आगे बढ़े और कोई धोखा न रह जाए इसलिए कई गोलियां सैंडर्स पर मारी। इसके बाद उन्होंने भाग निकलने की कोशिश की। हेड कान्स्टेबल चननसिंह तथा मिस्टर फार्न ने इन लोगों का पीछा किया। फार्न को भगतसिंह ने गोली मारी, जिससे वह वहीं रुक गया। चननसिंह फिर भी इन लोगों का पीछा कर रहा था। अब भगतसिंह और राजगुरु डी० ए० वी० कालेज के हाते में एक छोटे-से दरवाजे में घुस गए, हेड कान्स्टेबल चननसिंह मानो अपनी मौत के पीछे जा रहा था। अब तक आजाद चुप थे। उन्होंने जब चननसिंह को इस तरह अपना पीछा करते देखा तो उन्होंने अपने माउजर पिस्तौल से चननसिंह को राजभक्ति और गुलामी का फल चखा दिया। वह वहीं गिर पड़ा, एक घण्टे के अन्दर उसके प्राण निकल गए।

थोड़ी देर में सारे पंजाब की पुलिस चौकन्नी हो गई और साम्राज्यवाद के कुत्ते चारों ओर सूंघते हुए फिरने लगे। भगतसिंह, राजगुरु तथा आजाद डी० ए० वी० कालेज के हाते से तो निकल गए थे, किन्तु अभी वे लाहौर में ही थे और लाहौर बहुत ही गरम हो गया था। भगतसिंह ने अपने केश वगैरह कटवा डाले और दुर्गादेवी को तथा उनके शिशु बच्चे को साथ में लेकर बड़े ठाट-बाट से अव्वल दर्जे में रेल का सफर किया। राजगुरु उनके अरदली बने। चन्द्रशेखर आजाद तीर्थयात्रियों की टोली बनाकर उसके साथ एक घण्टे के अन्दर में लाहौर से निकल गए। इसमें सुखदेव की माता जी का पूरा सहयोग था।

भगतसिंह कलकत्ता चले गए, किन्तु वह बैठने वाले न थे, उन्होंने वहां से बम

बनाना सीखकर आगरे में एक बम कारखाना खोला। इन दिनों कई और कारखाने भी खुले, जिनसे मोटे तौर पर यशपाल, किशोरीलाल तथा भगवतीचरण का सम्बन्ध था। दल ने भगतसिंह के सबध मे यह तय किया कि भगतसिंह रूस चले जाए और सुखदेव तथा बटुकेश्वर असेम्बली में बम डाले किन्तु इस सम्बन्ध मे भगतसिंह और सुखदेव मे कुछ विशेष मतभेद हो गया। जिससे भगतसिंह ने यह तय किया कि वह असेम्बली मे बम फेंककर आत्मसमर्पण कर देंगे।

डाक्टर भगवानदास माहौर लिखते हैं, "क्रान्ति प्रयास के इस विकास मार्ग मे भगतसिंह एक ऐसे व्यक्ति थे जिसे अंग्रेजी मे मोड़सूचक पाषाणचिह्न कहा जाता है। समय और समाज की आवश्यकताओं ने भगतसिंह को ही माध्यम बनाकर उत्तर भारत के सगठित गुप्त सशस्त्र क्रान्तिकारियो को समाजवाद की ओर उन्मुख कर दिया तथा क्रान्तिकारी कार्यकलाप को धार्मिक मनोभूमि से ऊपर उठाया। उत्तर भारत का गुप्त क्रान्तिकारी प्रयास तब तक इटली के मैजिनी, गैरीवाल्डी और आयरलैंड के सिनफिन के मध्यम वर्गीय नेताओं के आदर्श से अनुप्राणित था और भगतसिंह के माध्यम से ही उसने रूसी क्रान्ति और लेनिन, स्टालिन के समाजवादी आदर्शों के प्रभाव को ग्रहण किया। भगतसिंह के ही माध्यम से 'भारतमाता की जय' और 'वन्देमातरम्' मन्त्रों के स्थान मे भारतीय गुप्त सशस्त्र क्रान्ति प्रयास ने 'क्रान्ति चिरजीवी हो' 'इनकलाब जिन्दाबाद' 'साम्राज्यवाद का नाश हो' आदि नारे लगाए और जहा क्रान्तिकारी लोग पुलिस की यन्त्रणाओं और मृत्यु के भय से मुक्त होने के लिए शरीर की नश्वरता और आत्मा के नित्यत्व का निदिध्यासन, पद्मासन लगाए गीता पाठ करते हुए नजर आते थे, वहा वे अब मार्क्स की 'कैपीटल' का स्वाध्याय करते नजर आए।

"दिल्ली में लेजिस्लेटिव असेम्बली मे बहरे कानों को युग का गुरु गम्भीर गर्जन सुनाने के लिए भगतसिंह ने जो बम फेंका या भारतीय राष्ट्रवाद के अपमान का प्रतिकार करने के लिए पजाबकेसरी लाला लाजपतराय को लाठियों से पीटने वाले सैंडर्स का जो वध किया और इसी प्रकार के साहस और आत्मबलिदान के जो अनेक कार्य भगतसिंह ने किए, उनका महत्त्व उनके अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए महान है तथा उनके ये कार्य सशस्त्र क्रान्ति प्रयास के विशाल आकाश के चमकते हुए नक्षत्र हैं, परन्तु भगतसिंह की विशेष क्रान्तिकारी देन यही है कि उनके समय से क्रान्तिकारियों का आदर्श समाजवादोन्मुख हो गया तथा उनका मानसिक धरातल भी धार्मिक होने के स्थान पर अब इहलोकपरक सामाजिक हो गया। काकोरी युग के प० श्री रामप्रसाद बिस्मिल, श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल, श्री योगेशचन्द्र चटर्जी आदि का भारतीय प्रजातन्त्र सघ भगतसिंह और उनके साथियों के प्रभाव से हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र सेना के रूप मे विकसित हुआ।"

क्रान्तिकारी दल ने सैंडर्स को नहीं बल्कि स्काट को यानी उससे बड़े अफसर

को मारना चाहा था, पर घटनाचक्र ऐसा हुआ कि सैंडर्स ही मारा गया। हम इसका वर्णन उद्धृत नहीं करेंगे। हम केवल भगतसिंह के जीवन की एक बात की ओर पाठकों की दृष्टि आकृष्ट कर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे···" दल की केन्द्रीय समिति की जिस बैठक में दिल्ली असेम्बली में बम फेंकने का निश्चय किया गया, उनमें सुखदेव नहीं था। भगतसिंह का आग्रह था कि इस काम के लिए उसे अवश्य भेजा जाए, लेकिन बाकी सदस्यों ने उसकी यह बात नहीं मानी। उस समय सैंडर्स की हत्या के सिलसिले में पंजाब की पुलिस भगतसिंह की तलाश में थी। उसके पकड़े जाने के माने थे फांसी। समिति ने भगतसिंह की बात न मानकर दूसरे दो साथियों को भेजने का निश्चय किया। दो-तीन दिन बाद जब सुखदेव आया और उसे हमारे निश्चय का पता चला तो उसने उसका सख्त विरोध किया। उसका कहना था कि पकड़े जाने के बाद अदालत के मंच से दल के सिद्धान्त, आदर्श, उद्देश्य और बम विस्फोट के राजनीतिक महत्त्व को भली प्रकार भगतसिंह ही रख सकता है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय समिति की बैठक से पहले उसकी ओर से भगतसिंह से आग्रह किया था कि वह स्वयं इस काम को करें। जब केन्द्रीय समिति के दूसरे सदस्यों से यह अपनी बात न मनवा सका तो उसने भगतसिंह से अलग जाकर बात की।

" उसके व्यवहार में बड़ी कठोरता थी। बातों-बातों में उसने भगतसिंह को काफी सख्त बातें भी कह डालीं···'तुममें अहंकार आ गया है, तुम समझने लगे हो कि तुम्हारे ही सर पर दल का सारा दारोमदार है, तुम मौत से डरने लगे हो, कायर हो आदि।' उसका तर्क था, 'जब तुम मानते हो कि तुम्हारे सिवा दूसरा कोई दल के उद्देश्य को अच्छी तरह नहीं रख सकेगा तो फिर तुमने केन्द्रीय समिति को यह फैसला क्यों लेने दिया कि तुम्हारे स्थान पर और कोई बम फेंकने जाएगा?'

" उसने भाई परमानन्द के बारे में लाहौर हाईकोर्ट के शब्दों का भी जिक्र किया कि दल का मस्तिष्क और सूत्रधार होते हुए भी व्यक्तिगत तौर पर यह व्यक्ति कायर है और संकट के कामों में दूसरों को आगे झोंककर अपने प्राण बचाता रहा है। 'तुम्हारे लिए भी एक दिन वैसा ही फैसला लिखा जाएगा।' उसने भगतसिंह की ओर घूरते हुए कहा।

" भगतसिंह ने जितना ही सुखदेव के आरोपों का प्रतिरोध किया वह उतना ही कठोर होता गया। भगतसिंह के यह कहने पर कि तुम मेरा अपमान कर रहे हो उसने कठोर शब्दों में उत्तर दिया, 'मैं अपने मित्र के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर रहा हूं।' अन्त में भगतसिंह यह कहकर उठ पड़ा कि, 'आगे से तुम मुझसे कभी बात न करना।'

" भगतसिंह के आग्रह पर केन्द्रीय समिति की बैठक फिर से बुलाई गई। सुखदेव चुपचाप बैठा रहा। बोला एक शब्द नहीं। भगतसिंह की जिद के सामने

समिति को अपना फैसला बदलना पड़ा। सुखदेव उसी शाम किसीसे बात किए बगैर लाहौर चला गया। दूसरे दिन जब वह लाहौर पहुंचा तो उस समय भी उसकी आंखें बहुत सूजी हुई थी। शायद वह बहुत रोया था। उस दिन उसने न कोई कमजोरी दिखलाई और न एक आंसू बहाया, लेकिन अन्दर से वह काफी हिल गया था। उसने ध्येय की पूर्ति मे अपनी सबसे प्रिय वस्तु की बाजी लगा दी थी।"

भगतसिंह के मुकाबले सुखदेव कम पढ़ा-लिखा था, लेकिन उसकी स्मरण-शक्ति काफी तेज थी। आम तौर पर दर्शन या सिद्धान्त की जिन पुस्तकों को दूसरे साथी हफ्तों में समाप्त कर पाते सुखदेव उन्हें दो दिन मे ही पढ़ लेता। नोट्स उसने कभी नहीं बनाए, फिर भी सरसरी निगाह से पढ़ी पुस्तकों के विस्तृत उद्धरण महीनों बाद भी उससे पूछे जा सकते थे। जेल के साथियों में भगतसिंह के बाद समाजवाद पर सबसे अधिक अगर किसी साथी ने पढ़ा और मनन किया था तो वह सुखदेव था।

असेम्बली में धड़ाका

असेम्बली मे बम फेंकने पर यह योजना बनी कि सरदार भगतसिंह तथा बटुकेश्वर असेम्बली मे बम फेंकें और आजाद तथा दो अन्य सदस्य जाकर उनको बचा लाएं, किन्तु भगतसिंह ने इस योजना के आखिरी हिस्से को पसन्द न किया, और कहा कि देश में जागृति पैदा करने के लिए उनका गिरफ्तार हो जाना आवश्यक है। हम एक प्रकार से विह्वल हो जाते हैं कि एक व्यक्ति जिसने अभी मुश्किल से यौवन के चौखट पर पैर रखा है, अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु यह तो क्रान्तिकारियों के लिए एक मामूली बात थी।

सन् 1929 की 8 अप्रैल के दिन की घटना है। उस समय की केन्द्रीय असेम्बली में पब्लिक सेफ्टी नामक एक बिल विचारार्थ उपस्थित था, दोनों ओर से खींचा-तानी हो रही थी। ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल अधिक वोटों से पास हो चुका था और सभापति पटेल पब्लिक सेफ्टी बिल पर अपना निर्णय देने के लिए तैयार थे। सब लोगों की आंखें उन्हींकी ओर लगी हुई थी, बहुत उत्तेजना का समय था। ऐसे समय एकाएक असेम्बली भवन मे दर्शकों की गैलरी मे एक भयानक बम गिरा, जिसके गिरते ही आतंक का धुआं छा गया। सर जार्ज शुस्टर तथा सर बामनजी दलाल आदि कुछ व्यक्तियों को हलकी चोटें आई। बम फेंकने वाले दो नवयुवक थे। एक का नाम भगतसिंह था, और दूसरे का नाम बटुकेश्वर दत्त।

इस दिन के बाद से ये दोनों नाम भारतवर्ष में एक घरेलू चीज हो गए थे। तमोली की दुकान से लेकर प्रासादों तक इन दोनों के चित्र इसके बाद दीखने लगे।

भगतसिंह केवल एक व्यक्ति नहीं थे, उनके व्यक्तित्व में युग का सारा

क्रान्तिकारी चिन्तन और भविष्य का पाथेय प्रतिफलित है। भगतसिंह पर बहुत-सी किताबें हैं, फिर भी जब मैंने देखा कि भगतसिंह को केवल एक रोमांटिक वीर, एक नाटकीय व्यक्तित्व करके दिखाने की प्रवृत्ति है, तो मैंने 'क्रान्तिदूत भगतसिंह और उनका युग' लिखा जिसमें उनके चिन्तन को प्रमुखता देकर भविष्य के लिए एक पथनिर्देश प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई।

भगतसिंह एक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वीर बन गए हैं। पटना में जो अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्ट विरोधी सम्मेलन (4-7 दिसम्बर, 1975) हुआ था, उसमें केन्द्रीय स्तंभ पर मुजीब और ओलेन्दे के साथ भगतसिंह का नाम भी था। इसके अलावा भगतसिंह नाम से और द्वार भी थे। चंडीगढ़ कांग्रेस में भी सर्वत्र भगतसिंह थे। इसमें बड़ी बात यहां के ट्रकों पर अलंकरण के रूप में भगतसिंह, आजाद और सुभाष के चेहरे आम दिखते हैं। हमारे मुट्ठी-भर मगरूर अपनेको वामपंथी मानने वाले बुद्धिजीवी समझते हैं कि वे ही हावी हैं युग पर, पर उनका यह भ्रम है। उनके द्वारा ठुकराए, दुत्कारे, फोकसबहिष्कृत लोग जनता से सीधा सम्बन्ध कर लेते हैं।

सोलहवां अध्याय

यतीन्द्रनाथ दास

भगतसिंह के मुकदमे में कलकत्ता के यतीन्द्रनाथ दास भी अभियुक्त थे। वह बम बनाने के विशेषज्ञ थे। भगतसिंह और कमलनाथ तिवारी (बाद को संसद् सदस्य) उन्हींसे कलकत्ते में रहकर बम बनाना सीख रहे थे। यतीन्द्रनाथ दास भी शहीद हुए, पर बिलकुल अलग ढंग से। वह अपने अनशन के 63वें दिन 13 सितम्बर, 1929 को शहीद हुए—लाहौर जेल में लगभग दिन के एक बजे अपने भाई किरण दास की गोद पर सिर रखकर। यह मृत्यु बिलकुल अनोखे ढंग की मृत्यु थी। आयरलैंड के स्वातन्त्र्य-योद्धा कार्क, लार्ड मेयर टेरेन्स मैकस्विनी जब शहीद हुए थे, तो भारत के स्वातन्त्र्य-योद्धा क्रान्तिकारी बहुत उत्तेजित हुए थे। वह 76 दिन में शहीद हुए थे। पर यतीन्द्रनाथ दास भारत की इस श्रेणी के प्रथम शहीद नहीं थे। हम बता चुके हैं कि इसके बहुत पहले 1914-18 के युद्ध के जमाने में साढ़े में सजाप्राप्त क्रान्तिकारी रामरखा यतीन्द्रनाथ दास से बहुत पहले शहीद हो चुके थे।

रामरखा शहीद इस बात पर हुए थे कि वह जब अन्दमान जेल में पहुंचे, तो

अधिकारियों ने कहा, "जनेऊ उतारो।"

उन्होंने कहा, "क्यों ?"

"इसलिए कि हुक्म नहीं है कि कोई कैदी जनेऊ पहने।"

"मैं इस हुक्म को नहीं मानता।"

इसपर जेल के सिपाहियों ने उनका जनेऊ जबरदस्ती उतार लिया। बस, उन्होंने अनशन शुरू कर दिया और उसीमें उनका शायद दो हफ्तों में देहान्त हो गया। वह मर गए, किसीको कानों कान पता नहीं हुआ। यह नहीं कि अखबारों ने यह खबर नहीं छापी, उन्हें खबर मिली ही नहीं। जब शचीन्द्रनाथ सान्याल अन्दमान से छूटे, वर्षों बाद, तब लोगों को पता हुआ। इसी कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा क्रान्तिकारी अन्दमान भेजे गए थे कि न उन तक कोई खबर पहुंचे, न उनकी खबर किसीको मिले। इसी कारण काला पानी नाम से ही बड़े से बड़े अपराधी थरथर कांपते थे। यह मृत्यु का दूसरा नाम था या उससे भी बुरा। यह जीवित कब्र था। उन दिनों 400 मील समुद्र लांघकर जाना बहुत मुश्किल था। हफ्ते में एक ही जहाज 'महाराजा' जाता-आता था। इसी अन्दमान की पवित्र भूमि पर बाद को महावीरसिंह, मोहितमोहन शहीद हुए। कोई नहीं जान पाया। मौत का पूरा नाटक बन गया।

पर यतीन्द्रनाथ दास की शहादत सारे राष्ट्र की आंखों के सामने हुई। उनकी मृत्यु के प्याज के छिलके धीरे से खुलते गए।

यह पहले ही आ गया है कि 8 अप्रैल, 1929 के दिन सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दिल्ली की केन्द्रीय असेम्बली में दो बम उस वक्त डाले, जब अंग्रेज सरकार की ओर से असेम्बली में यह घोषणा की गई कि वायसराय महोदय ने अपनी विशेष क्षमशक्ति का प्रयोग कर दो मजदूर विरोधी विधेयकों को (जो चुने हुए सदस्यों के द्वारा वोटों की अधिकता से गिरा दिए गए थे) कानून बना दिया। साथ ही भगत-दत्त ने 'इनकलाब जिन्दाबाद' का वह नारा दिया, जो तब से विशेषकर वामपंथियों के युद्धघोष का नारा बन गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने समाजवाद को दल का ध्येय घोषित किया। पहले ही घोषित था कि ऐसे समाजवाद की स्थापना करनी है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त हो जाए। भगतसिंह-दत्त को इसके लिए आजीवन काले पानी की सजा देकर लाहौर भेजा गया कि वहां उन्हें लाहौर षड्यंत्र (सैंडर्स-वध) में और सजा दी जाए। यह सजा उन्हें दिल्ली में 12 जून को दी गई।

पर भगतसिंह ऐसे नहीं थे कि अपने पैरों के नीचे घास उगने दें। लाहौर पहुंचते ही 14 जून को इन दोनों वीर युवकों ने अनशन कर दिया। उसी दिन कलकत्ते में यतीन्द्रनाथ दास को फणीन्द्र मुखबिर ने पकड़ा दिया। वह पकड़कर लाहौर भेजे गए। सरकार उनपर लाहौर षड्यंत्र का मुकदमा चलाना चाहती थी।

उस समय न तो सरकार जानती थी, न भगतसिंह आदि क्रान्तिकारी जानते थे कि यतीन्द्रनाथ दास सारे अनशन में अजीब गुल खिलाकर चार चांद लगा देंगे।

यतीन दास का जन्म कलकत्ते के एक खाते-पीते परिवार में 1904 में हुआ। उनके पिता बंकिमविहारी दास राजनीति से सम्पूर्ण रूप से अछूते थे, यद्यपि यह वह युग था जब बंगाल में क्रान्तिकारी लहरें उफन रही थीं। बंगभंग से बंगाली अत्यन्त उत्तेजित थे। सरकार के इस इरादे से कि वह बंगाल के टुकड़े कर बंगालियों के मनोबल को तोड़ना चाहती है, वह हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाना चाहती है, सब परिचित हो चुके थे। सिवा कुछ राजभक्त गुमराह मुसलमान नेताओं के बाकी सभी लोग एक स्वर से बंगभंग के विरोधी थे।

सन् 1920 में यतीन दास एण्ट्रेन्स परीक्षा पास ही कर पाए थे कि देश के अन्दर असहयोग का बिगुल बज गया। बात यह है कि 1919 में जलियांवाला बाग में जिस तरह बात की बात में लगभग एक हजार निहत्थे लोग गोलियों से भून डाले गए, वह घटना ऊंट की पीठ तोड़ने वाला आखिरी तिनका साबित हो चुकी थी, जुल्म का घड़ा भर गया था और महात्मा गांधी के रूप में देश को उस समय एक नेता मिल चुका था, जो कांग्रेस-लगाम को नरम दल वालों के हाथों से छीनकर सरपट दौड़ लगाने को तैयार हुए। कांग्रेस सारी भारतीय जनता का संग्रामशील संयुक्त मोर्चा बन चुकी थी। लोग 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्तिकारी मोर्चा बनाए हुए थे और उस सिलसिले में सैकड़ों क्रान्तिकारी फांसी का फन्दा चूमकर इतिहास में शरीक हो चुके थे, हजारों ने अन्दमान और देशी जेलों को आबाद किया था।

नवयुवक यतीन दास पर गांधी जी के आन्दोलन का बहुत भारी असर हुआ। असल में 1905 के स्वदेशी आन्दोलन ने बंगाल की सरजमीन को पहले से तैयार कर दिया था। जो कायर और घरघुस्सू साधारण लोग थे, वे घर बैठ गए, बाकी लोग जो एक बार चल पड़े तो आखिर तक चलने वाले विचार के अटल, दृढ़निश्चय, स्वतंत्रचेता लोग थे, उन्होंने आन्दोलन को भूमिगत कर दिया। मैं बता चुका हूं कि बंगाल का क्रान्तिकारी आन्दोलन खुले आन्दोलन से निकला था, अकेले ढाका जिले के अन्दर अनुशीलन समिति की 60 शाखाएं थीं, इसी कारण जब यह आन्दोलन एक बार उठा, तो वह फिर दबाया न जा सका।

जो कुछ भी हो, इस वातावरण में यतीन दास असहयोग में कैसे न कूदते। वह पिता की अनुमति लिए बिना आन्दोलन में सरपट कूद पड़े। नतीजा यह हुआ कि उन्हें पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। एक महीने की सजा हुई। पिता न तो मिलने आए, न किसी तरह उनकी सहायता मिली। वह अकेला दो मोर्चों पर डटा रहा।

जब एक महीने बाद जेल काटकर वह घर पहुंचे, तो पिता ने मुंह फेर लिया।

फिर बोले, "जो तुम्हें यही सब करना है तो जाओ, मेरे घर पर मत आना। मैं समझ लूंगा कि तुम मर गए। यहां रहोगे तो तुम्हें पढना पड़ेगा, आदमी बनना पड़ेगा। शिक्षा समाप्त करके तुम जो कुछ करो, उससे मुझे कोई मतलब न होगा।" इसपर नवयुवक यतीन दास ने अपने पिता से वही कहा जो उस समय सैकडों घरों में सैकडों नवयुवक अपने अभिभावकों से कह रहे थे। उन्होंने कहा, "मेरी शिक्षा प्रतीक्षा कर सकती है, पर स्वाधीनता एक मिनट भी प्रतीक्षा नहीं कर सकती, इसलिए मैं अपने रास्ते पर चलूंगा।"

पीढ़ियों की असली लडाई तो यह थी जिसमें देश आगे बढ़ा। इस प्रकार दहन की ज्वाला से लोहा बन गया इस्पात। इसी प्रकार उत्तर भारत में उसी समय चन्द्रशेखर बेंत खाकर मामूली नवयुवक से चन्द्रशेखर आजाद बन गए। हर बेंत पर उन्होंने साम्राज्यवाद की पशुता को ललकारकर कहा, "महात्मा गांधी की जय!" इसी तरह बाद को फांसी पानेवाले रोशनसिंह, रामदुलारे त्रिवेदी आदि जाने कितने ही युवक जेलों में भविष्य के लिए तैयार हो रहे थे।

यतीन्द्रनाथ के लिए आगे असहयोग में तुरन्त जेलयात्रा संभव नहीं थी। क्योंकि आन्दोलन ही ठप्प कर दिया गया था। वह बाढ़-पीड़ितों की सेवा में कूद पडे। वहां से निबटे, तो तारकेश्वर सत्याग्रह में जुट गए। उसमें उन्हें तीन महीने की जेल हुई, सश्रम। वह जेल में इतने बीमार हुए कि 35 दिन बाद ही छोड़ दिए गए। पर कहां जाते? पेचिश में आक्रान्त थे। दवा-दारू और सेवा की जरूरत थी। 18 साल के नवयुवक को क्या पता था कि दुनिया कितनी निष्करुण है। पिता को जब खबर मिली कि बेटा सडक पर आ चुका है, तो बिना किसी प्रकार मतपरिवर्तन के वह बेटे को घर ले आए। यह यतीन दास की नैतिक जीत नहीं थी। पिता पुत्र को समझ नहीं पाए थे, महज स्नेह या शुष्क कर्तव्यबोध के कारण वह पसीजे थे जैसे नालायक अपराधी पुत्र को भी पिता शरण देते हैं।

इन्हीं दिनों की एक घटना है कि एक युवती को एक पठान छेड़ रहा था। शायद उसने रुपये उधार लिये थे, दे न पाई थी। या और कोई बात होगी। पर यतीन ने बस, इतना ही देखा कि युवती सिमटी, भयभीत है और मना करने पर भी पठान आगे लपक रहा है, तो यतीनदास ने न आव देखा न ताव, उसकी नाक पर एक घूसा जमा दिया। संयोग की बात है कि उसकी नाक से रक्त की धारा जारी हो गई। यतीन दास गिरफ्तार कर लिए गए। किसी तरह छूट गए। कालेज की पढ़ाई जारी रही।

इन्हीं दिनों की एक दूसरी घटना है कि देशबन्धु चित्तरंजन दास के घर के पास एक पार्क में कोई राजनैतिक सभा हो रही थी या होने वाली थी। पुलिस के सिपाही आए। एक महिला को पुलिस वालों की पगड़ी बर्दी देखकर जोश आ गया, वह जोर-जोर से वन्देमातरम् का नारा देने लगीं। इसपर वहवाले पुलिस आफिसर

मिस्टर कीड बेंत लेकर उसे मारने के लिए लपका। यतीन दास वहां थे, उन्होंने अंग्रेज अफसर का बेंत छीन लिया और वह बेंत लेकर बंगाल के एकच्छत्र नेता देशबन्धु दास के पास पहुंचे और सारी कथा कह सुनाई। देशबन्धु ने इसपर यह कहा, "यह गांधी जी के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, यह अहिंसा नहीं।"

निर्णय हुआ कि बेंत कीड को वापस कर दिया जाए, पर बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे। कोई इस व्रतभंग की प्रायश्चित्तमूलक यात्रा के लिए तैयार नहीं हुआ। तब यतीन दास ने स्वयं जाकर बेंत लौटाने की इच्छा प्रकट की। इस साहस पर देशबन्धु बहुत खुश हुए। तदनुसार यतीन कीड के पास पहुंचे और बोले, "मैंने तुम्हारा बेंत इसलिए नहीं लिया था कि बेंत का मुझे लोभ है, पर मैं चाहता था कि वह देशभक्त भी बच जाए।"

इसपर कहते हैं, कीड इस युवा को घूरता रहा। वह कुछ नहीं बोला। यतीन लौट आया।

पता नहीं ये कहानियां हर वीर पुरुष के इर्द-गिर्द बुनी जाने वाली अर्धसत्य कहानियों की तरह हैं या नहीं। पर इन अर्धसत्य कहानियों की एक विशेषता यह है कि उनके मुकुर की कसौटी में वीर का चरित्र बखूबी झलक जाता है। यह स्पष्ट है कि जिसका इतना अनोखा चरित्र हो, वह कांग्रेस के सीमित अहिंसा पीड़ित सीखचे में बंध नहीं सकता था, उसकी तैराकी के लिए तीन और छह महीनों की जेल नहीं, बल्कि उसके तैरने के लिए फांसी के फन्दे का झूला ही उपयुक्त था।

जब यतीन दास जेल गए थे, तो यह सोचकर गए थे कि घर नहीं लौटना है, निरन्तर संग्राम करके या तो खुद मिट जाना है या साम्राज्यवाद के रावण को समाप्त करके स्वाधीनता की सीता का उद्धार करना है। वह एक महीना जेल झेलकर जब मुक्त हुए तो जैसा कि बताया जा चुका है, संग्राम समाप्त कर दिया गया था उसके सर्वोच्च सिपहसालार के द्वारा। तब वह तारकेश्वर सत्याग्रह में गए, यद्यपि वह कोई राजनैतिक लड़ाई नहीं थी, वह तो महन्त के विरुद्ध लड़ाई थी, जो पूजा में आए हुए जनता की गाढ़ी कमाई के धन का दुरुपयोग करता था, जैसा सभी धर्मों के महन्त, पंडे, मुल्ले, पादरी करते हैं। हां, यह भी एक लड़ाई थी, अत्याचार के विरुद्ध संग्राम था, पर था यह सीमित युद्ध। उधर पंजाब में, बाद को यतीन दास के अनन्य साथी, सरदार भगतसिंह भी गुरुद्वारों के लोकतन्त्री-करण की लड़ाई में भाग ले रहे थे या लेने वाले थे। क्रान्तिकारी सब तरह के अत्याचार के विरुद्ध उठ खड़ा होता है, पर क्रान्ति वह दवा है जो सब मर्जों की दवा है और जहां तक यह सिद्ध हो पाती है, वहीं तक यह सफल क्रान्ति है।

यतीन दास ने जेल से लौटकर [illegible] सी उत्तेजना-जनक स्थिति के शिकंजे में क्यों पाता? जब जलियांवाला बाग कांड के बाद गांधी जी मुक्तिदाता के रूप में सामने आए थे, तो लोगों ने उनको पूरी तरह अपना लिया था।

अवश्य यह कहना झूठ होगा कि सब भारतीयों, यहां तक कि सब पढ़-लिखे भारतीयों ने उन्हें अपनाया था। सच्ची बात तो यह है कि अधिकांश पढ़े-लिखे लोग सरकार की तरफ थे, कुछ पुराने नेता मोतीलाल और देशबन्धु चित्तरंजन ऐसे नये नेता उनके साथ थे।

जब यतीन्द्रनाथ दास गिरफ्तार होकर लाहौर पहुंचे उस समय साथी क्रांतिकारियों में यह चर्चा जोरों से चल रही थी कि भगतसिंह-दत्त के अनशन में हमें साथ देकर उनके हाथ मजबूत करने चाहिए। पर यतीन्द्रनाथ दास ने, जो पहले जेल में 21 दिन का अनशन कर चुके थे और जेलर से माफी मंगवा चुके थे, इस विषय में कोई जोश नहीं दिखाया। वह यही कहते रहे कि अनशन हंसी-खेल नहीं है, सोच-समझकर इस डगर में पैर रखना चाहिए क्योंकि एक दफे कदम उठ गए, तो लड़ाई तब तक जारी रखनी पड़ेगी जब तक कि विजयलक्ष्मी माला लेकर हमारा वरण न करे, हमारा कौल यह होना चाहिए कि या तो सिद्धि मिले या प्राण पखेरू उड़ जाए।

हवालात में इस विषय पर वाद-विवाद का बाजार गर्म रहा। उधर भगतसिंह और दत्त का अनशन जारी रहा, 30 जून को सारे देश में बड़े ठाठ के साथ भगतसिंह-दत्त दिवस मनाया गया। जलसे करके और जुलूस निकालकर ब्रिटिश सरकार की घोर निन्दा की गई और भगतसिंह-दत्त जिस मांग के लिए अनशन कर रहे थे, उसका समर्थन किया गया। यह कहा गया कि स्वातंत्र्य-योद्धा की हैसियत युद्धबंदी की है, इसलिए उसके साथ हूबहू वही व्यवहार होना चाहिए जो युद्धबंदी के साथ होता है। स्मरण रहे, यह भारतव्यापी आंदोलन सर्वदलीय था। सब लोग इस अनशन का समर्थन कर रहे थे, क्योंकि सभी वास्तविक स्वातंत्र्य-योद्धाओं का एक पैर हर समय जेल में रहता था, सभी इस बात से दुखी थे कि जेल में उनके साथ मामूली अपराधियों की तरह व्यवहार होता था। उस समय नारा ही यह था :

बसेगा हिन्दू पीछे को
बसेगा अन्दमन पहले

उस समय की सारी राजनीति शहीदों की राजनीति थी। अब तो भारत में जो राजनीति प्रचलित है, उसे शोहदों की राजनीति कह सकते हैं। उस समय लोगों के दिमाग और दिल में सरफरोशी की तमन्ना थी। अब उद्देश्य है पद और पैसे। भारत का कल्याण इसीमें है कि हम शोहदों की राजनीति की पैतरेबाजी से उबरकर शहीदों के युग में लौट जाएं जब त्याग और बलिदान ही हमारा मूलमंत्र था।

जब भगतसिंह-दत्त के अनशन के चार हफ्ते हो गए और फिर भी सरकार के कानों पर जूं नहीं रेंगी, तो लाहौर के सारे बंदियों ने उसी मांग को सामने रख-

मिस्टर कीड बेंत लेकर उसे मारने के लिए लपका। यतीन दास वहां थे, उन्होंने अंग्रेज अफसर का बेंत छीन लिया और वह बेंत लेकर बंगाल के एकच्छत्र नेता देशबन्धु दास के पास पहुंचे और सारी कथा कह सुनाई। देशबन्धु ने इसपर यह कहा, "यह गांधी जी के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, यह अहिंसा नहीं।"

निर्णय हुआ कि बेंत कीड को वापस कर दिया जाए, पर बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे। कोई इस व्रतभंग की प्रायश्चित्तमूलक यात्रा के लिए तैयार नहीं हुआ। तब यतीन दास ने स्वयं जाकर बेंत लौटाने की इच्छा प्रकट की। इस साहस पर देशबन्धु बहुत खुश हुए। तदनुसार यतीन कीड के पास पहुंचे और बोले, "मैंने तुम्हारा बेंत इसलिए नहीं लिया था कि बेंत का मुझे लोभ है, पर मैं चाहता था कि वह देशभक्त स्त्री बच जाए।"

इसपर कहते हैं, कीड उस युवा को घूरता रहा। वह कुछ नहीं बोला। यतीन लौट आया।

पता नहीं ये कहानियां हर वीर पुरुष के इर्द-गिर्द बुनी जाने वाली अर्धसत्य कहानियों की तरह हैं या नहीं। पर इन अर्धसत्य कहानियों की एक विशेषता यह है कि उनके मुकुर की कसौटी में वीर का चरित्र बखूबी झलक जाता है। यह स्पष्ट है कि ऐसा जिसका अनोखा चरित्र हो, वह कांग्रेस के सीमित अहिंसा पीड़ित चौखटे में बंध नहीं सकता था, उसकी तैराकी के लिए तीन और छह महीनों की जेल नहीं, बल्कि उसके खेल के लिए फांसी के फन्दे का झूला ही उपयुक्त था।

जब यतीन दास जेल गए थे, तो यह सोचकर गए थे कि घर नहीं लौटना है, निरन्तर संग्राम करके या तो खुद मिट जाना है या साम्राज्यवाद के रावण को परास्त करके स्वाधीनता की सीता का उद्धार करना है। वह एक महीना जेल झेलकर जब मुक्त हुए तो जैसा कि बताया जा चुका है, संग्राम समाप्त कर दिया गया था उसके सर्वोच्च सिपहसालार के द्वारा। तब वह तारकेश्वर सत्याग्रह में गए, यद्यपि वह कोई राजनैतिक लड़ाई नहीं थी, वह तो महन्त के विरुद्ध लड़ाई थी, जो पूजा में आए हुए जनता की गाढ़ी कमाई के धन का दुरुपयोग करता था, जैसा सभी धर्मों के महन्त, पंडे, मुल्ले, पादरी करते हैं। हां, यह भी एक लड़ाई थी, अत्याचार के विरुद्ध संग्राम था, पर था यह सीमित युद्ध। उधर पंजाब में, बाद को यतीन दास के अनन्य साथी, सरदार भगतसिंह भी गुरुद्वारों के तोरुओी-करण की लड़ाई में भाग ले रहे थे या लेने वाले थे। क्रांतिकारी सब तरह के अन्याय के विरुद्ध उठ खड़ा होता है, पर क्रांति वह दवा है जो सब मर्जों की दवा है और जहां तक वह ऐसी हो पाती है, वहीं तक वह सफल क्रान्ति है।

यतीन दास ने जेल में लौटकर अपनेको न तीतर न बटेर की असुविधा-जनक स्थिति के शिकंजे में क्यों पाया? जब जलियां वाला बाग कांड के बाद गांधी जी युगपुरुष के रूप में सामने आए थे, तो लोगों ने उनको पूरी तरह अपना लिया था।

अवश्य यह कहना झूठ होगा कि सब भारतीयों, यहां तक कि सब पढ़-लिखे भारतीयों ने उन्हें अपनाया था। सच्ची बात तो यह है कि अधिकांश पढ़े-लिखे लोग सरकार की तरफ थे, कुछ पुराने नेता मोतीलाल और देशबन्धु चित्तरंजन ऐसे नये नेता उनके साथ थे।

जब यतीन्द्रनाथ दास गिरफ्तार होकर लाहौर पहुंचे उस समय साथी क्रांतिकारियों में यह चर्चा जोरों से चल रही थी कि भगतसिंह-दत्त के अनशन में हमें साथ देकर उनके हाथ मजबूत करने चाहिए। पर यतीन्द्रनाथ दास ने, जो पहले जेल में 21 दिन का अनशन कर चुके थे और जेलर से माफी मंगवा चुके थे, उस विषय में कोई जोश नहीं दिखाया। वह यही कहते रहे कि अनशन हंसी-खेल नहीं है, सोच-समझकर इस डगर में पैर रखना चाहिए क्योंकि एक दफे कदम उठ गए, तो लड़ाई तब तक जारी रखनी पड़ेगी जब तक कि विजयलक्ष्मी माला लेकर हमारा वरण न करे, हमारा कौल यह होना चाहिए कि या तो सिद्धि मिले या प्राण पखेरू उड़ जाएं।

हवालात में इस विषय पर वाद-विवाद का बाजार गर्म रहा। उधर भगतसिंह और दत्त का अनशन जारी रहा, 30 जून को सारे देश में बड़े ठाठ के साथ भगतसिंह-दत्त दिवस मनाया गया। जलसे करके और जुलूस निकालकर ब्रिटिश सरकार की घोर निन्दा की गई और भगतसिंह-दत्त जिस मांग के लिए अनशन कर रहे थे, उसका समर्थन किया गया। यह कहा गया कि स्वातंत्र्य-योद्धा की हैसियत युद्धबंदी की है, इसलिए उसके साथ हूबहू वही व्यवहार होना चाहिए जो युद्धबंदी के साथ होता है। स्मरण रहे, यह भारतव्यापी आंदोलन सर्वदलीय था। सब लोग इस अनशन का समर्थन कर रहे थे, क्योंकि सभी वास्तविक स्वातंत्र्य-योद्धाओं का एक पैर हर समय जेल में रहता था, सभी इस बात से दुखी थे कि जेल में उनके साथ मामूली अपराधियों की तरह व्यवहार होता था। उस समय नारा ही यह था :

बसेगा हिन्दू पीछे को
बसेगा अन्दमन पहले

उस समय की सारी राजनीति शहीदों की राजनीति थी। अब तो भारत में जो राजनीति प्रचलित है, उसे शोहदों की राजनीति कह सकते हैं। उस समय लोगों के दिमाग और दिल में सरफरोशी की तमन्ना थी। अब उद्देश्य है पद और पैसे। भारत का कल्याण इसीमें है कि हम शोहदों की राजनीति की वैतरणी से उबरकर शहीदों के युग में लौट जाएं जब त्याग और बलिदान ही हमारा मूलमंत्र था।

जब भगतसिंह-दत्त के अनशन के चार हफ्ते हो गए और फिर भी सरकार के कानों पर जूं नहीं रेंगी, तो लाहौर के सारे कैदियों ने उसी मांग को सामने रख-

कर अनशन शुरू कर दिया। यहीं से इस ऐतिहासिक अनशन का दूसरे अध्याय का श्रीगणेश हो गया। क्रांतिकारियों की ओर से जयदेव कपूर ने 13 जुलाई को अदालत में (जिसे काकोरी कैदियों ने और बाद को भगतसिंह ने प्रेस सम्मेलन के रूप में बहुत सफलता के साथ इस्तेमाल किया था) यह घोषणा कर दी कि सब कैदी भगतसिंह-दत्त के अनशन में आज से शामिल होते हैं। उस समय भी किसी-ने यतीन्द्रनाथ दास का नाम नहीं जाना। स्मरण रहे कि उसके पहले ही भगतसिंह-दत्त का यह अनशन इतना अखिल भारतीय महत्त्व प्राप्त कर चुका था कि 5 जुलाई को जवाहरलाल नेहरू यह बयान दे चुके थे कि जिस तरह से भगत-दत्त को जबर्दस्ती गिराकर नाक के सूराख में नल डालकर दूध पिलाया जा रहा था यानी बलात्पान कराया जा रहा था, वह बर्बर और अमानुषिक है। गणेशशंकर विद्यार्थी ऐसे नेता और हिन्दी पत्रकारिता के आदर्श व्यक्तित्व पहले ही चेतावनी दे चुके थे और सम्पादकीय पर सम्पादकीय लिखकर वातावरण को क्रांतिमय बना रहे थे। यहां तक कि 'मुस्लिम आउटलुक' ऐसे सांप्रदायिक पत्र यह डंके की चोट पर कह रहे थे कि अनशन के विषय में सरकारी रवैया मूर्खतापूर्ण और स्वयं सरकार के लिए अन्ततोगत्वा खतरनाक है।

14 जुलाई को लाहौर में कांग्रेस और नौजवान सभा के सम्मिलित विराट् जुलूस निकले, जिसपर लाठी चार्ज हुआ। उस दिन मुकदमे की सफाई के लिए दस हजार रुपये चंदे में आए।

19 जुलाई को पुलिस ने फिर जुलूस पर लाठी वर्षा की। कई नेता गिरफ्तार हो गए। धन्वन्तरी और नौजवान भारत सभा के अन्य कई सदस्यों को इतना पीटा गया कि वे बेहोश होकर गिर पड़े। इसपर प्रांतीय परिषद में नेशन-लिस्ट पार्टी के नेता डा० मुहम्मद आलम ने ब्रिटेन के महामंत्री रैमजे मैक्डोनाल्ड को एक लम्बा तार देते हुए कहा, "यह शर्म की बात है कि इंग्लैंड में श्रमिक दल की सरकार होते हुए पंजाब में नादिरशाही जारी है। आयरलैंड में मैकस्विनी की कहानी की पुनरावृत्ति भारत में हो रही है, पर बीभत्स रूप में।"

ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी एक प्रस्ताव पारित करके लंदन की सरकार का ध्यान आकर्षित किया कि लाहौर कैदियों के साथ जुल्म हो रहा है। 27 जुलाई को पहली बार एन० डी० पुरी आई० एम०एस० ने जेलों के महापरिदर्शक को यह खबर दी कि यतीन्द्रनाथ दास कृत्रिम दुग्धपान के अवसरों पर इतना प्रतिरोध करते हैं कि कल वह बलात् पान के समय बेहोश हो गए। उन्हें खतरनाक रोगी-सूची में रखा गया है।

यद्यपि भगतसिंह और दत्त यतीन्द्रनाथ दास आदि से चार सप्ताह पहले से अनशन कर रहे थे, पर यतीन्द्रनाथ दास और शिव वर्मा की हालत अधिक खराब होने लगी, क्योंकि यह बताया गया कि वे बलात् पान का अत्यधिक प्रतिरोध कर

उत्तेजित और कमजोर हो जाते है और उनकी नाकों के सूराख भी शायद छोटे थे, जैसा कि बाद को मालूम हुआ। खराब हालत की खबर फैल गई और कलकत्ते से किरण दास सरपट भागकर लाहौर पहुंचे। उन्होंने बड़े भाई यतीन दास को विम्टो पेय पीने को राजी किया कि उसमें कोई पुष्टिकारक पदार्थ नहीं है। जेलर भी राजी हो गया और विम्टो की बोतलें दी गई। बाद को सरकारी गुप्त रिपोर्ट से पता चला कि विम्टो की बोतलो मे जेलर एक औंस ग्लूकोज और एक औंस ब्राडी मिला देता था, पर इस धोखे से काम न बना और यतीन्द्रनाथ दास की हालत तेजी से बिगड़ने लगी। यतीन्द्रनाथ ने मिलने आए हुए डा० गोपीचंद भार्गव से कहा, "मैं अपने लक्ष्य के लिए और देश के लिए मरना चाहता हू।" मोतीलाल नेहरू ने इन्हीं दिनों आयरलैंड के अनशनी वीर टामस ऐश का उदाहरण देते हुए कहा कि उन्हें बलात् पान कराया जा रहा था कि वह शहीद हो गए, लगता है कि यहां भी यही होनेवाला है। सरकार बर्बरता से बाज आए।

5 अगस्त को जेलर ने रिपोर्ट भेजी, "तापमान 95 है और नाडी की गति 52। पैर सुन्न पड़ रहे हैं। हालत बहुत खतरनाक।"

उसी तारीख को सरकार की एक विज्ञप्ति निकली, जिसमे प्रकारान्तर से सरकार ने आत्मसमर्थन किया।

पर एक सप्ताह बाद 12 अगस्त तक स्थिति इतनी गम्भीर हो गई और सारे भारत में जनता इतनी उत्तेजित हो गई कि वायसराय ने भारत सचिव को एक लम्बा तार भेजा जिसमें अनशन, उसमे भाग लेने वालो की अनन्य जिद, साथ ही विस्फोटक जनमत की स्थिति बताकर यह कहा गया कि पता नही क्या हो जाए, सम्भव है कि भारी खतरा पैदा हो। उसमें यह कहा गया कि यदि एक से अधिक क्रान्तिकारी शहीद हो गए, तो खैरियत नहीं।

16 अगस्त को पजाब सरकार ने एक जेल जाच समिति नियुक्त कर जनता को उल्लू बनाने की चेष्टा की, पर इसका असर न तो अनशनकारियों पर हुआ न जनता पर। 17 अगस्त को यतीन्द्रनाथ दास, कमलनाथ तिवारी (बाद को ससद् सदस्य), जयदेव कपूर तथा शिव वर्मा की हालत बहुत खराब हो गई।

21 अगस्त को पुरुषोत्तमदास टडन यतीन दास से मिलने आए, वह साथ में भगतसिह को ले गए कि यतीन्द्रनाथ कम से कम दवा तो खाए, ऐसी दवा जो पुष्टिकारक न हो। पर यतीन्द्रनाथ दास नही माने, बल्कि उन्होंने भगतसिह को डांट दिया कि तुम्हे इनके साथ नही आना चाहिए था। 24 अगस्त को यतीन दास ने यह कहा कि देहान्त के बाद उनका शरीर कलकत्ता भेजा जाए। भाई किरण ने रेल विभाग से पूछा, तो जवाब मिला, 600 रु० जमा कर दो। किरण ने सुभाषचन्द्र बोस को लिखा, फौरन उन्होंने तार से 600 रु० भेज दिए। इसपर पजाब के देशभक्त नाराज हुए कि क्या पजाब कगाल है जो इस तरह पैसे भेजे गए!

9 सितम्बर को यह रिपोर्ट की गई कि यतीन दास ने पानी पीना बन्द कर दिया और नाक से पिलाने की कोशिश में शिव वर्मा ने खून की उलटी की। विजय, अजय और किशोरीलाल ने भी खून की उलटी की। यह अजय वही है जो बाद को लगभग बीस साल अविभक्त कम्युनिस्ट पार्टी के मंत्री रहे। उन्होंने बाद को भगतसिंह पर एक प्रशंसात्मक लेख लिखकर अन्त में यह कहकर गुड़ गोबर कर दिया कि 'पर भगत सिंह कम्युनिस्ट नहीं माने जा सकते।' इस पर मैंने उन्हें डांटते हुए यह लिखा कि क्या संसदीय राजनीति तक सीमित पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी कहलाने की हकदार है?

13 सितम्बर, दिन के एक बजे महान क्रान्तिकारी यतीन्द्रनाथ दास की नश्वर देह का अन्त हो गया और हमारे शहीदों की महान परम्परा में एक और गौरवशाली नाम जुड़ गया।

पर गांधी चुप रहे। जब वह एक महीना से कुछ बाद को 17 अक्तूबर को बोले भी तो उन्होंने यह हास्यास्पद बात कही कि यतीन्द्रनाथ दास इस कारण शहीद हो सके कि वह अहिंसावादी थे। इतिहास जानता है कि यह अनुमान ऊंटपटांग है। वह क्रान्तिकारी दल के नेता थे। जो बम 8 अप्रैल, 1929 को केन्द्रीय असेम्बली में डाले गए, उनके बनाने वाले वे या उनके द्वारा सिखाए हुए लोग थे। कड़वी ऐतिहासिक सचाई यह है कि अब तक जितने भी लोग रामरखा, यतीन, महावीर, मोहित, मोहन अनशन से मरे, वे क्रान्तिकारी थे। कुछ भी हो, नेहरू गांधी से अधिक ईमानदार निकले, उन्होंने फड़कते हुए शब्दों में यतीन्द्रनाथ दास की कुर्बानी की सराहना की। उन्होंने यह कहा कि, "शहीदों की कतार में एक और रणबांकुरे योद्धा का नाम जुड़ गया। उन्होंने तिल-तिल करके प्राण दिए।" नेहरू ने आत्मकथा लिखते समय भी यतीन्द्रनाथ दास की तारीफ की, यद्यपि उतनी नहीं जितनी उस समय की थी जब यतीन शहीद हुए थे क्योंकि नेताओं की आदत होती है बहती गंगा में हाथ धोना।

यतीन्द्रनाथ दास की देह रेल पर हवड़ा भेजी गई। हर स्टेशन पर अपार भीड़ थी। कानपुर स्टेशन पर जवाहरलाल नेहरू आए बालकृष्ण शर्मा के साथ। गणेशशंकर बहुत बीमार होने के कारण न आ सके थे। कानपुर स्टेशन पर विजयकुमारसिंह और राजकुमारसिंह की माता भी आई जो भगतसिंह की मां की तरह राष्ट्र की माता बन चुकी थी। इलाहाबाद स्टेशन पर आई क्रान्तिकारी नेता शचीन्द्रनाथ सान्याल की पत्नी प्रतिमा सान्याल। हवड़ा स्टेशन पर थीं माता वासुकी देवी, सुभाष बोस, सैकड़ों क्रान्तिकारियों के पिता-माता और पचास हजार जनता जो अगले दिन श्मशान तक छह लाख हो गई थी। मैं पहले ही बता चुका, कलकत्तावासियों ने यह सम्मान केवल बाद को कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को दिया। सर्वत्र इनकलाबी नारे गूंज रहे थे।

जनप्रियता का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या हो सकता है ? यह इस बात का भी प्रमाण है कि सन् 1867 से 1947 तक जो क्रान्तिकारी आन्दोलन चला, उसकी जड़ें कितनी गहराई तक भारतीय जनता के हृदय में समाई हुई थीं। जो लोग क्रान्तिकारी प्रयास का अवमूल्यन करने के लिए यह कहते हैं कि वह महज युवकों और छात्रों तक सीमित आन्दोलन था, 6 लाख जनता की यह अपार भीड़ उनके मुंह पर स्वयं इतिहास पुरुष के थप्पड़ की तरह है।

दूसरा प्रमाण है कान्त-कोमल पदावली के भावुक महाकवि दिनकर की यतीन्द्रनाथ दास पर लिखित एक कविता, जिसका नाम है 'बागी' :

निर्मम नाता तोड़ जगत का अमरपुरी की ओर चले,
बन्धन-मुक्ति न हुई, जननि की गोद मधुरतम छोड़ चले।
जलता नन्दनवन पुकारता, मधुप, कहां मुंह मोड़ चले,
बिलख रही यमुना, माधव, क्यों मुरली मंजु मरोड़ चले।
उबल रहे सब सखा, नाश की उद्धत एक हिलोर चले,
पछताते हैं वधिक, पाप का घड़ा हमारा फोड़ चले।
मां रोती, बहनें कराहतीं, घर-घर व्याकुलता जागी,
उपल सरीखे पिघल-पिघल, तुम किधर चले मेरे बागी।

महाकवि ने यह कविता महज एक सामयिक आवेग या आवेश में नहीं लिखी, बल्कि वह इस कविता को अन्त तक अपनी फुटकर रचनाओं में श्रेष्ठ समझते रहे, इसका प्रमाण यह है कि जब 'आज के लोकप्रिय कवि' माला के अन्तर्गत दिनकर पर मेरी पुस्तक भूमिका सहित और मेरे सम्पादन में प्रकाशित हुई, उसमें कविवर ने इस कविता को पहला स्थान दिया। वह मुझे खुश करने के लिए नहीं दिया। यह पुस्तक छठे संस्करण में चालू है।

यतीन्द्रनाथ दास की शहादत से जो ज्वालामुखी फूट पड़ा, दिनकर ने उसको प्रत्यक्ष देखा, इसलिए इस कविता के ये शब्द···'उपल सरीखे पिघल-पिघल' सबसे मार्मिक हैं। अनशन में तिल-तिल करके प्राण देना, मृत्यु की ओर अपनी इच्छा से एक-एक इंच करके सरकना उन लोगों के लिए भी कठिन है, जो गोली खाकर या फांसी पर चढ़कर मरने से नहीं घबराते। काकोरी षड्यंत्र में सन् 1927 में चार क्रान्तिकारियों को फांसी हुई थी, उनमें से काशी के राजेन्द्र लाहिड़ी से जब कहा गया कि आप भी सामूहिक अनशन में शामिल हो जाइए, तो उन्होंने हंसकर (हवालात में एक बार वह अनशन कर चुके थे) कहा, "ना बाबा, मैं गोली खा सकता हूं, फांसी पर चढ़ सकता हूं, पर अनशन नहीं करूंगा।"

यह तो उन्होंने बाद में दिखा दिया, 17 दिसम्बर, 1927 को गोंडा जेल में फांसी चढ़कर कि वह बहादुरी से फांसी पर चढ़ सकते हैं। कोई भी व्यक्ति दो दिन उपवास करके स्वयं इस बात को देख सकता है कि अनशन कितने मनोबल

का तकाजा करता है, विशेषकर जबकि वह आमरण हो।

क्या ये शहीद जानते थे कि उन्हें बलिवेदी पर चढकर शमा बनकर युद्ध के दुर्गम पथ को आलोकित करना है? कम से कम वे तैयार थे अपना सर्वस्व न्योछावर करने। वे जानते थे कि मार्ग दुर्गम है, जगह-जगह विपत्तिया मुंह बाकर उन्हें गटक जाने को तैयार हैं, फिर भी वे पीछे नही हटे। हम देख चुके है कि गेंदालाल दीक्षित के नेतृत्व मे मैनपुरी की जो टोली चली थी, उसका कौल था :

यदि देशहित मरना पड़े मुझको सहस्रो बार भी,
तो भी न मैं इस कष्ट को निज ध्यान मे लाऊँ कभी।

उन दिनों ऐसी कविताओं की धूम थी। चालीस साल पहले अंग्रेजी राज्य मे, जिसने मेरी दो पुस्तको को जब्त कर मुझे राजनैतिक लेखक को प्राप्य सर्वोच्च सम्मान दिया, मैंने यतीन्द्रनाथ दास पर एक पुस्तिका लिखी थी, जिसकी जिल्द पर यतीन्द्रनाथ के फोटो के साथ उक्त कविता और एक शेर और था :

सर देके राहे इश्क मे ऐसा मजा मिला,
हसरत ये रह गई कि कोई और सर न था।

बाद के अन्दमान मे शहीद महावीरसिंह की एक नोट बुक साथी कैदियो को मिला, जिसमे पुश्किन की एक कविता का अश लिखा था :

मालूम है कि जो पहले उठ खडा होता है
जालिम के जुओं के खिलाफ,
उसकी तकदीर मे विनाश लिख जाता है
पर मुझे बताओ कि कब बिना सिर दिए,
किसी देश को मिलता है छुटकारा गुलामी से?

सत्रहवा अध्याय

सन् 1930 का नमक सत्याग्रह और चटगांव का दिशा-निर्देश

गांधी जी ने सन् 1922 मे चौरी चौरा के बहाने चला-चलाया, क्राति की लपटें फेंकते हुए आंदोलन को बंद कर दिया, उससे कितनी हानि हुई यह तब खुली जब देश में साम्प्रदायिक दगों का सिलसिला शुरू हो गया। यह जो कहने-लिखने की परम्परा थी और है कि अंग्रेजो ने लडाई कराई, यह आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी हम देख चुके है कि इसके पीछे हिन्दू और मुस्लिम मध्यम वर्ग की नौकरी-सम्बन्धी

होड रही है। धर्म के नाम पर भोले-भाले लोगों की हत्या करवाने वाले लोगों को जनता की भलाई से कोई वास्ता नहीं। हम यह भी देख चुके कि हिन्दू-मुस्लिम मेल कराने का प्रचलित गाधी-जवाहरवादी नुस्खे का जहाज, जिसपर कम्युनिस्ट भी सवार है, किस बुरी तरह ढोंग-ढकोसले की चट्टान से टकराकर टूटता गया। भारी राजनीति का उद्देश्य न्यायोचित (क्रमिक ही सही) सामाजिक परिवर्तन लाने की जगह केवल येन केन प्रकारेण वोट बटोरना रह गया है, ऐसी हालत में अप्रिय सत्य कौन कहे? इन लोगों में—जिनमे कम्युनिस्ट भी शामिल है (अपने सैद्धान्तिक विश्वास के साथ धोखा करके कि धर्म जनता के लिए अफीम है)—केवल एक ही चाह है कि किसी तरह गद्दी मिले। केरल और बंगाल में वामपथी सरकारें रही, पर क्या उन्होंने रूढ़ियो पर उतना भी आघात किया जितना राममोहन, विद्यासागर, दयानन्द, रानडे, कर्वे आदि ने किया, अपने सिद्धान्त को छोड़कर गद्दी के मोह ने इनका नाश किया।

जो कुछ भी हो, यह नहीं कहा जा सकता कि गाधी 1921 के बाद चुपचाप बैठे रहे, वह अखिल भारतीय चर्खा संघ आदि की आड़ मे एक ढांचा खड़ा करते रहे, जिसके कारण काग्रेस संस्था पर तथा चूकि कांग्रेस सन् 1920 से लगभग सन् 1947तक स्वातंत्र्य-योद्धाओ के सयुक्त मोर्चे के रूप में पनपा—सारे देश की राजनीति पर उनकी पकड मजबूत रही। स्वराज्य पार्टी के रूप में चित्तरजन दास, मोतीलाल नेहरू विधानसभाओं के वृक्षों पर चढ़कर कई तरह की उछल-कूद करते रहे और गांधी चुपचाप तमाशा (करीब-करीब काग्रेस के बाहर रहकर) यह सब सोचकर देखते रहे कि सरकार रूपी मोरनी इन लोगों के पंख उठाकर नृत्य करने (जिसपर कई बार तांडव का पुट आ जाता था) पर रीझकर शक्ति पर सवारी करने नहीं देने वाली है। आखिर वे लौट ही आएगे, सो लाहौर काग्रेस (सन् 1929) मे वे लौट ही आए।

स्वराज्य पार्टी

यहां ठहरकर यह बता दिया जाए कि यद्यपि स्वराज्य पार्टी की उछल-कूद विधानसभाओं की चहारदीवारियों के अन्दर सीमित थी, इससे यह मधुर और जरूरी भ्रम बना रहा कि काग्रेस कुछ तो कर रही है, लड़ाई नही तो गोड़ाई-निडाई जारी है, कभी तो फसल पैदा होगी। पर इस दल का एक स्थायी ऐतिहासिक अवदान यह रहा कि बाद को काग्रेसी अहिंसात्मक जद्दोजहद का यह एक अभिन्न अंग बन गया। सन् 1935 के भारत ऐक्ट के अनुसार चुनाव लड़े गए, हिंदू बहुसख्यावाले प्रांतों में 1937-39 मे कांग्रेसी शक्ति आरूढ रहे। यहा यह बता दें कि बाद को काग्रेस ही स्वराज्य पार्टी बन गई, पर गांधी जी ने ऐसी सूक्ष्म पेंच मारी कि चुपचाप सी० आर० दास मोतीलाल को श्रेय बिना दिए गांधीवादी पैंतरे मान गए। दास

और बाद को मोतीलाल की मृत्यु ने गांधीपंथ की पाचन शक्ति को सहायता पहुचाई। इस मामले में इतिहास ने गाधी जी की उसी प्रकार सहायता की जैसे गाधी के उदय के ऐन मौके पर तिलक की मृत्यु ने किया था।

जो कुछ भी हो, लाहौर काग्रेस के प्रस्ताव से मजबूर होकर काग्रेस ने नमक सत्याग्रह चलाया। शुरू मे जवाहरलाल नेहरू आदि समझते थे कि नमक सत्याग्रह चल नही पाएगा, पर गाधी जी ने डांडी-यात्रा के रूप मे ऐसे नाटकीय पैंतरे किए (असतोष का आधार तो था ही) कि काम बन गया।

सन् 1930 के 12 मार्च को गाधी जी ने डाडी-यात्रा शुरू की, जिसमे गाधी जी के दूसरे जन आदोलन का सूत्रपात हुआ। यद्यपि इस अवसर पर गाधी जी ने नमक बनाकर बार-बार कानून तोडा और देश के बारूदखाने मे आग लग गई, पर सरकार सन् 1921 ई० की तरह उनकी गिरफ्तारी मे बचती रही। 14 अप्रैल को जवाहरलाल गिरफ्तार कर लिए गए और उसी दिन उन्हे नमक कानून के अनुसार 6 महीने की सजा दी गई। कलकत्ता, मद्रास और कराची में गोली चली और देश मे सर्वत्र लाठी चार्ज हुए। कस्तूरबा के नेतृत्व मे स्वयसेविकाओं ने साबरमती आश्रम से निकलकर शराब की दुकानों पर पिकेटिंग की।

सूर्य सेन

ऐसे समय मे महानायक सूर्य सेन ने इस आदोलन को दबाव राजनीति के कीचड से निकालकर क्रातिकारी शिक्षा देने के लिए अपना कार्यक्रम रखा। वह नमक सत्याग्रह को जनक्राति में परिवर्तित करना चाहते थे। इसी परिप्रेक्ष्य मे देखने पर चटगाव की त्रिदिवसीय क्राति और जलालाबाद का युद्ध समझ मे आ सकता है। फासी (12 जनवरी, 1935) के ऐन पहले 11 जनवरी को मास्टर दादा ने एक सन्देश भेजा था, उसमे विशेषकर यही बात कही गई है।

सारे क्रातिकारी आदोलन मे सन् 1857 के विद्रोह और आजाद हिंद फौज, कोमागाटा मारू तथा सैनिको से सबधित, जैसे नौसैनिक विद्रोह (1946) की घटनाओ को यदि छोड दिया जाए, तो चटगाव शस्त्रागार काड क्रातिकारी आदोलन की सबसे बडी घटना है, क्योकि एक जलालाबाद युद्ध मे ही एक दर्जन क्रातिकारी शहीद हुए। इसे आश्चर्य ही कहना चाहिए कि जो व्यक्ति इस सारे आदोलन का मध्यमणि और नेता था, यानी सूर्य सेन, वह उत्तर भारत मे तुलनात्मक रूप से अपरिचित ही रह गए है, पर उनका काम इतना बडा था कि मुजीब ने भारत से गए क्रातिकारियों के सामने यह वक्तव्य दिया था कि जो काम सूर्य सेन शुरू कर गए, वह उसीको पूरा कर रहे है। अफसोस कि वह उसे पूरा नही कर सके और अतर्राष्ट्रीय प्रतिक्राति के शिकार हो गए। सूर्य सेन ने जो सगठन किया था वह अभूतपूर्व था। उसने क्या कुछ हासिल किया यह तो ऐतिहासिक मूल्याकन के बाद

 पु-29/9

सय होगा, पर साहस और संगठन की पराकाष्ठा का नाम सूर्य सेन है, यह कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस तैयारी के बाद अब हम चटगांव और सूर्य सेन का ब्यौरेवार वर्णन करें।

चटगांव बांगला देश में है, पर सन् 1947 के पहले भी भारत के बहुत कम लोग चटगाव के नाम से परिचित थे। सच तो यह है कि सूर्य सेन और उनके बहादुर अनुयायियों के कारण ही भारत के लोगों ने चटगांव का नाम जाना। पर चटगाव का अपना एक इतिहास है, जो विद्रोह और संघर्ष का इतिहास है।

चटगांव का सारा जिला छोटी-छोटी पहाड़ियों और टीलों से भरा है। लुसाई पहाड़ की एक टुकड़ी ने चटगांव में उत्तर से प्रवेश कर दक्षिण तक जाकर एक आरी की तरह चटगांव इलाके को चीर दिया है, जिले की राजधानी क्या है—छोटे-बड़े टीलों का समूह। कई बड़े दफ्तर टीलों पर बैठकर आकाश से बातें करते हैं। चटगाव की मुख्य नदी है कर्णफूली, जो लुसाई से निकलकर कुछ ही मील चलकर समुद्र में समा गयी है। पर तीन नदियां और हैं—शख, मातामुहरी और हालदा। फिर चटगाव तो एक सामुद्रिक बन्दरगाह है। यहां के लोग सारे संसार में मल्लाह के रूप में प्रसिद्ध हैं। यहां न जाने कितने लोग हैं जो बार-बार पृथ्वी की परिक्रमा कर चुके हैं।

उस जमाने में चटगाव जिले की आबादी लगभग 16 लाख थी, जिनमें 80 प्रतिशत मुसलमान थे। प्रकृति के कर्कश थपेड़ों में परिपालित यहां के लोग लड़ाकू होते हुए भी हिंदू और मुसलमान तब तक बड़े प्रेम से रहते थे, जब तक मुस्लिम लीग का असर ब्रिटिश सरकार की बेईमानी के कारण यहां नहीं फैला। इस इलाके में पलासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों का दबदबा बड़ी कठिनाई से फैला। पहाड़ों पर बसे चकमा तथा अन्य ग्रामवासी लोगों ने आज जिसे गुरिल्ला युद्ध कहते हैं उस प्रणाली से सैकड़ों अंग्रेजों तथा उनके सैनिकों को मौत के घाट उतारा। (देखिए गणेश घोष की बंगला पुस्तक 'विप्लवी सूर्य सेन', पृ० 9) दुर्दांत ब्रिटिश शक्ति को चकमा लोगों की कुछ मांगें माननी पड़ी, तब जाकर शांति स्थापित हुई। यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि सन् 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम में 18 नवंबर के दिन यहां तैनात 34 नंबर पैदल सेना ने अखिल भारतीय विद्रोह में हाथ बटाया था। कहते हैं कि इसकी एक टुकड़ी ने त्रिपुरा राज्य में घुसने की चेष्टा की, जिसपर वहां के राजा ने उन सैनिकों को पकडकर अंग्रेजों के हाथों में सौंप दिया और उन्हें फांसी पर चढा दिया गया। बाकी टुकडियां अंग्रेजों से लडकर समाप्त हो गयी। (वही, पृ० 90)

इसी चटगाव जिले के राउजान थाने के इलाके के अंतर्गत बच्च देहाती गाव नोवापाड़ा में सन् 1894 के 22 मार्च, बुधवार को सूर्यकुमार सेन का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम राजमणि सेन और माता का नाम शशिबाला था। उनकी

चार बहनें और एक भाई और थे। भाई-बहनों में सूर्य सेन का नंबर चौथा था। 5 साल की उम्र में वह पितृहीन हो गए और इसके बाद परिवार बडे चाचा के यहा पलता रहा। सूर्य सेन पहले दयामयी उच्च प्राथमिक विद्यालय के छात्र रहे। यह विद्यालय बाद को नोवापाडा अंग्रेजी स्कूल के साथ मिलकर एक हो गया। वही वह आठवी जमात तक पढ़ते रहे। वह शरीर से दुर्बल पर पढाई में अच्छे रहे। बाद को वह शहर के नेशनल हाई स्कूल मे भरती हो गए, वहीं से मैट्रिक पास कर वह चटगांव कालेज मे गए। वहां इटर करके वह मुर्शिदाबाद के बरहामपुर कृष्ण-नाथ कालेज मे पहुच गए।

उस कालेज मे सतीशचंद्र चक्रवर्ती नाम के एक अध्यापक थे जिनका संबंध युगातर नामक प्रसिद्ध क्रांतिकारी दल से था। उनके असर में आकर कई छात्र क्रांतिकारी बन चुके थे। वह ऐसे युवकों की ताक मे रहते थे, जो क्रांतिकारी बनने योग्य थे। उनका ध्यान अनायास ही छात्र सूर्य सेन की ओर गया। वगभंग (सन् 1905) के कारण जो विस्फोट हुआ था, उसकी चिनगारिया प्रत्येक छात्र के मन मे पहुच गयी थी। यह आदोलन खुले से गुप्त हो गया और इसका लक्ष्य बगाल के विभाजन के निराकरण से लेकर स्वराज्य हो गया, यह इतिहास हम बता चुके हैं। लार्ड कर्जन ने यह कहा था कि यह विभाजन प्रशासन की सुविधा के लिए किया गया है, पर असली उद्देश्य था मुसलमान-हिंदुओ में फूट पैदा करना और ऐसे तत्वों को उभारना जो देश को सांप्रदायिकता के कीचड मे फंसाकर स्वतंत्रता-संग्राम के रथ की अग्रगति मे बाधक हों। लार्ड कर्जन उसी नीति को आगे बढा रहे थे, जिसे अलीगढ के अध्यापक बेक ने चालू किया था।

सन् 1857 के युग मे जब राष्ट्रीय पुनरुत्थान की शक्तियां परास्त हो गयी, तो बहुत दिनो तक अंग्रेज मुसलमानों से नाराज रहे और मुसलमानों ने भी यानी मुस्लिम मध्यवित्त वर्ग ने यह समझकर कि जल्दी ही फिर मुगलशासन लौट आएगा अंग्रेजी शिक्षा तथा शासन से असहयोग किया। पर सन् 1870 तक दोनों पक्षों ने अपनी स्थिति पर पुनर्विचार शुरू किया।

बरहामपुर के उस कालेज में ही क्रांतिकारी दल की एक शाखा थी। सूर्य सेन सतीशचद्र चक्रवर्ती के नेतृत्व मे उसी शाखा मे अपने विचारों को परिपक्व करते रहे। उन्ही दिनो उन्होने तय किया कि कालेज की पढाई समाप्त करने के बाद भी उन्हें क्रांतिपथ का पथिक रहना है और उस क्षेत्र मे अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि वह शिक्षक का पेशा ग्रहण करें ताकि अधिक से अधिक नवयुवकों के सपर्क मे आ सकें।

सन् 1917 मे बी० ए० परीक्षा देने के बाद ही वह लौटकर उमातारा उच्च अंग्रेजी विद्यालय मे गणित के शिक्षक लग गए, पर सूर्य सेन के परिवार के लोग इस बात से खुश नही हुए क्योंकि वे चाहते थे कि वह सरकारी नौकर बनें।

पर सूर्य सेन टस से मस नहीं हुए। इस कारण उनके रिश्तेदारों ने चुप्पी साध ली। फिर रिश्तेदारों ने दूसरा मोर्चा खोल दिया कि शादी करा लो। नतीजा यह हुआ कि उनको कानूनगोपाड़ा गांव के नगेन्द्रनाथ दत्त की सुन्दरी षोडशी बेटी पुष्पकुन्तला से शादी करनी पड़ी। सूर्य सेन शादी के बहुत खिलाफ थे, पर उनकी एक नहीं चली। वह शिक्षक तो हो गए पर वह मन ही मन यही समझते थे कि मेरा असली काम शिक्षा देना नहीं है, बल्कि क्रांति करना है। अब जब शिक्षक बन चुके थे तो उन्होंने अपने वर्तमान कार्य के साथ अपनी उस उच्चाकांक्षा को संयुक्त कर लिया। उन्होंने यह समझ लिया कि शिक्षक बनकर मैं क्रांतिकारी प्रचार करूंगा। शिक्षक को यह सुविधा होती है कि वह नित्य नये-नये नवयुवकों के संपर्क में आता है, इसलिए उसके लिए क्रांति का प्रचार करना आसान होता है।

उनका वेतन बहुत कम था, पर उन्हें इसकी कोई परवाह नहीं थी। वह इस बात से खुश थे कि अब मौका आया था जबकि वह कुछ कर सकते थे। सबसे पहले आलोड़न उनके जीवन में तब आया जब जलियांवाला बाग के हत्याकांड की खबर उनके पास पहुंची और उसके फलस्वरूप कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी। अब तक जो चिंता केवल तेजी के रूप में मौजूद थी, वह प्रबल रूप में सामने आयी। जलियांवाला बाग कांड की खबर से वह बहुत विचलित हुए, पर उन्होंने अपने विचारों को किसी के सामने नहीं रखा। रखते भी तो कैसे रखते? खैर, जब इस संबंध में छात्रों की सभा हुई तो उन्होंने इतना कहा कि हमारा कर्त्तव्य सिर्फ इतना ही है कि हम एक क्रोध से भरा प्रस्ताव पास कर दें, इससे आगे हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता। यदि इस कांड के द्वारा भारत का जो अपमान हुआ है वह आप छात्रों को खला है, तो आपको यह संकल्प लेना चाहिए कि उसका उत्तर आप देंगे।

इसपर छात्रों ने कहा कि हम अवश्य इसका उत्तर देंगे। सूर्य सेन ने जो प्रश्न अपने छात्रों से किया था वही प्रश्न अपनेसे भी किया। जब जलियांवाला बाग कांड के बाद असहयोग आंदोलन आया, तो बहुत-से स्कूलों में से छात्र स्कूल छोड़कर चले गए। उन लोगों ने एक स्वयंसेवकों की टोली बनाई जिसके नेता सूर्य सेन हुए। पर असहयोग आंदोलन का मुख्य आधार अहिंसा था जिसपर सूर्य सेन को कोई विश्वास नहीं था। सूर्य सेन ने असहयोग में शिरकत अपने मतलब के युवकों को ढूंढ निकालने के लिए की। इसी अवसर पर उन्हें दो छात्र मिले जो सरकारी स्कूलों से निकलकर फिर नहीं लौटे। इन छात्रों के नाम थे गणेश घोष और अनंतसिंह। बाद को ये दोनों उनके प्रधान शिष्य हुए और उन्होंने आगे चलकर चटगांव शस्त्रागार कांड में नेतृत्व किया। जब सूर्य सेन को यह विश्वास हो गया कि ये दो युवक उनकी साधना के पथ के पथिक हो सकते हैं, तब उन्होंने उनके सामने अपना कार्यक्रम रखा। इस

प्रकार गुप्त समिति की स्थापना हुई। इस गुप्त समिति का नाम साम्य आश्रम रखा गया। इस साम्य शब्द में हम चाहे साम्यवाद का पुट मान लें, पर सूर्य सेन ने विचारधारा की परिष्कृति पर कम और काम पर अधिक ध्यान दिया।

छोटा-सा दल था, जिसके प्रमुख सदस्य थे अंबिका चक्रवर्ती, अनुरूप सेन, नगेन सेन और चारुविकास दत्त। ये लोग मिलकर गुप्त दल बनाने में जुट गये। उन दिनों पूर्वी भारत में दो प्रबल क्रांतिकारी दल थे। मैंने अपनी पुस्तक 'क्रांतिकारी दल का इतिहास' में यह कहा है कि यद्यपि सैद्धांतिक दृष्टि से सारे भारत में एक क्रांतिकारी दल होना वांछनीय था और इसलिए ऐसे दलों के एकीकरण की मांग और प्रवृत्ति थी, पर व्यावहारिक कारण से एकीकरण का प्रस्ताव कभी अधिक दूर बढ़ नहीं सका। यह व्यावहारिक कारण यह था कि बेवकूफी से या मुखबिरी के कारण एक दल पुलिस की गिरफ्त में आ भी जाये तो बाकी दल सुरक्षित रहते थे। बंगाल में स्वदेशी या बंगभंग विरोधी आंदोलन (सन् 1905) के दौरान दो प्रधान क्रांतिकारी दल सामने आये, एक अनुशीलन और दूसरा युगांतर। इनमें से अनुशीलन का सूत्रपात सन् 1902 में हुआ। उसमें सुरेंद्रनाथ ठाकुर, प्रमथनाथ मित्र, सतीशचंद्र वसु, यतीन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय (निरालम्ब स्वामी), देशबंधु चित्तरंजन दास, श्री अरविंद घोष आदि थे। साथ था स्वामी विवेकानंद के छोटे भाई भूपेंद्रनाथ दत्त का। अन्य लोग थे संपादक ब्रह्मबान्धव उपाध्याय, पुलिनविहारी दास, विपिनचंद्र पाल, सखाराम गणेश देउस्कर। उसी हल्ले में आत्मोन्नति समिति नाम से एक गुप्त समिति कुछ जिलों में पनपी। अनुशीलन से अलग होकर 'युगांतर' नामक क्रांतिकारी पत्र से संबद्ध लोगों ने एक युगांतर दल खड़ा किया। इसकी पुश्त पर ऐसे सार्वजनिक नेता थे, जैसे श्री अरविन्द, चित्तरंजन दास, सुभाषचंद्र बोस।

पर सूर्य सेन के दल ने अनुशीलन और युगान्तर से स्वतन्त्र रहकर काम करने का निश्चय किया। उसके कुछ लोग सन् 1922 के लगभग दो हिस्सों में बंट गये, और गणेश घोष के अनुसार एक छोटी टुकड़ी अनुशीलन में मिल गयी। पर विनोदविहारी दत्त, जो लगभग 1 साल तक फरार रहे, अंत तक सूर्य सेन से संयुक्त रहे। कहते हैं कि सूर्य सेन ने चटगांव में साम्य आश्रम की स्थापना की, जिसमें से कई लोग अनुशीलन और युगांतर में चले गये।

एक कांटे का ऐतिहासिक प्रश्न सामने आता है कि क्या क्रांतिकारी दल में मुसलिम युवक आये? यदि नहीं आये तो क्यों? हम पहले ही बता चुके हैं कि 1857 में हिंदू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर लड़े, एकसाथ तोप की खुराक बने या फांसी पर चढ़े। फिर वहाबी क्रांतिकारी आये, जो मुसलमान थे। वहाबी शेरअली और अब्दुल्ला सत्तावनांतर युग के प्रथम क्रांतिकारी शहीद थे।

अफसोस है कि जब संयुक्त भारत में राष्ट्रीयता का उदय हुआ, तो उसका

विकास ऐसे वातावरण में हुआ जिसपर हिंदू रंग चढ़ता चला गया। यद्यपि सावरकर ऐसे लोग भी, जब तक कि वह क्रांतिकारी रहे, संपूर्ण रूप से धर्मनिरपेक्ष थे। तिलक ने जो पहले से प्रचलित गणेश उत्सव अपनाया, उसपर राजनैतिक रंग चढ़ाने के लिए वह ठीक ही था, पर इसका धार्मिक रंग कहां जाता? फिर शिवाजी उत्सव चला, वह कही अधिक मात्रा मे राजनैतिक प्रतीक होते हुए भी ऐतिहासिक कारणों से वह प्रतीक कुछ हद तक मुसलिम विरोधी बैठता था। सन् 1885 ई० में कांग्रेस के पैदा होने से जो यह राजनैतिक ध्वनि निकली कि भारतीयो की चले, सो उसका मर सैयद अहमद के अंग्रेज सलाहकारों या विवेक-रक्षकों ने यह अर्थ लगाया कि भारतीय माने हिंदू क्योंकि वही बहुसख्या मे है। मर सैयद घबडाये। वगाल में प्रगतिशील उद्देश्य से हिंदू मेला बुलवाया गया न कि भारतीय मेला। गांधी ने रामराज्य कहा और रामधुन भी चलने लगी। क्रांतिकारी सैद्धान्तिक रूप से मोलहों आने धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी काली मैया की मूर्ति के सामने प्रतिज्ञा लेकर या अपने रक्त से हस्ताक्षर करके, नित्य गीता पढकर इस परिपाटी में फसे रहे और तिलक, सावरकर, अरविंद, खुदीराम इस मामले मे किसी भी प्रकार हिंदू रंग चढी हुई राष्ट्रीयता के विकास से अलग नहीं किये जा सकते। इसके जवाब मे और कुछ हद तक स्वतन्त्र रूप से या अंग्रेजों के द्वारा भडकाए जाकर मुसलमानों में सर सैयद, हाली, हसन निजामी, इकबाल के नेतृत्व मे अलीगढ को केंद्र बनाकर एक मुसलिम राष्ट्रीयता का उदय हुआ जो स्वाभाविक रूप से 'मुसलिम है हमवतन है सारा जहां हमारा' मे बहक गई।

इन सब तत्त्वों के बावजूद कांग्रेसी आंदोलन (स्मरण रहे, राष्ट्रीय आदोलन के युग मे कांग्रेस आज की तरह एक पार्टी नही थी, बल्कि स्वातंत्र्य-योद्धाओं का एक खुला मोर्चा थी।) और क्रान्तिकारी आंदोलन मे और अंत में जिस आन्दोलन मे क्रांतिकारी आंदोलन की पूर्णाहुति हुई यानी आजाद हिन्द फौज में बहुत मुसलमान आए। गदर पार्टी में कई मुसलमान थे। मनीला मे गदर पार्टी के रहमत अली को फासी हुई, वर्मा मे मुज्तबा हुसैन और अली अहमद सिद्दीकी को लबी सजाएं हुई थी।

सूर्य सेन के प्रमुख अनुयायी भूतपूर्व ससद् सदस्य गणेश घोष ने लिखा है कि सूर्य सेन ने कुछ मुसलमानों को यथारीति तैयारी के बाद क्रांतिकारी दल मे ले लिया था, और इसके लिए उन्हे काली मैया की तसवीर की शरण में नही जाना पड़ा। मुसलिम नवयुवकों ने विभिन्न समय मे विभिन्न प्रकार से अनेक जिम्मेदारी वाले, महत्त्वपूर्ण, खतरनाक काम बडी खूबी के साथ किए। दु:ख है गणेश घोष ने इसका कोई ब्यौरा नही दिया, जबकि ब्यौरा ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होता। यह ब्यौरा देना इस कारण भी जरूरी था कि बाद को चटगांव मे जो मुकदमे आदि चले, उनमे ये मुसलिम क्रातिकारी सामनेनही लाए गए।

जब गांधी जी ने पंजाब हत्याकांड के बाद असहयोग आदोलन चलाया तो सभी क्रांतिकारियों के मन में बडी आशा बंधी। सूर्य सेन भी अपने क्रांतिकारी साथियों के साथ कांग्रेस में आ गये। गांधी जी कलकत्ते मे क्रांतिकारियों से मिले भी थे कि आप सहयोग दें। सुभाषचन्द्र बोस ने भी यह बात लिखी है। गणेश घोष का तो यहां तक कहना है कि उन्होंने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए कई चालू क्रांतिकारी कार्यक्रम बद कर दिए। यही सारे भारत में हुआ। उन दिनों देशप्रिय यतीन्द्रमोहन सेनगुप्त उधर से बहुत बड़े कांग्रेसी नेता थे। सूर्य सेन उनके साथ काम करने लगे। सूर्य सेन छात्रों मे बहुत जनप्रिय थे, इसका लाभ कांग्रेस को मिला। मास्टर दादा पर युवक और छात्र जान देते रहे।

मजदूरों में काम

इन्ही दिनों चटगांव में दो उल्लेखनीय घटनाएं हुई। चटगांव में बुलाक कंपनी नाम से एक अंग्रेज कपनी थी। इस कपनी के मजदूरों मे यूनियन बनाने के अपराध में जनप्रिय मजदूर नेता को बर्खास्त कर दिया गया। इसपर कंपनी में हड़ताल हो गयी। यतीन्द्रमोहन और प्रसिद्ध नेता कासिम अली ने हडताल की बागडोर अपने हाथ में ले ली। नतीजा यह हुआ कि हडताल कंपनी जहाजों में भी फैल गयी। मजबूरी से मालिकों ने संधि कर ली। इस जीत से जनता मे जोश फैला।

इसीके बाद विदेशी रेल कपनी 'असम बगाल रेल' में हड़ताल हुई। साथ ही सिऊर और कछाउ के चाय बागानों में, जिनके मालिक अंग्रेज थे, असहयोग चल पड़ा। बिहारी कुलियो ने नौकरी छोडकर बिहार लौटना चाहा। पर रेल कंपनी ने अंग्रेजी चायवा गान के मालिकों के इशारे पर उन्हे रेल पर चढने नही दिया। फिर कुलियों ने चाय बागान लौटने की बजाय स्टेशनों पर सडना स्वीकार किया। जब वे चार-पांच दिन तक टस से मस नही हुए, तो रात को उनपर शराब पिलाकर गोर्खा सैनिक छोड़े गए। बड़ा अत्याचार हुआ और जो लोग संगीनो की चोट से मारे गये, उनकी लाशो को चुपचाप पद्मा नदी मे बहा दिया गया। इन हडतालो के पीछे सूर्य सेन और उनके सारे क्रान्तिकारी साथी थे। इन हडतालो की खबर गाधी जी तक पहुची और उन्होंने अपने 'यंग इंडिया' में इसका उल्लेख किया।

पर गाधी जी ने सन् 1922 में चौरी चौरा के बहाने जो उठती हुई क्रान्ति को बंद कर दिया उससे सब क्रांतिकारी ही नही नेहरू ऐसे लोग भी निराश हुए।

चटगाव के क्रान्तिकारियों ने कहा, अब हम चुप नही रह सकते। कलकत्ते के एक छोटे क्रान्ति दल ने, जिसके नेता थे विपिनविहारी गागुली और बाद को हिजली कैंप मे मारे गये संतोषकुमार मित्र, कुछ छोटे-मोटे काम शुरू कर दिये थे।

दूसरे तैयारी कर रहे थे जिनका ब्यौरा मैं 'क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास' तथा 'हिस्ट्री आफ दि इंडियन रिवोल्यूशनरी मूवमेंट' में दे चुका हूं।

मास्टर दादा ने देखा नवयुवक जोश में हैं, उन्होंने कहा, "दल को धन की जरूरत है, तुम अपने घरों से धन लाओ, जो अपने घर से धन नहीं दे सकते उन्हें दूसरों से चंदा मांगने या जबर्दस्ती चंदा (फोर्स्ड कांट्रिब्यूशन) लेने का कोई अधिकार नहीं।" इस प्रकार शांति से कई हजार रुपये मास्टर दादा के हाथों में आ गए फिर रेल कंपनी की एक घोड़ागाड़ी को लूटकर, जिससे वेतन बंटता था, 1923 के 14 दिसंबर को 17 हजार रुपये क्रांतिकारियों के हाथ लगे।

चटगांव एक पहाड़ी इलाका है। वहां क्रांतिकारी लोग पहाड़ियों पर बैठकर तय करते थे कि किस प्रकार से दल को बढ़ाया जाए और इसे अधिक से अधिक सफल बनाया जाए। उन्हीं दिनों कलकत्ता में भी क्रांतिकारी दल काम कर रहा था और उनकी तरफ से दल को धन दिलाने के लिए कुछ डकैतियां भी हो रही थीं। इन डकैतियों के नेता थे देवेन डे। दल ने उनका नाम खोला था। जब देवेन डे ने यह देखा कि कलकत्ता में रुकना कठिन हो रहा है तब वह भागकर चटगांव आए और सूर्य सेन के साथ मिल गये। और ऐसे सूर्य सेन को एक बहुत तजुर्बेकार साथी मिल गया और इससे उनके संगठन को चार चांद लग गए।

संगठन और धनसंग्रह

भीतर ही भीतर संगठन चलता रहा, किसीको कानों-कान खबर नहीं हुई कि क्या हो रहा है। सन् 1923 के 23 दिसंबर को इस दल की तरफ से पहला कार्य हुआ। चटगांव के पहाड़ी की तरफ जो पक्की सड़क थी, उसके किनारे चार युवा घात लगाकर बैठे हुए थे। इतने में रेल कंपनी की मासिक वेतन की गाड़ी उधर से आ निकली। देवेन डे और अनन्तसिंह ने ज्यों ही गाड़ी को पास आते देखा, त्यों ही पिस्तौल दिखाकर भीतर बैठे हुए लोगों को गाड़ी के नीचे उतार दिया। देवेन डे आदि कूदकर सईस के पास पहुंचे और उसे ढकेलकर नीचे कर दिया और वह स्वयं गाड़ी चलाने लगे। इसी प्रकार रेल का जो बाबू साथ में था उसे भी निकाल बाहर किया गया था। जब गाड़ी आगे निकल गयी तो गाड़ीवान और रेल बाबू ने शोर मचाया, पर उस समय तक गाड़ी दूर निकल चुकी थी। इस डकैती से क्रान्तिकारी दल को बहुत बल मिला।

उन दिनों शहर के उत्तर में तीन मील की दूरी पर एक मुस्लिम गांव बहघरहाट में पुलिस से बचने के लिए कुछ क्रांतिकारी रहते थे। घोड़ागाड़ी कांड के बाद ही इस तरह आधी फरारी का कार्यक्रम अपनाया गया था। मास्टर दादा भी वहीं रहते थे। सवेरे स्कूल जाते, शाम को सारी खबर लेकर लौटकर आते। घोड़ा-

गाडी काड के दसेक दिन के बाद एक पुलिस अफसर उस गांव में आकर कुछ पूछ-ताछ करने चला गया। सूर्य सेन समझ गये कि विपत्ति आने वाली है। इसलिए फौरन आदेश दिया कि इस गाव को छोड़ दो। सब साथी निकल पडे। पर गाव वालो ने बाधा दी। तब साथियो ने हथियार निकाल लिये। इसपर गांव वाले पीछे हट गए, पर दूर से ईंटे, पत्थर चलाना शुरू किया। गांव वालो ने इस तरह बारह-तेरह मील तक पीछा किया। यहा तक कि चौकीदार ने भी गोली चलाई। फिर भी सूर्य सेन ने गोलियों का जबाब गोलियो से देने से इकार किया क्योंकि उनका कहना था कि ये हमारे शत्रु नही हैं। इस तरह क्रातिकारी बारह मील निकल आए तो जगल और पहाड आ गए। उधर पुलिस की टुकड़ी दिखाई पड़ी। उनकी सगीनें धूप मे चमचमा रही थी। उस समय तक क्रान्तिकारी थककर चूर हो चुके थे। विशेषकर मास्टर दादा कमजोर होने के कारण एकदम पस्त हो चुके थे। इसी हालत मे क्रातिकारी जगल मे घुस गए। गाव वाले आगे नही गए, पर कुछ चौकी-दार अब भी चिपके रहे।

नेता आत्मबलिदान को तैयार

मास्टर दादा से अब चला नही जा रहा था। उन्होंने अबिका चक्रवर्ती से सलाह की। दोनों ने तय किया कि पोटाशियम साइनाइड नामक भयकर जहर खाकर वही सो जाया जाए। पुलिस वाले उनकी लाशें पाकर कुछ ठहरेंगे तब तक दूसरे क्रातिकारी निकल जाएगे। तदनुसार मास्टर दादा ने साथियो को आदेश दिया, "तुम लोग आगे बढो, हम यही रहेगे।"

साथी क्या करते, विदा होकर चले गए। थोड़ी देर मे ही दोनो बेहोश हो गए। पोटाशियम साइनाइड बहुत भयकर जहर होता है, खाते-खाते आदमी मर जाता है, पर वे बेहोश ही हुए थे। रात के अतिम पहर में पानी बरसा, तो उनको होश आया पर वे और भी कमजोर हो गए थे। चलने-फिरने में असमर्थ इस भयंकर जहर से बचे कैसे ! गणेश घोष ने इसकी यह व्याख्या की है कि जहर जेब में छोटी पुडिया मे था। शरीर की गर्मी से और पसीने से उसकी ताकत घट गयी थी। पता नही यह व्याख्या कहां तक विज्ञान की कसौटी पर ठहरेगी, यह जहर तो रोमकूप के रास्ते मार सकता था !

पुलिस दिन चढे वहां पहुची, और दोनो को पकड़कर ले गयी, पर देशप्रिय यतीन्द्रमोहन सेनगुप्त ने ऐसी वकालत की कि वे बेदाग छूट गए क्योंकि उनके पास कुछ भी नहीं निकला था।

क्रान्तिकारी अनन्तसिंह के नेतृत्व मे कुछ दूर जाकर तितर-बितर हो गए थे। अनंतसिंह कलकत्ते से गिरफ्तार करके लाए गए, पर सेनगुप्त की वकालत से वह भी छूट गए।

घर का भेदिया

एक उत्साही पुलिस अफसर ने क्रान्तिकारियों को काबू में लाने का यह उपाय किया कि एक क्रान्तिकारी से दोस्ती कर ली। उसने चाहा, उसके जरिये से दल को समाप्त किया जाए। पर मास्टर दादा को जल्दी ही उस घर के भेदिया का पता लग गया। उन्होंने उसपर जादू चलाया और उसीसे उस पुलिस अफसर की हत्या करा दी।

चटगांव क्रान्तिकारी दल के युवक हर तरीके से अपनेको क्रान्तिकारी दल के लिए तैयार कर रहे थे। घूसेबाजी, युद्धाभ्यास, तैराकी, सुपारी और नारियल के पेड़ों पर चढ़ने का प्रशिक्षण चालू था। बुजुर्ग होने के नाते अंबिका चक्रवर्ती इन सबसे बरी थे, स्वयं मास्टर दादा भी इन झगड़ों से बचते रहे। लड़कों ने मजाक में कहा, "मास्टर जी, ऐसी-वैसी परिस्थिति में आप कैसे भागोगे?"

उन्होंने कहा, "देखना, मैं कमजोर होते हुए भी मौके से खिसक जाऊंगा।" हुआ भी ऐसा ही।

पुलिस को चकमा

सन् 1924 के अक्तूबर महीने में सरकार ने क्रान्तिकारियों पर काबू पाने में असमर्थ होकर आर्डिनेंस जारी किया। 25 अक्तूबर को प्रातःकाल छापामार पुलिस ने कई सौ क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार कर लिया। उस दिन चटगांव में अंबिका चक्रवर्ती, अनंतसिंह, गणेश घोष, निर्मल सेन गिरफ्तार हो गये। मास्टर दादा उन दिनों कलकत्ते के शोभा बाजार के एक बड़े मकान में रहकर एक कमरे में बम का कारखाना खोले हुए थे। क्रान्तिकारी तो रहते ही थे, दूसरे लोग भी रहते थे। यह 10 नवम्बर, 1926 की बात थी, शाम को चार बजे मास्टर दादा ने देखा कि पुलिस वालों ने मकान को घेर लिया है। उन्होंने फौरन कपड़े फेंक दिये, एक किरायेदार की मैली फतूही और मैला अंगोछा पहन लिया। हाथ में एक केतली ले ली और नीचे उतर गए। फाटक पर पुलिस वाले ने रोका, "बाहर जाने का हुक्म नहीं अन्दर जाओ," पर वह बोले, "चाय लाने जा रहा हूं···" कहकर पैसे दिखाकर दांत निपोर दिये। फिर भी पछांह का सिपाही बोला, "चाय नहीं लाना है, अंदर जाओ।"

मास्टर दादा सकपका गये। इतने में बंगाली दारोगा बोल पड़ा, "नौकर है, जाने दो।"

मास्टर दादा ने बारी-बारी से झुककर दोनों को सलाम किया, दांत निपोरकर केतली लेकर नौ दो ग्यारह हो गये।

सच तो यह है कि बगाल की कांग्रेस बहुत कुछ एक क्रान्तिकारी संस्था थी। यहां किसी काग्रेसी नेता के लिए केवल अहिंसात्मक बना रहना सम्भव नही था। इसके पहले ही जब गोपीमोहन साहा ने एक अग्रेज को कलकत्ता में मार दिया था, तब उसे लेकर बगाल की काग्रेस ओर अखिल भारतीय कांग्रेस के बीच बहुत झगडा चला था। बगाल के शिराजगंज नामक स्थान मे एक प्रादेशिक सम्मेलन हुआ था, जिसमे यह प्रस्ताव पास किया गया था कि कांग्रेस गोपीमोहन साहा के साहस की प्रशसा करती है। इसपर गाधी जी के कान खडे हो गये और उन्होंने कहा कि यह प्रस्ताव कांग्रेस मे पास नही होना चाहिए था। पर बंगाल के नेता चित्तरजन दास ने कहा कि इससे कुछ आता-जाता नहीं है। तब इसके विरुद्ध अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी ने यह प्रस्ताव पास किया कि बगाल की कांग्रेस मे जो प्रस्ताव पास किया गया है वह ठीक नही है। फिर भी बगाल काग्रेस ने अपना प्रस्ताव वापस नही लिया था। इसी वातावरण मे कलकत्ता मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था और एक क्रान्तिकारी सुभाषचन्द्र बोस स्वयसेवको की शक्ति के सेनापति थे। ऐन कलकत्ता काग्रेस से पहले सूर्य सेन की पत्नी पुष्पकुंतला बहुत बीमार पड़ी। और कुछ ही अरसा बाद पुष्पकुतला की मृत्यु हुई। यह नारी जिंदगी-भर पतिसुख से वंचित रही क्योकि कहा गया है कि मास्टर दादा आनन्द मठ के सन्यासियो के आदर्श मे विश्वास रखते थे, जिसका मूलमत्र यह था कि एकसाथ दो प्यार नही चल सकते। हम यहा इस झगड़े में नही पड़ेंगे कि क्रान्तिकारी जीवन-सम्बन्धी यह धारणा कहा तक ठीक है क्योकि लेनिन क्रन्तिकारी थे, क्रुपस्काया से उनको लाभ ही रहा हानि नही। हमारे यहा भी गेंदालाल, भगवतीचरण, रोशनसिंह आदि कितने ही उदाहरण है।

अट्ठारहवा अध्याय

कलकत्ता कांग्रेस के बाद सूर्य सेन

सूर्य सेन ऊपर से तो कलकत्ता कांग्रेस में प्रतिनिधि बने रहे, पर भीतर ही भीतर वह समझ गए कि कांग्रेस जिस तरफ जाना चाहती है, उससे देश को स्वतंत्रता नही मिल सकती। इसलिए उन्होंने कलकत्ता में रहने का फायदा उठाकर पुराने क्रान्तिकारी नेताओं से भेंट करने के मौके निकाले। उन्होंने पुराने क्रान्तिकारियों से मिलकर यह नतीजा निकाला कि उनमे से कई तो बिल्कुल बुझ

चुके हैं, और उनके द्वारा आगे कोई काम होना सम्भव नहीं है। इसलिए उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि भले ही अकेले चलना पड़े, वह अकेले ही चलेंगे।

इस सकल्प के साथ वह चटगांव में लौट गए। वह चाहते थे कि पहले चटगाव मे सगठन तैयार किया जाए फिर दूसरी जगह सगठन तैयार हो। उन्होंने इसके लिए अपने मन में एक कल्पना रखी और वह कल्पना यह थी कि इण्डियन रिपब्लिकन आर्मी का सगठन किया जाए। अब उन्होंने अपनेको महज क्रान्तिकारी कहना छोड़कर सैनिक कहना शुरू किया और वह नौजवानों के मन में यह भावना भरने लगे कि बिना सैनिक साधनों के कोई सफल कार्य नहीं हो सकता। क्रान्तिकारी लोग सैनिक विषयों की पुस्तकें पढने लगे कि किस तरह से अच्छे सैनिक हो सकते हैं। मुझे इस संबंध मे स्वय यह पता है कि सूर्य सेन के शिष्य गणेश घोष जब बरेली जेल में थे और हमसे मिला करते थे, तो वह और उनके साथियों के पास गुरिल्ला युद्ध, छापामार युद्ध आदि विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें थी जिन्हें वह मुझे भी पढने के लिए दिया करते। यद्यपि मेरी रिहाई में अभी बहुत देर थी। गणेश घोष के बरेली जेल का ब्योरा 'They lived Dangerously' में लिपिबद्ध है।

कुछ भी हो, अब क्रान्तिकारी दल का उद्देश्य यह हो गया कि क्रान्तिकारी सैनिक पहले है फिर वह और कुछ। इसके अलावा उन्होंने यह भी तय कर लिया कि जैसे हमेशा होता रहा है कि क्रान्तिकारी दल शुरू से ही डकैतिया डालता है, नतीजा यह होता है कि डकैतियों के लिए उनपर मुकदमा चलता है और क्रान्तिकारी दल की सारी कर्मशक्ति उसमे खर्च हो जाती है, काकोरी षड्यंत्र मे बहुत कुछ ऐसा ही हुआ था और दूसरे षडयंत्रों मे भी यही हालत हुई थी, वैसा वह नही करेंगे। सूर्य सेन ने क्रान्तिकारी दल को इस कीचड से निकालना चाहा और इन्होने यह तय किया कि लोगों मे चदा इकट्ठा किया जाए। अवश्य यह चदा गुप्त होता था। लोग अपने घरो से रुपये देने लगे। क्रान्तिकारियों ने अपने घरों से रुपये दिए। इस प्रकार करीब 4 हजार रुपये इकट्ठे हुए।

सूर्य सेन ने कलकत्ता अधिवेशन से लौटकर अपने दल को एक सैनिक टुकडी के रूप में तैयार करना शुरू किया। इसीलिए वह अपने साथियों को सैनिक रूप से सोचने के लिए प्रेरित करते रहे। चटगाव का भूगोल क्या है, कहा-कहा छिपने की जगहे है, पहाड़ कहा, समुद्र कहां, घने जगल कहा है, यह सब जानना प्रत्येक क्रान्तिकारी का कर्त्तव्य हो गया। इसके साथ यह भी पता लगाया जाने लगा कि सरकार के पास कितने सैनिक इस इलाके में है, गोरो के क्लब मे कैसे क्या होता है। वहां कितने आदमी जाते है। तार और टेलीफोन की व्यवस्था क्या है, रेल की लाइनें कौन-सी हैं और कब कौन-सी गाड़ी जाती है। अनतसिह को व्यायाम केन्द्र का भार सौंपा गया। कांग्रेसी स्वयसेवकों की आड में क्रान्तिकारी सेना तैयार होने लगी।

सूर्य सेन के मन में जो योजना थी, उसे उन्होंने अपने साथियों को एकाएक नहीं बताया बल्कि एक प्रशिक्षण के रूप मे उन सारी बातों का पता लगाने के लिए लोगों से कहते रहे। क्रान्तिकारी युवक इससे बहुत खुश थे। वह साधारण रूप से समझ जाते कि क्या करना है। यह सही भी है कि क्रान्तिकारियों को बराबर दो मोर्चों पर लड़ाई लड़ना पड़ता है : एक मोर्चे पर तो सरकार के साथ और दूसरे मोर्चे पर अपने घर में पर कुछ क्षेत्रों मे इस बात की खबर मिलती है कि बहुत-से घरों मे माता-पिता भी अपने बेटों को क्रान्तिकारी बनाना चाहते थे। इस प्रकार मे गोर्की ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'मां' मे मां का जो चित्र खीचा है वह भारतीय क्रान्तिकारियों के लिए अपरिचित नहीं था। इस सम्बन्ध मे यथास्थान तथ्य दिए गए हैं।

चटगांव में गुप्त सम्मेलन

सन् 1929 की मई के मध्य में चटगाव में एक सम्मेलन बुलाया गया। युवा सम्मेलन के नेता थे अध्यापक ज्योतिषचन्द्र घोष, छात्र सम्मेलन अध्यक्ष हुए नृपेन्द्र बनर्जी और महिला सम्मेलन की अध्यक्षा बनी उन दिनों की मशहूर लतिका बसु। उसी अवसर पर सुभाषचन्द्र बोस भी पधारे। विशिष्ट लोगों की एक सभा बन्द कमरे में हुई। उसमे सुभाषचन्द्र ने खुलकर कहा कि उनका विश्वास अहिंसा मे कतई नहीं है, रहा यह कि ऊपर से अहिंसा का आवरण ठीक है। उस अवसर पर कुछ प्राचीरपत्र या पोस्टर लगाए गए थे, जिनमें युवा शक्ति को तरह-तरह से ललकारा गया था।

शायद इसके दो महीने बाद सारी तैयारिया कर लेने के बाद सूर्य सेन अपने साथियों को विशेष रूप से तैयार करने लगे, और यह बताया कि हमारी कोशिश यह है कि हम चटगांव जिले को, चाहे दो-तीन दिन के लिए ही हो, स्वतन्त्र कर लें। इसका दूसरों पर, विशेषकर जन आन्दोलन पर जो उस वक्त जारी होने को था, प्रभाव पड़ेगा। एक विशेष सभा बुलाई गई जिसमे क्रान्तिकारियों के सामने क्या कार्यक्रम है इसका खाका पेश किया गया। वह खाका इस प्रकार था : (1) सरकारी शस्त्रागार को लूटना, (2) रेल की आक्सीलियरी के शस्त्रागार को लूटना, (3) तार और टेलीफोन एक्सचेंज के दफ्तर पर आक्रमण कर नष्ट करना और उनका बाहर के साथ सम्बन्ध समाप्त कर देना, (4) गोरो के क्लब पर आक्रमण करना, (5) सरकारी खजाने पर आक्रमण करके खजाना अपने कब्जे मे करना, (6) जेलखानों पर आक्रमण करके कैदियों को छुडा लाना, (7) शहर में बन्दूकों की जो दुकानें है, उनपर कब्जा करके उनके अस्त्र-शस्त्र पर अधिकार करना, (8) ब्रिटिश युग के अनाचारी और अत्याचारी अफसरों को दड देना, (9) चटगाव में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना।

मृत्यु का कार्यक्रम

असली बात थी कि सूर्य सेन एक उदाहरण प्रस्तुत करके मशाल बनकर जलना चाहते थे। इस अभियान के अन्यतम नेता गणेश घोष की भाषा मे अन्त तक ले-देकर जो सबमे बड़ी बात सामने आई, वह यह कि इस प्रस्तावित सग्राम से अपनेको कुछ मिलना नही, अपनोंके हाथ कुछ नही लगेगा। भले ही हम चटगाव को स्वतन्त्र कर लें, भारत स्वतन्त्र नही होगा। वह हम सबके गुजर जाने के बाद ही स्वतन्त्र होगा। हमारा काम होगा क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना के बाद उसकी रक्षा करते हुए मिट जाना। इसी कारण इस कार्यक्रम को मृत्यु का कार्यक्रम (प्रोग्राम आफ डेथ) कहा गया था।

कार्यक्रम बन रहा था, साथ ही मौके की प्रतीक्षा थी। भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त तब केन्द्रीय असेंबली मे बम डालें कि उनका विस्फोट मजदूर विरोधी कानूनों के विरुद्ध वज्रघोष होकर इनक्लाब जिंदाबाद के नारे को राष्ट्रव्यापी करके समाजवाद का सिंहद्वार खोल दे। इस कारण सूर्य सेन भी जन आन्दोलन के साथ क्रान्ति अभियान को संयुक्त करने के लिए राजनैतिक आकाश पर कड़ी नजर डालकर बैठे थे। पर साथ ही कांग्रेस में काम चल रहा था। स्थानीय कांग्रेस के चुनाव मे सूर्य सेन दल की जीत हुई, इसपर विरोधी लाठी और छुरा लेकर दौड़े। एक ने सूर्य सेन के सिर पर लोहे की कुर्सी फेंककर मारी, जिससे काफी खून गया। इतने में स्वयंसेवक आ गए, तो गुंडे भाग गए। फिर भी वे घात मे रहे। स्वयसेवक बदला लेना चाहते थे, पर फटा सिर लेकर ही सूर्य सेन ने युवकों को समझाया, "याद रखो, ये हमारे शत्रु नही है, तुम लोग शान्त हो जाओ, पर सतर्क रहो।"

कुल 62 नौजवान सैनिक कार्य के लिए चुने गए। इन लोगों को इस अभियान में भाग लेना था। इनमे से अधिकांश स्कूल और कालेज के छात्र थे। सब लोगों ने बड़े चाव के साथ मास्टर दादा या सूर्य सेन को अपना सर्वाधिनायक चुना। इस अवसर पर सूर्य सेन ने जो भाषण दिया था उसका सार यह था कि मैं यह स्पष्ट रूप से घोषणा करता हूं कि हम सब भारतीय प्रजातान्त्रिक सेना की चटगांव शाखा के विश्वस्त सैनिक हैं। मैं यह प्रतिज्ञा करता हू कि इस सर्वाधिनायक के रूप में मैं उस दायित्व का पालन करूगा, जो तुम लोगो ने मुझे सौंपा है और जिसे प्राप्त करना मेरे जीवन का एकमात्र सकल्प है।

इस अवसर पर 6 टुकड़िया प्रस्तुत की गईं जिनके नेता 6 क्रान्तिकारी हुए। निर्मल सेन, लोकनाथ बल, अनन्तसिंह, गणेश घोष, अम्बिका चक्रवर्ती और उपेन्द्र भट्टाचार्य।

क्रान्तिकारियो के लिए विशेष सैनिक वर्दियां तैयार कराई गई थी। यह तय हुआ कि 18 अप्रैल, 1930 को हमला किया जाएगा। सर्वाधिनायक ने हर टुकड़ी

के नेता के साथ उस टुकड़ी के कार्यक्रम पर चर्चा की। यह निश्चित हुआ कि 9 बजकर 45 मिनट पर काम शुरू होगा। इससे पहले केवल वह टुकड़ी चली गई, जिसपर रेल लाइन को नष्ट करने का भार दिया गया था। पुलिस शस्त्रागार पर हमला करने का भार अनन्तसिंह और गणेश घोष को दिया गया था। इस दल को ले जाने के लिए मोटर के ड्राइवर स्वयं अनन्तसिंह बने थे।

आंखों देखा हाल

18 अप्रैल की रात को 9-30 बजे क्रान्तिकारी सेना ने सिर पर कफन बांधकर योजना को कार्यान्वित करने के लिए यात्रा की। उसका कुछ वर्णन उस अभियान में भाग लेने वाले आनन्दप्रसाद ने तैयार किया है। उनके बड़े भाई देवप्रसाद गुप्त की उम्र उन्नीस साल की थी और आनन्दप्रसाद की उम्र 16 साल की थी। दोनों भाइयों में से एक यानी देवप्रसाद गुप्त बाद को चटगांव शस्त्रागार काण्ड में गोलियों से शहीद हुए थे। आनन्दप्रसाद गुप्त को भी पांव में गोली लगी थी। वह पकड़ लिए गए थे और उन्हें आजन्म काले पानी की सजा मिली थी।

क्रान्तिकारी की मां

19 साल के देवप्रसाद और 16 साल के आनन्द ने अपनी मां से किस प्रकार विदा ली उसका वर्णन आनन्द से ही सुनिए, "18 अप्रैल की रात को लगभग 9-30 बजे भाई तथा मैं सैनिक वर्दी पहनकर मां से अन्तिम विदा लेने के लिए उनके पास पहुंचे। मां काफी दिनों से हमारे कार्यक्रम को ध्यान से देखती रहती थीं और उनकी समझ में यह बात आ गई थी कि हम कुछ भयानक कार्य करने की तैयारी कर रहे हैं। हमें भी यह अनुभव हो रहा था कि मां के नाते हमारे अनिश्चित भविष्य के बारे में वह कभी-कभी अत्यधिक चिन्ता किया करती थीं, पर हमारे किसी काम में उन्होंने कभी कोई बाधा नहीं डाली। हम उनको जब-तब क्रान्तिकारी पुस्तकें लाकर दिया करते, जिसे वह बड़े चाव से पढ़ा करती थीं। मां को यह गर्व था कि उनके लड़के किसी बुरी सोहबत में न रहकर सूर्य सेन, अनन्तसिंह और गणेश घोष जैसे आदर्शवादी देशभक्तों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। कभी-कभी हम दो-एक बन्दूकें आदि लेकर भी उनके पास जमा रखते थे। उन्होंने कभी भी आपत्ति नहीं की। हमारे मकान के बाहर कमरे में जब हम बम बनाने के लिए एसिड तैयार किया करते थे, तो उन्हें उसका पता होता था और स्वयं ही वह बार-बार मकान के सामने के रास्ते की ओर सतर्क दृष्टि रखा करती थीं। किसी अपरिचित व्यक्ति के दीख पड़ते ही वह हमें सतर्क कर दिया करती थीं। अन्तिम विदा लेते समय हम दोनों भाइयों ने मां के चरण छुए तो वह एकाएक विचलित हो गईं। उन्होंने कहा, 'मुझे ऐसा लग रहा है कि अब शायद

कभी तुम लोगों को वापस नही पाऊगी। फिर भी आशीर्वाद देती हूं कि तुम्हारा जीवन सार्थक हो।' कहते-कहते उनकी आखें भर गई और वह अधिक कुछ न कह सकीं। उधर समय निकट आ रहा था और अधिक देर तक रहना हमारे लिए सम्भव नहीं था। इसलिए एक प्रकार से जबरदस्ती हम लोग मा से विदा लेकर निकल पड़े।"

इससे यह प्रकट होता है कि किस प्रकार क्रान्तिकारियों ने अपने परिवारों को भी क्रान्तिकारी बना दिया था। यद्यपि इतिहास में उस मा का नाम नहीं आएगा, जिसने अपने दो बेटों को जान-बूझकर मृत्यु के द्वार पर भेज दिया, पर असल में क्रान्तिकारी आन्दोलन में ऐसे लोगों का बहुत बडा दान रहा है। क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में तथा अन्य साहित्य में इस प्रकार की माताओं और पिताओं आदि के कुछ परिचय है।

एक साथ हमला

यथासमय सब टुकड़ियां अपने-अपने काम पर चली। सध्या के बाद लोकनाथ बल ने एक टैक्सी किराये पर ली और फिर टैक्सी बहुत तेजी के साथ गाव की ओर दौड़ी। जब बिल्कुल सुनसान जगह आ गई तो टैक्सी के ड्राइवर से कहा गया कि जरा रोक लीजिए। ज्यों ही टैक्सी के ड्राइवर ने गाडी रोकी, त्यों ही जो क्रान्तिकारी उसकी बगल में बैठे थे, उन्होंने क्लोरोफार्म से भीगा रूमाल उसकी नाक पर रख दिया और वह बेहोश हो गया। उस बेहोश ड्राइवर को सडक के किनारे उतार दिया गया और मोटर लेकर क्रान्तिकारी शहर की ओर चले। इस प्रकार गणेश घोष और अनन्तसिंह भी एक टैक्सी पर चढ़े थे। उन लोगों ने भी एक टैक्सी ली। गणेश घोष ने पिस्तौल दिखाकर यह कहा कि जरा भी आवाज करोगे, तो मार डाले जाओगे। तुम्हे किसी प्रकार का नुकसान पहुचाने का इरादा नही है। कहकर उन लोगों ने उसके हाथ-पैर बाध दिए और एक मकान के अन्दर बन्द कर दिया। ड्राइवर से यह कहा कि शोरगुल नही मचाना, दरवाजे पर सशस्त्र सैनिक तैनात हैं। इस प्रकार से यह टुकड़ी भी मोटर लेकर चली गई।

गणेश घोष और अनन्तसिंह अपनी-अपनी कारों मे पुलिस शस्त्रागार के सामने पहुंच गए। यह शस्त्रागार बहुत सुन्दर जगह पर स्थित था। छोटी-सी एक पहाड़ी पर इसका भवन बना हुआ था। अनन्तसिंह के पीछे-पीछे सूर्य सेन भी गाड़ी लेकर आ गए। सब लोग अपनी गाड़ी से उतरे। अनन्तसिह और गणेश घोष भी उतरे। सब लोग सैनिक पोशाकों में थे और कमर मे पिस्तौलें लटकी हुई थी। चार पहरेदार खडे थे। उन्होंने देखा कि कोई अफसर उतरा है। बातचीत शुरू होने से पहले ही अनन्तसिंह ने एक पहरेदार को गोली मार दी और साथ ही अपने साथियो को भी आदेश दिया—"फायर" चारों पहरेदार वहीं पर सो गए। इसके

बाद दूसरे पहरेदार आए तो उनपर बम डाला गया। इतने में क्रान्तिकारी शस्त्रागार के अन्दर घुस चुके थे। सर्वाधिनायक सूर्य सेन भी आ गए और उनके साथ-साथ 30 और क्रान्तिकारी आए। उन लोगों के साथ हथौड़े तथा बक्स तोड़ने के अन्य सामान थे। उससे उन्होंने शस्त्रागार के बक्सों को तोड़ दिया और अब उनके कब्जे मे यथेष्ट अस्त्र-शस्त्र आ चुके थे। इसी प्रकार लोकनाथ बल ने अक्सीलरी सेना के शस्त्रागार पर हमला किया। वहां पर जो पहरेदार था, उसने पूछा, "कौन है? लोकनाथ बल ने उत्तर दिया, "मैं मित्र हू।" पर अभी आगे वह पहरेदार कुछ प्रश्न नही पूछ पाया था कि लोकनाथ बल ने गोली मार दी और साथ ही साथ हुक्म दिया, "फायर"।

जब गोली चलने की आवाज हुई और ऐसा मालूम हुआ कि कोई खतरा है तो शस्त्रागार के अंग्रेज अफसर, जो खाना खा चुके थे, बाहर निकले। जब उन्होंने देखा कि यह मामला है, तो दौड़कर भीतर पिस्तौल लेने गए। पर उन्हें भीतर जाने का मौका नही मिला। लोकनाथ बल ने उन्हें वही गोली से सुला दिया। दूसरी तरफ से तीन और अंग्रेज आए। वह मोटर पर आए थे पर जब क्रान्तिकारियों को रुद्र वेश मे देखा तो दूर से ही मोटर छोड़कर भाग गए। शस्त्रागार के दरवाजे को तोडने की चेष्टा हो रही थी, वह अभी टूट नही पाया था कि उधर से क्रान्तिकारियों पर हमला शुरू हो गया। तब इन लोगों ने शस्त्रागारों में आग लगा दी। इसके बाद बाहर जो अस्त्र-शस्त्र मिले, वे उन्हें लेकर चल पड़े। उधर अम्बिका चक्रवर्ती भी टेलीफोन एक्सचेंज खत्म करके मुख्यालय मे लौट आए।

इस प्रकार से सारा काम जहा तक हो सका कार्यक्रम के अनुसार पूरा हुआ। सब क्रान्तिकारी खुश होकर मुख्यालय मे लौटे और उन्होंने सैनिक तरीके से सूर्य सेन को गार्ड आफ आनर से सम्मानित किया।

गणेश घोष लिखते है कि फिर उत्साह बढ़ गया, तो रात को ही वहा के छोटे-से आगन में अवस्थित छोटे-से ध्वज दड मे तिरंगा फहराकर स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय झण्डे की सलामी मे बन्दूकें दागी गईं। उसके बाद उस झण्डे के नीचे खड़े होकर महानायक सूर्य सेन ने यह घोषणा की कि चटगाव की भूमि लगभग 200 वर्ष की गुलामी के बाद स्वतन्त्र हुई है और कुछ समय के लिए ही सही चटगाव मुक्त और स्वतन्त्र है। उन्होंने और भी कहा कि चटगांव विराट् विशाल भारत का एक क्षुद्र अश है, हमारी यह स्वतन्त्रता भी क्षणस्थायी है, फिर भी आज की यह घटना महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद मास्टर दादा ने भी घोषणा की कि अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की जाती है। एक क्रान्तिकारी ने इसपर यह प्रस्ताव रखा कि इस विद्रोह के सर्वाधिनायक और भारतीय क्रान्तिकारी आंदोलन के नेता सूर्य सेन को इस अस्थायी सरकार का राष्ट्रपति चुना जाए। सबने सानन्द इसका समर्थन किया। इसके बाद मास्टर दादा सूर्य सेन ने एक छोटे-से भाषण मे

इस अवसर का महत्त्व तथा मृत्यु के कार्यक्रम की व्याख्या करते हुए यह कहा कि साम्राज्यवाद के सुनिश्चित और आने वाले आक्रमण के विरुद्ध जनता हमारी मदद करे। उसी रात को मास्टर दादा यानी सभापति 'भारतीय गणतन्त्रीय वाहिनी' की ओर से पहले से छपी तीन विज्ञप्तियों में देश के लोगों से कहा गया कि वे इस सरकार का समर्थन करें। एक विज्ञप्ति में चटगांव के युवकों और छात्रों से कहा गया था कि वे इस गणवाहिनी में शामिल होकर उसे पुष्ट करें। दूसरी विज्ञप्ति में सरकारी अफसरों तथा देशद्रोही फिरंगियों को स्वतन्त्र सरकार के दफ्तर में हाजिर करने पर पुरस्कार दिए जाने की घोषणा थी।

इसके बाद मास्टर दादा के नेतृत्व में सारे सशस्त्र क्रांतिकारी पहाड़ों की ओर चले गये। इस बीच सरकार ने बंदरगाह के जहाजों से बेतार के जरिये शहर के विद्रोह की खबर भेजी कि अधिक फौज भेजो। मास्टर दादा ने अमरेन्द्र नंदी को शहर भेजा कि खबर लाये कि वहां क्या हालत है, पर वह लौट नहीं सके, क्योंकि वह रास्ते में पकड़ लिये गए। पर उन्होंने आत्महत्या कर वीरगति प्राप्त की।

पुलिस शस्त्रागार से जितने भी अस्त्र लाए जा सकते थे, चार मोटरों में लाए गए। इसके बाद सर्वाधिनायक ने यह आदेश दिया कि अब बाकी शस्त्रों में आग लगा दी जाए जिससे शत्रु उनका फायदा न उठा सकें। इस प्रकार से पुलिस शस्त्रागार में भी आग लगा दी गई।

उस रात को क्रांतिकारियों ने जब चारों तरफ से आक्रमण किया, तो चटगांव के अंग्रेजों में बहुत भय फैला और वे अपने घर छोड़कर बाल-बच्चों सहित कर्णफूली नदी के किनारे पहुंच गए। कम से कम वहां आग लगने का तो डर नहीं है। तब सूर्य सेन ने देखा कि शहर की तरफ जाते है तो उधर से लुईसगन से गोली चल रही है। बात यह है कि लुईसगन पर कब्जा नहीं किया गया था। यह स्पष्ट हो गया कि शत्रु पक्ष को मदद मिली है। कुछ क्रांतिकारी घायल भी हो चुके थे। उन्हें गुप्त स्थानों पर पहुंचाना था इसलिए कुछ लोग अलग हो गए। जब वे अपने घायल लोगों को पहुंचाकर वापस नहीं लौटे, तो सूर्यसेन चिंतित हो गए। उन्होंने यह समझ लिया कि शहर अपने लिए खतरनाक हो चुका है और वहां जाना उचित न होगा। इसलिए यह तय हुआ कि रात-भर के लिए पहाड़ी पर आश्रय लिया जाए। बाद को जैसी परिस्थिति होगी वैसा किया जाएगा।

क्रांतिकारियों ने, जहां तक शत्रु पर आक्रमण करने और उसके शस्त्रों पर कब्जा करने का सम्बन्ध है, पूरी तैयारी की थी, पर उन्होंने एक भारी गलती की थी कि रसद की कोई तैयारी नहीं थी और फौज के सम्बन्ध में मशहूर है कि फौज पेट के बल चलती है। भयंकर परिश्रम के कारण उनको बहुत तेज भूख लगी थी, पर वहां खाने-पीने के लिए कुछ भी नहीं था। सब साथी भूखे-प्यासे परेशान

हो रहे थे। खैरियत यह थी कि क्रांतिकारियों का असर गांव वालों पर था। इसलिए अंबिका चक्रवर्ती पैदल गांव की ओर चले और उन्होंने एक गांव में जाकर बहुत मुश्किल से खिचड़ी की एक हंडिया प्राप्त की और उसीको सब लोगों ने बांटकर खाया।

क्रांतिकारी रेंगते-रेंगते छिपते जलालाबाद की पहाड़ी पर पहुंच गए। पुलिस को यह बात मालूम हो चुकी थी। वहां से शहर तीन मील दूर था। इस बीच शहर में तहलका मच गया था और किसी भी प्रकार क्रांतिकारियों को पकड़ने की बात होने लगी थी। फौरन ही यह घोषणा की गई कि जो लोग इन क्रांतिकारियों को गिरफ्तार करा देंगे उन्हें पांच हजार रुपये पुरस्कार में मिलेंगे। चारों तरफ इसकी खबर भेज दी गई। हवाई जहाजों से सैनिक भी बुलाए गए। जब सूर्य सेन ने पहाड़ी पर चारों तरफ की स्थिति को देखा, तो वह समझ गए कि यहां से निकल भागने का कोई रास्ता नहीं है क्योंकि चारों तरफ से सेनाओं ने क्रांतिकारियों को घेर लिया था। तब नेता ने अपने सैनिकों से यह कहा कि अब हमारे सामने एक ही मार्ग है और वह है युद्ध का मार्ग।

शहीदी जत्था के बलिदान

लड़ाई चल रही थी कि हरिगोपाल लाल को गोली लगी। उन्होंने भाई लोकनाथ बल से कहा, "सोना भाई, सोना भाई, मुझसे अब नहीं चलता।" (आर जे पारछिना) तो लोकनाथ बल ने कहा, "नेवर माइण्ड, डाई लाइक ए रिवोल्यूशनरी।" फौरन ही हरिगोपाल के सीने में दूसरी गोली लगी, और वह वहीं चिरनिद्रा में सो गये। इस प्रकार हरिगोपाल लाल जलालाबाद के प्रथम शहीद हुए। इसके बाद एक-एक करके नरेश राय, विधु भट्टाचार्य, त्रिपुर सेन, प्रभास बल, पुलिन घोष, शशांक दत्त, निर्मलसेन, जितेन दास, मधुसूदन दत्त, मोती कानूनगो शहीद हो गए। अर्धेन्दु दस्तिदार बुरी तरह घायल हो गए। अंबिका चक्रवर्ती के सिर में गोली लगी। विनोद दत्त के दाहिने कंधे को गोली छील गई। वह बेहोश हो गए पर कुछ देर बाद होश आ गया। बाद को उन्होंने बताया जैसे एक बर्फ का टुकड़ा शरीर में घुस गया। होश आने पर जब खून की धारा जमी देखी तभी पता लगा कि क्या हुआ था। जब होश आया तो निर्मल दादा ने विनोदबिहारी दत्त को एक राइफल थमा दी और कहा, "बायें हाथ से गोली चलाओ।" तब वह बायें हाथ से गोलियां दागने लगे। दाहिने कंधे का घाव उसी तरह रहा।

सूर्य अस्ताचलगामी हो रहे थे। पर गोलियां दग रही थीं। निर्मल सेन पीछे से राइफलें साफ कर गोलियां भर रहे थे। मास्टर दादा रेंगकर सबको, जिसको जो कुछ चाहिए, दे रहे थे। निर्मल सेन मास्टर दादा के बाडीगार्ड के रूप में छाया की तरह रहते थे। इस भयानक परिस्थिति में भी वह अपने काम में लगे थे। जो

राइफल बेकार होती, उसे निर्मल दादा फौरन ठीक कर देते, साफ कर देते, गोलिया भर देते। इस प्रकार लोकनाथ बल के नेतृत्व में चार घंटे तक लड़ाई होती रही। नतीजा यह कि रात उतर आई और रात का फायदा उठाकर बाकी क्रांतिकारी एक-एक, दो-दो करके खिसक गए ताकि फिर दूसरे मोर्चो पर लड़ाई जारी रख सकें। इस प्रकार चले जाने से पहले मास्टर दादा ने हर शहीद को अच्छी तरह देखा-परखा कि कही प्राण बाकी तो नही। अंबिका दादा ने कहा, "मेरा वक्त आ गया, तुम लोग निरापद स्थान मे चले जाओ।" कहकर उन्होंने सारे कागजात रुपये-पैसे दे दिये। लोकनाथ बल, चौधरी और दूसरे हाथ से विनोद दत्त को सहारा देकर पहाडी रास्ते पर चलने लगे। लोकनाथ बल की टुकडी आगे निकल गई। मास्टर दादा घायलो को लेकर धीरे-धीरे चल रहे थे। लोकनाथ निकल गए, पर मास्टर दादा घायलों के साथ एक दूसरी पहाडी तक पहुच पाए। सवेरा होते ही फौजी गोलिया चालू हुई। पर ये चुप रहे। तीन बजे गोलियां फिर चली। ये चुप रहे। दिन-भर कडी धूप मे बिना पानी, बिना चिकित्सा बीत गया। जब फिर रात उतरी तो मास्टर दादा घायलो के साथ फिर चल पडे। उसी समय रेल लाइन मिल गई तो मास्टर दादा ने विनोदबिहारी दत्त को एक तमचा देकर विदा कर दिया, एक आदमी के साथ।

मास्टर दादा की टुकड़ी और लोकनाथ बल की टुकडी अलग-अलग रास्तों से विजय सेन के घर पर पहुची। अन्त तक 11 क्रांतिकारी खेत रहे। कुछ क्रांतिकारी घायल हो गये। उनके लिए चलना मुश्किल हो गया। पर जलालाबाद की क्रांतिकारी टुकड़ी को यह गौरव प्राप्त रहा कि सरकार सिवा एक क्रांतिकारी अर्धेन्दु दस्तिदार के और किसीको गिरफ्तार नही कर सकी। बाकी लोग या तो शहीद हो गये या भाग गये।

कहना न होगा कि अर्धेन्दु दस्तिदार पर बहुत अत्याचार हुआ, पर उस वीर युवक ने कुछ बताने से इंकार किया। उनपर इतना अत्याचार किया गया कि वह उसीमे शहीद हो गए।

एक सौ साठ ब्रिटिश सैनिक मरे

जलालाबाद युद्ध क्रांतिकारी इतिहास की एक बहुत बडी घटना है। जब गणेश घोष बाद को पकड़े गए तो वड़े साहब टेगर्ट ने क्रोध में आकर कहा था कि तुम लोगों ने 64 आदमियों की जान ली है। पर अनुमान ऐसा है कि सरकारी पक्ष के 160 सैनिक या पुलिस वाले क्रांतिकारियो के हाथो मारे गए थे।

सूर्य सेन ने देखा कि अब कुछ नही हो सकता, तो वह किसी समय मौका देखकर भाग निकले। जाते समय उन्होने अपने साथियो से यह कहा कि आज हम लोग पराजित हो गए, पर जब तक हम जीवित रहेंगे तब तक बराबर

अंग्रेज सेना को गुरिल्ला युद्ध से परेशान करते रहेंगे। अनन्तसिंह और गणेश घोष पहले ही भाग चुके थे।

जब ये घटनाएं हो गईं, तो सारे चटगाव में सैनिक कानून लागू कर दिया गया। असल मे कोई भी कानून नही रहा, पुलिस को सर्वाधिकार मिल गये और वह जहा चाहे वहा तलाशी ले सकती थी तथा हर नौजवान के लिए चलना-फिरना एक मुसीबत हो गया। अनन्तसिंह छिपे हुए थे। उन्होने देखा कि लोगो पर अत्याचार हो रहे है और मैं बैठा हुआ हूं तो उन्होंने अपनेको गिरफ्तार करा दिया। पुलिस ने अनन्तसिंह को तो गिरफ्तार कर लिया, पर बाकी लोगो का कुछ पता नही लगा और थोड़े ही दिनों में पुलिस को यह पता लग गया कि क्रांतिकारी चटगांव छोड़कर चले गए है और इस समय बगाल के विभिन्न जिलों में फैले हुए है।

फ्रांसीसी इलाके में अंग्रेज पुलिस

तभी एक बार खबर पाकर कलकत्ता पुलिस ने फ्रासीसी चन्दन नगर के एक मकान को घेर लिया। इसका नेतृत्व सर चार्ल्स टेगर्ट कर रहे थे। क्रांतिकारियों के वह सबसे बडे दुश्मन थे, उन्होंने क्रान्तिकारियों के विषय मे एक तरह से विशेष शोध किया था। वह पहले आयरलैंड के क्रांतिकारियों के विरुद्ध लड चुके थे। उनपर क्रातिकारियों ने पहले भी कई बार हमला किया था, पर वे उसे मार नही सके थे। गोपीमोहन साहा सर चार्ल्स टेगर्ट को मारने गए थे, पर वह गलती से डे नामक एक अंग्रेज व्यापारी को मार चुके थे। चंदननगर के जिस मकान को पुलिस ने घेर लिया, उसमे चटगांव के नेताओ मे लोकनाथ बल तथा कुछ क्रातिकारी छिपे हुए थे। जब क्रातिकारियो ने देखा कि अब हम भाग नही सकते तो उन्होंने गोलिया चलानी शुरू कर दी। दोनों तरफ से गोलिया चली, पर अन्त में क्रातिकारियों की गोलियां खत्म हो गई। तब वे मजबूरी मे गिरफ्तार हो गए।

इस प्रकार चटगाव के भागे हुए क्रातिकारियों में से कुछ लोग पुलिस के हाथ लग गए। पर पुलिस इससे संतुष्ट नही हुई, क्योंकि जब तक सूर्य सेन गिरफ्तार नही होते, तब तक वे समझते थे कि हमारा कार्य सफल नही हुआ।

चटगांव के नागरिकों और विशेषकर युवको पर अत्याचार जारी रहा।

उन दिनो प्रदेश काग्रेस के नेता यतीन्द्रमोहन सेनगुप्त और अध्यापक नृपेन्द्रचन्द्र ने अत्याचारों की जांच पर एक कमीशन बैठाया। यतीन्द्र मोहन ने इन अत्याचारों के लैंटर्न स्लाइड तैयार किए और इंग्लैंड मे जाकर अंग्रेज जनता को और ब्रिटेन की ससद के सदस्यों को दिखाए।

इन्ही दिनो की घटना है कि 2 मार्च, 1932 को चटगांव शस्त्रागार काड के प्रथम मुकदमे का फैसला सुनाया गया। इसमें बारह क्रान्तिकारियों को आजन्म

काले पानी की सजा हुई, जिनके नाम इस प्रकार है—अनतसिंह, गणेश घोष, लोकनाथ बल, सुखेन्द्र दस्तिदार, लालमोहन सेन, आनद गुप्त, फणीन्द्र नदी, फकीर सेन, सुबोध राय, रणधीर दासगुप्त। नदसिंह को दो साल और अनिलदासगुप्त को तीन साल बोरस्टल की सजा हुई, बाकी 16 व्यक्ति छोड़ दिए गए।

प्रीतिलता की शहादत

12 जून, 1932 को मास्टर दादा निर्मल सेन को साथ लेकर घेलवाट नामक गाव के एक मे घर मे प्रीतिलता नामक एक क्रान्तिकारिणी से मिलने गए। अब उनका ध्यान इस ओर गया कि स्त्रियों को आगे करना चाहिए ताकि युवकों को जोश आए। पर 13 जून को पुलिस और फौज ने उस घर पर हमला बोल दिया। दोनों तरफ से गोलियां चली। एक फौजी मारा गया। पर निर्मल सेन और अपूर्व सेन भी वही शहीद हो गए। मास्टर दादा प्रीतिलता को लेकर फौजी व्यूह को भेद कर भाग गए।

उन्हीके प्रभाव मे प्रीतिलता वादेदार ने गोरों के क्लब पर आक्रमण किया और इस क्रान्तिकारिणी के अधीन सात अन्य क्रातिकारी भी काम कर रहे थे। एक गोरा जान से मारा गया और कुछ गोरे घायल हुए थे। प्रीतिलता वादेदार वही पर जहर खाकर शहीद हो गई। यह घटना 24 सितम्बर, 1932 की है। प्रीतिलता के पास एक बयान मिला जिसमे देश की स्त्रियो को साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठ खडे होने के लिए कहा गया था।

जब सूर्य सेन ने प्रीतिलता की शहादत की खबर सुनी, तो एक तरफ तो उनका सीना गर्व से ऊंचा हो गया और दूसरी तरफ वह बालक की तरह विह्वल हो गए और उनकी आंखो मे आसू जारी हो गए। उन्होने यह सोचा कि हजारो वर्षों से दबायी हुई भारतीय स्त्री को यह गौरव प्राप्त हुआ कि वह शहीद हो और अपनेको देश के काम में उत्सर्ग कर दे।

10 फरवरी, 1933 को दूसरे चटगाव शस्त्रागार का फैसला सुनाया गया जिसमें अंबिका चक्रवर्ती को फांसी की सजा सुनाई गई, जो अपील मे आजन्म काले पानी की रह गई। सूर्य सेन ने आसू पोछ लिए और फिर वह भी अपने काम मे लग गए।

सन् 1933 की फरवरी की घटना है। उन्हे कल्पना दत्त नाम से एक क्रान्तिकारिणी मिली जिसपर वह उतना ही विश्वास करते थे, जितना प्रीतिलता पर करते थे। एक स्त्री के साथ होने से चलने-फिरने में भी आसानी होती थी, क्योंकि यह समझ लिया जाता था कि यह साधारण व्यक्ति है। वह कल्पना दत्त के साथ कही जा रहे थे, इतने मे देखा कि दोनो तरफ से गोलिया चल रही है। इससे वह समझ गए कि पुलिस उनकी खबर पा चुकी है। इसलिए वह पेडो की

आड़ में आ गए और वहां से रेंगते और छिपते हुए एक तालाब में पहुंचे और वहां सिर बाहर निकालकर डूबे रहे। यों इसमे वह बच पाते, पर एक 'भक्त' उनके पीछे था और उसने पुलिस वालो को यह बता दिया कि कहा पर महान क्रान्तिकारी सूर्य सेन छिपे हुए हैं। नतीजा यह हुआ कि सूर्य सेन गिरफ्तार हो गए। उनके गिरफ्तार होते ही सारे पुलिस विभाग मे बड़ी खुशिया मनाई गई। सरकार चाहती थी कि जल्दी से जल्दी इस व्यक्ति को फांसी दे दी जाए। पुलिस को यह डर था कि उनके चेले उन्हे जेल से भगाने की कोशिश करेंगे। इसलिए मुकदमा जल्दी-जल्दी हुआ और सूर्य सेन तथा तारेकश्वर को फांसी की सजा हुई और कल्पना दत्त (बाद मे जोशी) को आजन्म काले पानी की सजा हुई।

सूर्य सेन को फासी देने के लिए चटगांव जेल मे लाया गया और वहां उन्हे कुछ दिनों तक अपील आदि के लिए फांसी घर मे रुके रहना पड़ा। सूर्य सेन ने जेल अधिकारियो से कहा कि मुझे इस प्रकार रखा गया कि कोई किताब भी नही दी जाती, मुझे सरकार की तरफ से किताबें दी जानी चाहिए। सरकार, पुलिस और जेल वालो ने यह बात नही मानी पर बाद को उन्हे एक रामायण दी गई।

सूर्य सेन की गिरफ्तारी से पुलिस वालों ने यह जो धारणा बनाई कि अब सब क्रान्तिकारी गिरफ्तार हो चुके है, अब कुछ खतरे की बात नही है, यह धारणा गलत साबित हुई। कल्पना दत्त और तारकेश्वर ने खुलकर युद्ध किया था और सूर्य सेन ने अत तक लड़ाई जारी रखी थी। इन बातो की खबर उनके बाहर के साथियों को अच्छी तरह लग चुकी थी। और यह भी पता लग चुका था कि जेल के अधिकारी उनके साथ शराफत का व्यवहार नही कर रहे। इसीलिए क्रांतिकारियो ने यह निश्चय किया कि यदि भारतीयो पर आतंकवाद रहा तो गोरों पर भी आतंकवाद चलना चाहिए। पलटन वालों के मैदान में अंग्रेज लोग क्रिकेट का खेल देख रहे थे और अंग्रेज ही क्रिकेट खेल रहे थे। इस अवसर पर चार नवयुवक आए और उन्होने आकर भयंकर रूप से उन गोरो पर आक्रमण कर दिया। यह 12 जनवरी, 1934 की बात है। चारों नवयुवकों ने जितने लोगो को मारते बना मार डाला और वे स्वयं वही मर गए। सन् 1934 के 12 जनवरी को सूर्य सेन और तारकेश्वर को फांसी दे दी गई। उन्होंने बहुत खुशी के साथ वंदेमातरम् की ध्वनि करते हुए फांसी की सजा ग्रहण की। उनकी वह ध्वनि जेल के अन्दर दूसरे क्रांतिकारियों तक पहुंची और उन लोगों ने भी वन्देमातरम् के जवाब में वन्देमातरम् कहा और यह सारी ध्वनि मिलकर बाहर पहुंची।

जनता ने सन् 1930 में सूर्य सेन का पथ नहीं अपनाया, पर वह एक अमिट असर छोड़ गया, जो 1942 ई० में प्रकट हुआ।

उन्नीसवां अध्याय

फिर एक बार विश्वासघात

गांधी जी ने 1930 के आन्दोलन का अन्त मधुरभाषी लार्ड इर्विन के झांसे में आकर किया। यह पैक्ट बिलकुल ईमानदारी का नहीं था। यहां गांधीवाद को समझें। होना तो यह चाहिए था कि पैक्ट के अनुसार सब राजनैतिक कैदी छूटे, पर इर्विन की (जो हिंसा का सबसे बड़ा प्रतीक था) चिकनी-चुपडी बातों में आकर गांधी जी केवल नमक सत्याग्रहियों को छुड़ाकर सन्तुष्ट हो गए। उस समय भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु फांसीघर में बन्द थे। बंगाल में भी कुछ क्रांतिकारी फांसीघर में थे। फांसीघरों में बन्द लोगों के अलावा कई षड्यन्त्र के मुकदमे चालू थे। दिल्ली षड्यन्त्र सन् 1931 में चला। उसमें नन्दकिशोर निगम, धन्वन्तरी, सच्चिदानन्द वात्स्यायन, वैशम्पायन, विमल प्रसाद आदि फांसे गए थे।

भगतसिंह के लिए गांधी जी ने क्या किया

भगतसिंह और उनके साथी सुखदेव एवं राजगुरु को फांसी की सजा से मुक्त कराने के लिए एक अभूतपूर्व देशव्यापी आंदोलन हुआ था, तो भी गांधी जी ने लाहौर षड्यन्त्र के क्रांतिकारी कैदियों के पक्ष में कभी कोई बयान भी नहीं दिया।

गांधी जी ने 4 मार्च, 1931 को तत्कालीन वायसराय लार्ड इर्विन के साथ एक समझौता किया था, जो 'गांधी-इर्विन समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते से पहले जब गांधी जी वायसराय से बातचीत करने जा रहे थे, तो कांग्रेस की युवा पीढ़ी ने उनपर भगतसिंह को फांसी से बचाने का दबाव डाला था।

मार्च, 1931 के अन्त में 'कराची में कांग्रेस का महा अधिवेशन हुआ था। गांधी जी के कराची पहुंचने पर एक विशाल जनसमुदाय ने काले झंडों से उनका 'स्वागत' किया, क्योंकि लोगों को यह विश्वास था कि गांधी जी ने 'गांधी-इर्विन समझौता' के समय भगतसिंह को फांसी से बचाने का कोई प्रयास नहीं किया। इस सम्बन्ध में सच्चाई क्या है?

गांधी जी की जीवनी के लेखक श्री तेन्दुलकर के अनुसार, "गांधी जी ने इस अवसर पर कहा : 'मैंने जहां तक भी मुझसे बन पड़ा, वायसराय पर इसके

लिए जोर डाला। मैंने उसपर अपने तर्कों का सारा जोर लगा दिया।' 'कांग्रेस का इतिहास' के लेखक और प्रसिद्ध गाधीवादी डा० पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार —'किसी भी हालत मे लार्ड इर्विन इस मामले मे कुछ नही कर सके, पर वह इस बात के लिए तैयार थे कि कराची मे कांग्रेस निबट जाने तक फांसी स्थगित रखी जाए। कराची अधिवेशन मार्च के अन्तिम सप्ताह मे होने वाला था। इसलिए गांधी जी ने निश्चित रूप से यह कहा कि यदि लड़कों को फांसी लगनी है, तो कांग्रेस अधिवेशन के पहले फासी दे दी जाए। इस प्रकार देश के सामने स्थिति स्पष्ट हो जाएगी और लोगो के दिलो में कोई झूठी आशा नही रहेगी। गांधी-इर्विन समझौता अपने गुण-दोषो के कारण पारित होगा या गिर जाएगा और काग्रेस के सामने यह तथ्य होगा कि तीन लड़को को फांसी हुई है।'

"भगतसिंह की फासी के कई दशक बाद लार्ड इर्विन, बाद को लार्ड हालीफ ने अपनी जीवनी मे लिखा है, 'मिस्टर गांधी ने कहा कि यदि मै इस सम्बन्ध मे कुछ न करू, तो हम लोगों मे जो समझौता हुआ है, वह नष्ट हो जाएगा। इसपर मैंने कहा कि इसका मुझे उनसे ज्यादा दुख होगा। परन्तु मैंने स्पष्ट कर दिया कि इस सम्बन्ध में केवल तीन विकल्प है—पहला यह कि कुछ न किया जाए और फांसी होने दी जाए, दूसरा यह कि आज्ञा बदल दी जाए और भगतसिंह की सजा घटा दी जाए, और तीसरा यह कि कांग्रेस अधिवेशन तक इस सम्बन्ध मे कोई फैसला न किया जाए। मैंने उनसे कहा कि आप मानेंगे कि मेरे दृष्टिकोण से भगतसिंह को छूट देना असंभव है। फैसले को स्थगित करना और लोगों को यह सोचने देना कि छूट की सभावना है, धोखा देना होगा और ईमानदारी की बात न होगी। इसलिए रह जाता है पहला विकल्प चाहे वह कितना ही बुरा हो। गाधी जी ने मुझसे कहा कि यदि भगतसिंह को फांसी हुई, तो इस बात की सभावना है कि वह एक राष्ट्रीय शहीद हो जाएगा और वातावरण भयंकर रूप से क्षुब्ध हो जाएगा।'

"अन्त मे फिर यह उल्लेखनीय है, 'गांधी जी ने मुझसे पूछा कि यदि मैं कहूं कि मैंने उस युवक के प्राण बचाने के लिए यथासाध्य प्रयास किया, तो क्या आपको आपत्ति होगी? इसपर मैंने कहा कि मुझे कोई आपत्ति नही होगी। मैंने यह भी कहा कि वह यह भी कह दें कि मेरे दृष्टिकोण से और कोई विकल्प हो ही नहीं सकता। वह थोड़ी देर तक सोचते रहे और अन्त मे राजी हुए और उसी आधार पर कराची मे इसके लिए उनकी अच्छी खबर ली गई। पर जब उन्हे सोचने का मौका मिला, तो उन्होंने वे ही बातें कही, जो हम लोगो की बातचीत में हुई थी।'"

इस सम्बन्ध मे राष्ट्रीय सग्रहालय में जो कागजात रखे हुए हैं, वे क्या कहते हैं? इनके अनुसार 18 फरवरी और 19 मार्च को अर्थात् दो दिन गांधी जी ने भगतसिंह पर बातचीत की। लार्ड इर्विन ने गाधी जी से बातचीत का जो ब्योरा

सरकारी फाइल में पेश किया, अब उसे देखिए।

लार्ड इर्विन के रोजनामचे में लिखा है - "दिल्ली में जो समझौता हुआ, उससे अलग और अन्त में मिस्टर गांधी ने भगतसिंह का उल्लेख किया। उन्होंने फासी की सजा रद्द कराने के लिए कोई पैरवी नही की, पर साथ ही उन्होंने वर्तमान परिस्थितियों में फांसी को स्थगित करने के विषय में कुछ भी नही कहा।"

(फाइल न० 5—45/1931, के-डब्ल्यू-2, गृह विभाग, राजनीतिक शाखा)

अन्तिम वार 19 मार्च को भगतसिंह पर बात हुई। इर्विन ने अपने रोजनामचे में लिखा : "जब मिस्टर गाधी जाने को ही थे, तो उन्होंने मुझसे पूछा कि उन्होंने अखबारों में 23 तारीख को भगतसिंह को फांसी देने की वात पढ़ी है, क्या वे इस सबंध मे कुछ कह सकते है ? उनका कहना था कि यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा, क्योंकि कराची मे उस दिन कांग्रेस के नये अध्यक्ष पहुचने वाले थे, और उस दिन जनता बहुत जोश में होगी, लेकिन मेरा विवेक मुझे यह अनुमति नही देता कि मैं सजा को घटा दू। मुझे ऐसा लगा कि उन्होंने मेरे तर्क को मान लिया और उन्होंने मुझसे कुछ नही कहा।" (वही)

20 मार्च को गाधी जी वायसराय की कौंसिल के गृह सदस्य हर्बर्ट इमरसन से मिले। इमरसन ने रोजनामचे मे लिखा है, "मिस्टर गाधी इस मामले में अधिक संपृक्त (कसर्ड) नही मालूम हुए। मैंने उनसे यह कहा कि यदि फासी के फलस्वरूप व्यवस्था नही हुई, तो यह बड़ी बात होगी। मैंने उनसे कहा कि वह कुछ करें ताकि अगले दिन सभाए न हों, और लोगों के उग्र व्याख्यानो को भी रोकें। इसपर उन्होंने स्वीकृति दे दी और कहा—'जो भी मुझसे हो सकेगा, करूगा।"

(फाइल न० 23-1/1931, गृह विभाग, राजनीतिक शाखा)

अन्त में इमरसन के नाम गाधी जी के पत्र देखिए :

1, दरियागज, दिल्ली
20, मार्च 1931

प्रियवर इमरसन,

अभी-अभी जो आपका पत्र मिला, उसके लिए धन्यवाद ! आप जिस सभा का उल्लेख कर रहे हैं, उसका मुझे पता है। मैंने हर एहतियात ले ली है, और आशा करनी चाहिए कि कोई गडबड नही होगी। मैं सुझाव देता हूं कि पुलिस दल का कोई दिखावा न किया जाए और सभा में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। रही परेशानी, सो तो होगी। इस परेशानी को सभाओं के जरिये से निकाल देना उचित होगा।

भवदीय—एम० के० गांधी

(फाइल नं० 4-21/1931, गृह विभाग, राजनीतिक शाखा)

'इस प्रकार कुल मिलाकर जो तथ्य सामने आते हैं, वे साबित करते है कि गाधी जी ने भगतसिंह की फांसी रद्द कराने की बात को गाधी-इर्विन समझौते का मुद्दा नही बनाया। केवल व्यक्तिगत स्तर पर कुछ बातें की। यदि गांधी जी भगतसिंह को फांसी से नही बचा सकते थे, तो भगतसिंह की शहादत से उत्पन्न अव्यवस्था से बचाने मे ब्रिटिश साम्राज्यशाही के सलाहकार की भूमिका निभाने की उन्हे क्या जरूरत थी? इतना ही नही गाधी जी ने कराची के अधिवेशन मे उस प्रस्ताव का खुलेआम विरोध किया और उसे पास नही होने दिया जो ऐसा बर्बर हत्याकांड करने के लिए अंग्रेजों की निंदा और इन वीरों की शहादत का अभिनन्दन करने के लिए लाया गया था, जबकि काफी बड़ी संख्या में लोग इस अधिवेशन में सीने पर मातम के काले चिह्न लगाकर शामिल हुए थे।"

(क्रांतिदूत भगतसिंह और उनका युग)

अहिंसा के प्रतीक चन्दनसिंह

गाधी जी ने भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु को नही छुडाया और उन्हें 23 मार्च को फासी हो गई, यह तो एक हद तक समझ में आता है। पर उन्होंने अहिंसा के कारण जान को जोखिम में डालने वाले चंदनसिंह गढवाली को नहीं छुडाया, बल्कि शर्तनामे में लिखकर मान लिया कि ऐसे लोगों को छोड़ा नही जाएगा। इसका कलंक महात्मा के माथे पर से कोई नही मिटा सकता। पाठकों को याद दिलाया जाए कि हवलदार चंदनसिंह ने पेशावर मे निहत्थी भीड पर गोलिया चलाने से इन्कार कर अपने तथा अपनी टुकड़ी के लिए गोलियों से उड़ा दिए जाने का खतरा उठाकर अहिंसा के लिए अपना सिर ओखली में डालकर सर्वोच्च देश-भक्ति का परिचय दिया था। सबसे शर्म की बात तो यह है कि गाधी-इर्विन समझौते की धारा 13 की एक उपधारा में यह लिखा गया :

"जो थोडे से सैनिक या पुलिस वाले हुकमउदूली के लिए दंडित हो चुके हैं, वे इस आम मुआफी का लाभ पाने के हकदार नही होंगे।"

गांधीवादी प्रचारकों से इतिहास हमेशा यह जवाब तलब करेगा कि गांधी ने ऐसा क्यों किया जबकि सिद्धान्त का तकाजा कुछ और था। स्पष्ट है कि गाधी ने मसल्हत के कारण सिद्धान्त को तिलांजलि दे दी; जैसा वह बोअर युद्ध और प्रथम महायुद्ध (1914-18) मे कर चुके थे। गाधी का यह सिद्धांतहनन जघन्यतर इस कारण हो जाता है कि आयरलैंड मे इसी ब्रिटिश सरकार ने समझौते के अनुसार फासीघर मे बन्द क्रांतिकारियों को छोड़ने की शर्त मान ली थी। गांधी भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु की फांसी-बन्दी की शर्त रखकर समझौते में कितनी सच्चाई थी, इसे नाप सकते थे।

विश्वासघात का प्रतिफल

महात्मा ने समझौता तो कर लिया, पर वह टिका नहीं क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने ईमानदारी से समझौता नहीं किया था। वह तो महज चाहती थी कि क्रांतिकारी स्थिति टल जाए। लार्ड इर्विन महात्मा को पोट-पाटकर 18 अप्रैल को भारत से चले गए। लार्ड विलिंगडन ने 17 अप्रैल को पद सभाल लिया था। पर सीतारमैया के अनुसार जुलाई के पहले सप्ताह तक महात्मा को यह संशय होने लगा था कि समझौता टूट रहा है। इस प्रकार गांधी जी ने दोबारा क्रांति के साथ विश्वासघात किया क्योंकि यदि वह लार्ड इर्विन की वार्ता में न आते, तो आंदोलन विकराल रूप धारण कर क्रांति की ओर लपटें फेंकता हुआ बढ़ जाता, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद जलकर भस्म हो जाता।

बीसवां अध्याय

एक युग का अन्त

आप थोड़ा पीछे जाकर क्रान्तिकारी आन्दोलन पर एक सरसरी निगाह डाल लें। हम पहले ही सूर्य सेन और चटगाव काण्ड के सिलसिले में यह बता चुके हैं कि बंगाल में क्रान्तिकारी कार्य जारी रहा। मैं उनका पूरा वर्णन यहां नहीं पेश कर सकता। 1930 के 2 सितम्बर को शालिग्राम शुक्ल कानपुर में शहीद हो चुके थे। मेदिनीपुर में एक के बाद एक तीन अंग्रेज मजिस्ट्रेट मारे गए। पहला मजिस्ट्रेट जेम्स पेडी 7 अप्रैल, 1939 को मारा गया। 27 जुलाई को विमल दासगुप्त ने जिला जज गार्लिक की हत्या की। अगस्त, 1939 को ढाका के कमिश्नर कैसल्म पर गोली चली। आक्रमणकारी भाग गए। हिजली जेल में नजरबन्द क्रान्तिकारियों पर गोली चली। इसपर बाहर बड़ा आन्दोलन हुआ। 28 अक्टूबर, 1939 को ढाका के मजिस्ट्रेट डुर्नो पर गोली चली। 29 अक्टूबर को यूरोपियन एसोसिएशन के अध्यक्ष विलियर्स पर गोली चली।

क्रान्तिकारिणियां मैदान में

24 दिसम्बर, 1939 को एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना हुई। उस दिन दो छात्राएं कुमारी शान्ति घोष और कुमारी सुनीति ने तैराकी योजना

पर बातचीत के बहाने जिलाध्यक्ष मिस्टर स्टीवेन्स के कमरे में घुसकर उन्हें गोली मार दी। वह तुरन्त मर गए। इसपर सरदार पटेल ने यह कहा कि ये लड़किया भारतीय नारियो के कलकस्वरूप है। जो बीसियो फासिया हो रही थी और सैंकडों काले पानी भेजे जा रहे थे, उसपर महामान्य सरदार को कभी कुछ कहते नही बन पाया, पर इस अवसर पर वह बरस पडे। गांधीवाद का यह रवैया बोअर युद्ध से रहा। यतीन्द्रनाथ दास की शहादत पर स्वयं गाधी जी ने एक बेतुकी बात कही थी कि यतीन दास अहिंसावादी थे, तभी वह तिलतिल कर प्राण दे सके, जबकि यतीन दास ने भगतसिंह को और कमलनाथ तिवारी को बम बनाना सिखाया था। मैं बता चुका हू कि केवल क्रान्तिकारी ही अनशन मे शहीद हुए।

रहा यह कि नारी केवल पुरुष की शय्यासंगिनी है, यह कट्टर हिन्दू और इस्लामी मत क्रान्तिकारियो को कभी मान्य नहीं रहा। ईसाई इस विषय में कट्टर हिन्दू और इस्लामी मत से आगे रहे। ईसाइयों मे एक पुरुष-एक नारी, यह मत शुरू से ही मान्य रहा। उनमें बाइगैमी या द्विपत्नीत्व बहुत घृणित अपराध माना जाता रहा। शचीन्द्रनाथ सान्याल और उनके दल मे यह जो कहा गया था कि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का उन्मूलन हमारा उद्देश्य है, उसमें पुरुष द्वारा नारी का शोषण भी आता है। मैंने उन दिनों (1924-25) में दल के संविधान का छोटा-सा भाष्य प्रस्तुत किया था, उसमें पूजीपति बनाम मजदूर, जमीदार बनाम किसान, पुरुष बनाम नारी के शोषण को स्पष्ट किया था। इसके अलावा ब्राह्मण बनाम कथित छोटी जातिया तो थी ही।

फिर भी क्रान्तिकारी अपने दल की स्त्रियो को आगे न लाकर उनसे पोस्ट बाक्स आदि का काम लेते थे, इसका कारण यह है कि वे नारी के साथ हो सकने वाले बलात्कार आदि से घबडाते थे। हम यह देख चुके हैं कि फिर भी भगतसिंह के दल में दुर्गा वोहरा (भाभी), सुशीला (दीदी), प्रकाशवती (बाद को श्रीमती यशपाल) आदि कई महिलाएं थी, जो बाद को मशहूर हुईं। इनमें से दुर्गा भाभी ने पृथ्वीसिंह (जेल से दो बार भागने वाले) से मिलकर भगतसिंह की फांसी के जवाब मे अंग्रेजों पर लैमिंगटन रोड, बम्बई में गोलियां चलाई थी। सूर्य सेन की शिष्या कल्पना दत्त भी गोलियों का जवाब गोलियों से दे चुकी थी। उन्ही की एक अन्य शिष्या प्रीतिलता बम-गोलियां चलाकर शहीद हुई। उन्ही नारियों मे शान्ति और सुनीति की गिनती होनी चाहिए, और है।

यह मानना पड़ेगा कि सन् 1929 से लेकर गांधी जी के आन्दोलन के प्रभाव में आकर बहुत-सी स्त्रियो ने चूल्हा, चक्की की चहारदीवारी से निकलकर विस्तृत-तर बाह्य जगत् मे कदम रखा, पर उनको एक हद तक ही जाने की अनुमति थी। गांधी जी ने पुरुष और नारी की सब मामलो मे बराबरी का प्रचार नहीं किया। उन्होंने कभी यह नही कहा कि मुसलमानों मे पुरुष को चार शादियों की इजाजत

सरासर अन्यायपूर्ण हैं, स्त्रियो के साथ बड़ा भारी अन्याय है। भारत सरकार ने हिन्दुओं मे पुरुषों पर एकपत्नीत्व लादकर एक बडा कदम उठाया, यद्यपि शास्त्रीय हिन्दू धर्म मे ऐसा कोई बन्धन नही था। मुसलमानों में तो फिर भी चार का बन्धन था। हिन्दुओं में कुछ भी नही था। कृष्ण, अर्जुन, भीम, दशरथ बहुपत्नीत्व मे लिप्त थे। स्मरण रहे, हम यहां व्याभिचार की बात नही कह रहे है। यहा तो केवल धार्मिक रूप से मान्यता की बात हो रही है। भारत सरकार ने हिन्दू स्त्रियों को जो सुरक्षा दी, वह मुस्लिम स्त्रियों को क्यो नही दी? यह मुस्लिम स्त्रियों के साथ सरासर अन्याय है। यदि मुस्लिम स्त्रिया इतनी कूड़मगज हैं, जैसा कि हिन्दू स्त्रिया राममोहन के युग मे थी कि सती हो जाती थी, तो धर्मनिरपेक्ष सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह मुस्लिम स्त्रियों को फिर वे अधिकार दे जो हिन्दू और अन्य धर्म की स्त्रियों को प्राप्त है।

पटेल भारतीय हिटलर

कुछ भी हो, सरदार पटेल ने शान्ति, सुनीति पर जो कुछ कहा, उसकी परवाह न करते हुए भारत के युवावर्ग ने शान्ति, सुनीति को अपना आदर्श मान लिया। सरकार ने शान्ति-सुनीति की उम्र (16 से नीचे) कम मानकर उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड दिया। शान्ति-सुनीति से बाद को, जब वे दीर्घ कारावास के बाद छुटी, मेरी भेंट हुई। कल्पना दीदी, दुर्गा भाभी, सुशीला दीदी सबसे मिलकर मेरी यह धारणा बनी है कि उनमें से प्रत्येक आदर्श रमणी रही और भारत की युवा पीढ़ी के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। सरदार पटेल की टिप्पणी का उल्लेख हम नही भी कर सकते थे, पर उल्लेख इसलिए किया कि गाधीवाद के बाड़े में कैसे-कैसे पोंगा और पिछड़े हुए लोग थे इसका पता लोगों को हो जाए। सरदार पटेल कोई मामूली कांग्रेसी नही थे। गांधीवाद मे वह और राजेन्द्रप्रसाद गांधी के बाद ही थे। पटेल शायद हिटलर की तरह नारी को 'किंडर' (बच्चो), किर्चे' (गिर्जा) और 'कुचे' (रसोईघर) इन तीन कोठरियों में कैद करके रखना चाहते थे। नारी के अलावा भी सरदार पटेल सभी मामलों मे प्रतिक्रियावादी थे। उन्होने रजवाड़ों को भारत में जिस प्रकार मिलाया, उसकी तारीफ के पुल बांधे जाते थे, पर उस पुल की तब पोल खुली जब पता लगा कि उन्हें हत्या करने, बाहर से शराब मंगाने, अस्त्र-शस्त्र के सम्बन्ध मे जनविरोधी रियायतें प्राप्त थी। उनको मनमाने ढग से सार्वजनिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति करके दिखाने की छूट थी।

6 अप्रैल, 1932 को कुमारी वीणा दास ने बगाल के गवर्नर स्टैनले जैकसन पर गोली चलाई, पर गोली घातक नही सिद्ध हुई। वीणा दास ने साहसपूर्ण बयान दिया, पर प्रेस पर रोक के कारण वह छप नही सका। इस प्रकार वीणा दास भी उसी परम्परा मे हो गई, जिसके अन्तर्गत दुर्गा, सुशीला, प्रीतिलता, कल्पना

आदि थी।

30 अप्रैल, 1933 को मेदिनीपुर के दूसरे मजिस्ट्रेट आर० एस० डगलस को हत्या कर दी गई। यह हिजली जेल के गोलीकांड का बदला था। इसी तरह कैप्टेन कैमरून, पुलिस अधिकारी एलिसन की हत्या हो गई। बीसियों असफल हत्या-प्रयास हुए। स्टेट्समैन के अंग्रेज सम्पादक पर हमला किया गया। मेदिनीपुर के तीसरे मजिस्ट्रेट मिस्टर वर्ज की 2 सितम्बर, 1932 के दिन हत्या कर दी गई। आक्रमणकारी तीन क्रान्तिकारियों में दो वही खेत रहे। गोरों पर कई हमले हुए। बंगाल के गवर्नर जान एण्डरसन पर असफल हमला हुआ। बिहार और अन्य स्थानों में कई षड्यन्त्र हुए। रमेशचन्द्र गुप्त ने वीरभद्र तिवारी पर इस कारण दो असफल हमले किए कि उसने चन्द्रशेखर आजाद को पकड़वाने का षड्यन्त्र किया था। रमेश को दस साल की सजा हुई। यशपाल (बाद को हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकार) को एक आइरिश महिला सावित्रीदेवी के घर में पुलिस के साथ गोलीकांड के कारण 14 साल की सजा हुई। 30 जनवरी, 1933 को एक क्रान्तिकारी षड्यन्त्र 'गया षड्यन्त्र' नाम से चला, जिसमें श्यामचरण बर्थवार, केदारनाथ मालवीय, विश्वनाथ माथुर आदि को सजा हुई। कभी का क्रान्तिकारी नेता फणी घोष विवाह करके इतना कमजोर साबित हुआ कि गिरफ्तार होते ही मुखबिर हो गया। उसपर भुसावल कांड के भगवानदास माहौर, सदाशिव मल्कापुरकर ने अदालत में गोली चलाई थी, पर वह नही मरा। पर बैकुंठ शुक्ल के छुरे से बेतिया में उसे मार डाला गया। उन्हें फांसी हुई।

सन् 1933 में अन्तर्प्रान्तीय षड्यन्त्र में सीतानाथ दे आदि को लम्बी सजाएं हुईं। बलिया षड्यन्त्र में गोकुलदास, तारकेश्वर पाण्डे, नर्मदेश्वर आदि को सजा हुई।

सन् 1937 के अन्त में तथा 1938 में कुछ घटनाओं के फलस्वरूप पिपरीडीह षड्यन्त्र चला। पिपरीडीह डकैती कांग्रेसी प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल (1937-39) के जमाने में हुई। नेता झारखण्डे राय ने इसपर एक पुस्तिका लिखी है।

ऊधमसिंह से युगान्त

सन् 1940 में रामगढ़ कांग्रेस के अधिवेशन के ऐन पहले फिर एक बार इंगलैण्ड में एक घटना हुई, जिसको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। जलियानवाला बाग के हत्याकाण्ड के दो दशक बाद विलायत में पढ़ने के लिए गए हुए छात्र ऊधमसिंह ने जनरल डायर को गोली मारकर एक हिसाब चुकता कर दिया। यह युगान्तकारी घटना थी। क्योंकि इसके बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन ने जनक्रान्ति में निमज्जित होकर नया रूप धारण किया। इस गुणगत परिवर्तन में कई कारण हुए :

(1) भारत में जनक्रान्ति की ओर प्रगति

(2) विस्फोटक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति जो क्रमश: फासिस्टवाद बनाम समाजवाद मे बदलती चली गई, जिसके कारण साम्राज्यवाद के अधीन कराहते भारत तथा अन्य ऐसे देशों के लिए अच्छा मौका आ गया कि वे संग्राम को तीव्रतर करके अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर समाजवाद की ओर अग्रसर हों।

हम यह बात बताना जरूरी समझते है कि भगतसिंह की फासी के अतिरिक्त कराची कांग्रेस पर गणेशशकर विद्यार्थी की मृत्यु की काली छाया भी बनी रही।

कराची कांग्रेस में गाधी-इरविन समझौते का समर्थन किया गया था। अन्य बहुत-से प्रस्ताव पास हुए। पर भविष्य की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव था, मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में। उसमे कहा गया था कि किसीको खिताब नहीं दिया जाएगा। मृत्युदंड नही होगा। किसी सरकारी नौकर को 500 रुपया मासिक से ज्यादा नही मिलेगा। सबसे बडे धन्धो पर—खानों, रेलों, जलमार्ग, जहाज तथा आने-जाने के दूसरे साधनों पर या तो राष्ट्र का कब्जा होगा या उसकी पूरी देख-रेख स्वतन्त्र सरकार के हाथ में होगी। किसानों की कर्जदारी घटाने तथा सूदखोरी पर रोकथाम का वायदा किया गया। सब नागरिकों को सैनिक शिक्षा देने का वायदा भी किया गया।

यह सब तो हुआ, पर कराची के बाद ही कांग्रेस को यह मालूम हो गया कि गांधी-इर्विन समझौते का पालन काग्रेस की तरफ से तो हो रहा है, पर सरकार की तरफ से नही हो रहा है।

गांधी जी निराश

लार्ड इर्विन के बाद लार्ड विलिंगडन वायसराय बनकर आए। कांग्रेस और सरकार के बीच उलझनें बढती ही गईं। यहा तक कि काग्रेस ने वायसराय को उन घटनाओं की सूची दी, जिनमें सरकार ने पैक्ट का पालन नही किया था। विलिंगडन इनपर जाच कराने के लिए राजी नही हुए। पर अन्त में गांधी जी और वायसराय मे कुछ बातचीत हुई और विलिंगडन के आश्वासन पर वह गोलमेज सम्मेलन के लिए रवाना हो गए। पर लन्दन में भारत की तरफ से जो लोग प्रतिनिधि बनाकर भेजे गए थे, वे किसीके प्रतिनिधि नही थे और हर समय अड़ंगा लगाते रहते थे। नतीजा यह हुआ कि प्रतिनिधि किसी भी मामले मे किसी फैसले पर नही पहुंच सके और सब अन्तिम फैसले ब्रिटिश सरकार पर छूटते रहे। गांधी जी ने फिर भी चेष्टा की कि कोई समझौता हो। पर वह इसमें सफल नहीं हुए और उन्हें निराश होकर भारत लौटना पडा।

इस बीच भारत मे परिस्थिति बहुत खराब हो गई थी। संयुक्त प्रान्त में लगान बन्दी की नौबत आ गई थी और सीमाप्रान्त में भी बहुत असन्तोष था।

खान बन्धु गिरफ्तार कर लिए गए। और जल्दी ही सब नेता यहां तक कि गांधी जी और सरदार पटेल तक गिरफ्तार हो गए। अब की बार ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस पर अचानक हमला बोला था। गिरफ्तारियां तेजी से होने लगीं। गिरफ्तारियों से भी अधिक मारपीट होनी थी। महीनों तक जोर-शोर से एक तरफ से आन्दोलन चलने लगा और दूसरी तरफ से दमन होने लगा। कांग्रेसियो को रेल यहा तक कि डाकखाने की मदद लेना भी मना हो गया था। न वे रेल पर चढ़ सकते थे और न वे पत्र आदि भेज सकते थे।

सन् 1932 के अप्रैल में दिल्ली में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। पर इस अधिवेशन के सभापति बूढ़े नेता मदनमोहन मालवीय रास्ते में ही गिरफ्तार कर लिए गए। इसलिए सेठ रणछोड़दास की अध्यक्षता में अधिवेशन हुआ। इसमे सत्याग्रह का समर्थन किया गया और सत्याग्रहियो को उनके त्याग पर बधाई दी गई।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने आखिरकार अपना साम्प्रदायिक बटवारा घोषित किया। गाधी जी ने पहले ही यह चेतावनी दे दी थी कि कथित अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने की चेष्टा गलत है, और यदि ऐसा किया गया तो मैं इसके विरुद्ध अपनी जान की बाजी लगा दूंगा। इसके बावजूद साम्प्रदायिक बटवारे में कथित अछूतों को अलग चुनाव का हक दिया गया। इसपर गाधी जी ने ब्रिटिश प्रधान-मंत्री को यह पत्र लिखा कि यदि यह बंटवारा बदला नही गया, तो मैं 20 दिसम्बर से अनशन करूंगा।

12 दिसम्बर को ब्रिटिश सरकार ने यह बात जाहिर की कि गाधी जी ने जेल से इस प्रकार की धमकी दी है। इसपर फौरन हिन्दू नेताओं का एक सम्मेलन हुआ। गाधी जी तब तक अनशन शुरू कर चुके थे। हिन्दू नेता तथा अछूतों के विशेष नेता डा० अम्बेडकर आदि एकत्र हुए और उन्होंने एक पैक्ट कर लिया।

भीमराव अम्बेडकर

डा० भीमराव अम्बेडकर महाराष्ट्र मे पैदा हुए थे। सतारा तथा बम्बई मे उनकी शिक्षा हुई। एक छात्रवृत्ति पाकर वह अमरीका के कोलम्बिया विश्व-विद्यालय में अध्ययन करने गए। वहा से वह इण्डिया आफिस के पुस्तकालय मे शोध-कार्य भी करते रहे। इसके बाद वह कुछ दिन तक भारत मे अर्थशास्त्र के अध्यापक का काम करते रहे। अर्थशास्त्र तथा उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी और लन्दन के विश्वविद्यालयों में भरती हुए और डी० एस० सी० की डिगरी प्राप्त की। इस बीच उन्होने कई कमीशनो के सामने गवाही भी दी थी और एक विद्वान लेखक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। वह अछूतों के प्रमुख नेता थे। अन्त तक वह हिन्दू सवर्णों से निराश होकर बौद्ध बन गए। यहां उनकी बुद्धि उन्हें धोखा दे गई। यह तबे से

चूल्हे में कूदना था, असली समाधान सर्वधर्मत्याग था। सभी धर्म जनता के लिए अफीम है।

26 दिसम्बर, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने इस पैक्ट को मान लिया और इसी दिन कवीन्द्र रवीन्द्र के सामने गांधी जी ने अनशन भंग कर दिया। यह तय हुआ कि पहले कथित अछूत चार व्यक्तियो को नामजद करेंगे। इस नामजदगी मे अछूत ही भाग ले सकेगे। इसके बाद कथित उच्च जाति और अछूत इन चार व्यक्तियो में से एक को चुनेंगे।

महात्मा गाधी ने अब जेल के अन्दर से यह मांग की कि उन्हे वही से हरिजन सेवा करने की सुविधाए दी जाए। उनकी यह मांग मान ली गई और 'हरिजन' पत्रिका निकलने लगी। कहां स्वराज्य और कहां यह। असल में समझौता टूट जाने पर उनकी मति सम्पूर्ण रूप से भ्रमित हो गई थी।

1933 मे कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। अब की बार भी अध्यक्ष मदनमोहन मालवीय होने वाले थे। पर अब की बार भी वह रास्ते मे पकड़ लिए गए। तब श्रीमती सेनगुप्त अध्यक्षा बनी और जल्दी-जल्दी अधिवेशन समाप्त हुआ। प्रतिनिधियों पर जोरो से लाठी चार्ज हुआ। इस अधिवेशन में सत्याग्रह का समर्थन किया गया और सरकार द्वारा प्रस्तावित शासन सुधार की निन्दा की गई।

गाधी जी ने यह अनुभव किया कि हरिजन कार्य और अधिक जोरो से होना चाहिए। इसलिए जनता को अधिक जागृति दिलाने के लिए उन्होंने जेल मे रहकर 21 दिन का उपवास करने की घोषणा की।

आंदोलन बहुत कुछ खत्म हो चुका था। स्थानापन्न कांग्रेस अध्यक्ष अणे ने अब सत्याग्रह बंद कर दिया। गाधी जी लार्ड विलिंगडन से बातचीत करना चाहते थे। पर उन्होने बात करने से इनकार कर दिया। तब गाधी जी व्यक्तिगत सत्याग्रह की तैयारी करने लगे। वह स्वय रास नामक गाव के लिए रवाना होने वाले थे। पर इसके पहले ही वह अपने 34 साथियो के साथ गिरफ्तार हो गए। वह फिर छोड़ दिए गए और उन्हे यह हुक्म दिया गया कि यरवदा ग्राम छोड़कर पूना मे जाकर रहें। पर गाधी जी इसपर राजी नही हुए और उन्हें एक साल की सजा हुई। इस बार उन्होंने फिर जेल मे रहते हुए हरिजन कार्य करने की आज्ञा मांगी। उन्हें आज्ञा नही मिली। इसपर उन्होने अनशन शुरू कर दिया। तीन दिन के अनशन के बाद ही वह छोड दिए गए।

इसके थोड़े दिन बाद जवाहरलाल छूटे। अब गाधी जी ने हरिजन आंदोलन के लिए दौरा शुरू किया। इसमें वह कई प्रसिद्ध मन्दिर हरिजनो के लिए खुलवाने मे सफल हुए। पर उनपर जहां-तहां हमले भी हुए। इसी बीच बिहार मे भूकंप आया और तीस हजार वर्गमील मे प्रलय के दृश्य उपस्थित हो गए। राजेंद्र-

बाबू जेल से छोड दिए गए और भूकंपपीड़ितों की सेवा में तन-मन से जुट गए।

इस भयकर भूकप पर बयान देते हुए मतिभ्रमित महात्मा ने यह अजीब बयान दिया कि हरिजनों पर किए गए अन्याय के कारण भूकंप आया। इसपर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनकी सार्वजनिक रूप से भर्त्सना की।

कांग्रेस समाजवादी दल

अब फिर से स्वराज्य दल की तरह कार्य करने की बात उठ रही थी। सत्याग्रह बंद हो चुका था। बहुत-से कांग्रेसी इससे असंतुष्ट थे कि जब चाहे आंदोलन बंद कर दिया जाता है। ऐसे लोगों में सम्पूर्णानंद, आचार्य नरेंद्र देव, जयप्रकाश नारायण आदि थे। इन लोगों ने मिलकर कांग्रेस समाजवादी दल का संगठन किया, जिसका लक्ष्य समाजवाद रखा गया। अफसोस है कि दल ढुलमुल-यकीन नेताओं से भरा था। सम्पूर्णानंद को ज्योंही मंत्री बनने का मौका मिला, वह दल से भाग खड़े हुए। मसानी अन्त तक समाजवाद-विरोधी हो गए। जयप्रकाश के असहयोग के कारण सुभाष के कांग्रेस से निकाले जाने के बाद जो वामपक्षी मोर्चा बनाने का क्रम चला, वह असफल हो गया। बाद को जयप्रकाश ने समाजवाद से अपनेको अलग कर लिया।

1934 के अक्टूबर में डा० राजेंद्र प्रसाद की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हम एक बार असफल हो सकते हैं, दो बार हो सकते हैं, पर किसी न किसी दिन अवश्य सफल होंगे। कांग्रेस में इस समय ऐसे लोगों का जोर बढ रहा था जो चुनाव लडना चाहते थे। इस कारण गांधी जी अब कांग्रेस से अलग हो गए।

1935 में कांग्रेस का कोई अधिवेशन नहीं हुआ। फिर 1936 के अप्रैल में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में अधिवेशन हुआ। उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि गरीबों की गरीबी मिटाना और किसानों की उन्नति करना कांग्रेस का लक्ष्य है। इस अधिवेशन में चुनाव लड़ने के लिए एक संसदीय मंडल भी बना। इस समय अबीसीनिया पर इटली का हमला हो गया था। कांग्रेस ने इटली की निन्दा करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। सुभाष बोस इस अधिवेशन में शामिल होने के लिए विदेश से आए थे। पर वह बम्बई में ही गिरफ्तार कर लिए गए।

प्रान्तों में कांग्रेसी सरकार

अब कांग्रेस की तरफ से चुनाव लडने की तैयारी हो रही थी। चुनाव-घोषणा भी प्रकाशित हुई। उसमें यह कहा गया कि मजदूरों की कम से कम मजदूरी तय करना तथा किसानों को हर तरह से मुक्त करना कांग्रेस का ध्येय है।

1936 के दिसम्बर में महाराष्ट्र मे फैजपुर मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। अबकी बार भी जवाहरलाल अध्यक्ष थे। उन्होंने फिर कहा कि समाजवाद ही भारत की गरीबी की समस्या को हल करने मे समर्थ है। पर साथ ही उन्होने यह भी कहा कि स्वतंत्रता पहला कदम है और समाजवाद दूसरा।

सैयद अहमद का भूत

जवाहरलाल नेहरू ने देशव्यापी तूफानी दौरा किया। 1937 की फरवरी में चुनाव हुआ और चुनाव में कांग्रेस की विजय हुई। इस चुनाव में मुसलिम लीग ने भी पूरी तैयारी के साथ हिस्सा लिया था, पर उसे विशेष सफलता नही मिली। कुल मुसलिम सीटों मे से एक चौथाई मुसलिम सीटें भी उसे नही मिली। मि० जिन्ना ने फिर भी यह खतरनाक बात कही कि भारत में लोकतन्त्र नहीं होना चाहिए। यह सर सैयद अहमद का भूत था जो बोल रहा था।

चुनाव के फलस्वरूप कांग्रेस ने बम्बई, बिहार, मद्रास, सयुक्त प्रान (उत्तर-प्रदेश), उडीसा और मध्य प्रात मे मन्त्रिमंडल बना लिए। पर मुसलिम लीग मुसलिम-प्रधान प्रातों मे मन्त्रिमंडल नही बना सकी। जेल मे बद क्रातिकारी काफी संख्या मे छोड़ दिए गए। थोडे दिनों मे सीमा प्रान्त में भी कांग्रेसी मन्त्रिमडल कायम हो गया। फिर भी अभी सभी क्रातिकारी कैदी नही छूटे थे और जनता मे उनकी रिहाई की बहुत जबरदस्त माग थी। मन्त्रिमडल इन कैदियो को छोडना चाह रहे थे पर अग्रेज गवर्नर इसपर राजी नही थे क्योकि 1937 में छूटे हुए क्राति-कारियो मे कोई भी अंग्रेजों के मानदड पर भला नही साबित हुआ था।

फरवरी, 1938 तक इस विवाद ने एक शासन-सकट का रूप ग्रहण कर लिया। बिहार और संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के मन्त्रिमडलों ने इस्तीफा दे दिया। साथ ही कांग्रेस की तरफ से यह स्पष्ट कर दिया गया कि यदि इस प्रति-वाद की सुनाई नही हुई, तो बाकी कांग्रेसी मन्त्रिमंडल भी इस्तीफा दे देंगे। इसी समय हरिपुरा मे सुभाषचद्र बोस की अध्यक्षता मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसपर ब्रिटिश सरकार को झुकना पड़ा। हरिपुरा अधिवेशन के बाद फिर कांग्रेसी मन्त्रिमंडल कायम हो गए। जिन क्रातिकारी कैदियों के सम्बन्ध में झगडा उठ खडा हुआ था, वे रिहा कर दिए गए।

1938 में ही सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय योजना कमेटी कायम हुई। इस कमेटी का उद्देश्य यह था कि प्रत्येक क्षेत्र मे विज्ञान तथा उपयुक्त संस्थाओं द्वारा आगे बढा जाए। कांग्रेसी सरकारों के अतिरिक्त बंगाल, पंजाब, सिन्ध की सरकारों ने तथा हैदराबाद, मैसूर, बडौदा, तिरुवांकुर, भोपाल आदि रियासतो ने इस कमेटी में भाग लिया। इस कमेटी को सब तरह के विद्वानों तथा विशेषज्ञो का सहयोग प्राप्त था। अपने ढग से यह एक बहुत प्रतिनिधिमूलक संस्था थी और इसने कई मामलो

मे बहुत हितकर आकड़ो का सग्रह किया। इस कमेटी का उद्देश्य भारत का जल्दी से जल्दी औद्योगीकरण ही नही, सब क्षेत्र मे उन्नति थी। इस तरह हम कह सकते हैं कि *आजकल के योजना आयोग की नींव एक तरह से 1938 मे ही पड चुकी* थी और भारत के नेता यह समझ चुके थे कि योजना बनाकर काम करने पर ही देश की समस्याए सुलझ सकती है।

काग्रेसी मन्त्रिमडलों के चार मुख्य उद्देश्य थे : (1) लगान तथा मालगुजारी घटाना, (2) किसान को जमीन पर अधिकार देना, (3) उसे कर्जदारी से बचाना और (4) मजदूरों की उन्नति करना। काग्रेस ने इन कामों की तरफ कदम बढाया। काग्रेस के प्रधान नेता गाधी जी थे। इसलिए कुछ बातें उनके विशेष विचारों के अनुसार करने की कोशिश की गई। गांधी जी शराब-बंदी के पक्ष में थे। इसलिए काग्रेसी मन्त्रिमडलों ने इस संबंध में काम शुरू किया। कुछ हिस्से ऐसे कर दिए गए जहा शराब का बिकना, बनाना बन्द कर दिया गया। इसी प्रकार गाधी जी की शिक्षा-सम्बन्धी वर्धा योजना को काम मे लाने की कोशिश की गई। मद्रास के मन्त्रिमंडल ने अछूतो द्धार तथा हिन्दी प्रचार के क्षेत्र मे काम किया। सयुक्त प्रात (उत्तरप्रदेश) के मन्त्रिमंडल ने ग्राम सुधार की योजना बनाई। इसमे कोई सन्देह नही कि काग्रेसी मंत्रिमंडलों ने 1935 के इण्डिया ऐक्ट के छोटे दायरे के बावजूद कुछ सुधार के कार्य के किए। किसानों के सम्बन्ध में इन्होने जो कुछ करना चाहा, उसमे कथनी और करनी मे बड़ा अंतर रहा। मजदूरों के संबंध में भी ये *कुछ नहीं कर पाए। काग्रेसी मंत्रिमडलों के जमाने मे मजदूरों की कई* हड़तालें हुई। बिहार और उत्तरप्रदेश के काग्रेसी मन्त्रिमंडलो ने मेरी दो पुस्तके पुलिस की बातों मे आकर जब्त कर ली।

उधर विश्व मे चारो तरफ लड़ाई के बादल छा रहे थे। हिटलर मनमाने ढग से अपना साम्राज्य बढाता जा रहा था और पूजीवादी देशों के नेता उसे इस आशा से बर्दाश्त कर रहे थे कि वह रूस को खत्म कर पूजीवादी राज्य को निष्कटक बना देगा।

इन्ही परिस्थितियों मे काग्रेस के अध्यक्ष का चुनाव हुआ और सुभाष बोस अध्यक्ष चुने गए। पर गाधी जी पट्टाभि सीतारमैया को अध्यक्ष बनाना चाहते थे। गाधी जी अब तक चुप थे। अब उन्होंने कहा कि पट्टाभि की हार मेरी हार है। *पर सुभाष तो चुने जा चुके थे। 1939 मे त्रिपुरी कांग्रेस का अधिवेशन 10, 11,* 12 मार्च को हुआ। जिस समय त्रिपुरी में अधिवेशन होने वाला था, उस समय एक घटना तो यह हुई कि सुभाष बाबू बहुत बीमार हो गए, इसलिए मौलाना अबुल कलाम आजाद ने सभापतित्व किया और दूसरे, उन्ही दिनों गाधी जी राजकोट के सम्बन्ध में अनशन कर रहे थे।

अन्त मे महात्मा के शिष्यों ने ऐसी असम्भव स्थिति पैदा कर दी कि सुभाष

बोस को अध्यक्ष पद से इस्तीफा देना पड़ा। राजेन्द्र बाबू नये अध्यक्ष बने। सुभाष बाबू ने फारवर्ड ब्लाक नाम से एक नये दल का गठन किया जो विशेष [illegible] न हो सका क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] है। इन [illegible] में सबसे [illegible] [illegible] [illegible] का है जिन्होंने पहले [illegible] कम्युनिस्ट पार्टी को [illegible] करके [illegible] [illegible] को।

कांग्रेसी मंत्रिमंडल का इस्तीफा

जब हिटलर ने बड़े-बड़े पोलैंड पर हमला कर दिया तो ब्रिटेन और फ्रांस ने लड़ाई छेड़ दी। इसपर अंग्रेजों वाली भारत सरकार ने केन्द्रीय धारासभा को अथवा प्रान्तों के मंत्रिमंडलों की राय लिए बिना भारत को लड़ाई में डाल दिया। सरकार इतने ही से सन्तुष्ट नहीं रही, बल्कि उसने अब प्रान्तो की कांग्रेस सरकारों से पूछे बिना काम करना शुरू कर दिया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को काफी मौका दिया कि वह अपना युद्ध का उद्देश्य स्पष्ट करे। पर उसने कुछ भी नहीं किया। प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों और गवर्नरों में खींचा-तानी बढ़ रही थी। 22 अक्तूबर को कांग्रेस कार्य समिति ने मंत्रिमंडलों को इस्तीफा देने की हिदायत दी। एक-एक करके सब मंत्रिमंडलो ने इस्तीफा दे दिया।

1940 के 19, 20 मार्च को मौलाना अबुल कलाम आजाद के सभापतित्व में बिहार के रामगढ़ नामक स्थान में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन इस कारण बहुत ही ऐतिहासिक रहा कि इसके बाद कई वर्षों तक कांग्रेस के अधिवेशन की कोई नौबत ही नहीं आई। इसीके साथ-साथ सुभाषचन्द्र के नेतृत्व में समझौता-विरोधी सम्मेलन हुआ, जो बहुत सफल रहा। यदि जयप्रकाश इसमें हाथ बटाते, जैसा कि उन्होंने वादा किया था—बटाएंगे, तो एक स्थायी संगठन बन जाता।

सरकार का दमन-चक्र जोरों के साथ चलने लगा। कांग्रेस के कुछ नेता सहयोग के लिए लालायित थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य इस प्रवृति के नेता थे। इन्हींके नेतृत्व में जून, 1940 में कांग्रेस कार्य समिति ने यह तय किया कि अभी सरकार इतना करे कि सिद्धान्त के तौर पर पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय को मान ले। पर कार्य रूप में 1935 के इण्डिया ऐक्ट के अन्दर ही केन्द्र में विभिन्न दलों की राष्ट्रीय सरकार बनाई जाए। वायसराय रहें, पर शक्ति इस सरकार के हाथ में रहे। तब कांग्रेस लड़ाई चलाने में सरकार की मदद करेगी। महात्मा जी ने इस प्रस्ताव का इस कारण विरोध किया कि इस प्रकार युद्ध में साथ देने से अहिंसा की नीति समाप्त हो जाती। पर कांग्रेस के इस नरम प्रस्ताव पर भी सरकार राजी नहीं हुई।

जब सरकार ने तनिक भी हाथ नहीं बढ़ाया तब व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया गया। आचार्य विनोबा भावे सर्वप्रथम व्यक्तिगत सत्याग्रही बने।

सत्याग्रही गिरफ्तार होने लगे। पर सरकार पर कुछ असर नही हुआ। सरकार का दमन जारी रहा। 1941 में सत्याग्रही कैदियो की सख्या वढ गई। सयुक्त प्रान्त मे सबसे अधिक लोगो ने व्यक्तिगत सत्याग्रह मे भाग लिया। और प्रान्तों में तो व्यक्तिगत सत्याग्रह सचमुच व्यक्तिगत रहा, पर सयुक्त प्रान्त मे यह एक जन आन्दोलन मे परिणत हो गया। अन्य प्रान्तो मे जब गिरफ्तारी नही हुई, तो लोग सत्याग्रह करते-करते दिल्ली की ओर चले।

रूस पर हमला

हिटलर ने पश्चिमी यूरोप को जीत लेने के बाद 1941 के 22 जून को रूस पर हमला कर दिया। इसके बाद जापान भी हिटलर के पक्ष मे लड़ाई में कूद पडा, और उसने अमरीका के पर्ल हार्बर पर कब्जा कर लिया। काग्रेस ने सोचा कि अब शायद ब्रिटिश सरकार सम्भले। 1941 के 30 दिसम्बर को कार्य समिति ने सरकार की तरफ बहुत तपाक से हाथ बढ़ाया। इस सम्बन्ध मे अपनी सचाई दिखाने के लिए कार्य समिति ने गांधी जी को नेतृत्व से मुक्ति दे दी। जापानी आक्रमण का फायदा उठाने के बजाय काग्रेस ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने को तैयार थी।

सुभाष फरार

1941 की 26 जनवरी के दिन सुभाष बाबू अपने कलकत्ते के मकान से गायब पाए गए। वे कुछ दिन पहले अनशन के कारण स्वास्थ्य-सम्बन्धी कारणो से जेल से रिहा हुए थे। सुभाष की इस फरारी के महान ऐतिहासिक नतीजे हुए।

पूर्वी मोर्चों मे ब्रिटिश सरकार की हालत खराब होती जा रही थी। रंगून जापानियों के कब्जे मे चला गया था। ऐसी परिस्थिति आ गई थी कि ब्रिटिश सरकार यह समझने लगी थी कि युद्ध में काग्रेस का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। तदनुसार 1942 के 11 मार्च को क्रिप्स मिशन की घोषणा हुई और सर स्टेफर्ड क्रिप्स 23 मार्च को नई दिल्ली में कुछ प्रस्ताव लेकर आए। उनका मतलब यह था कि कांग्रेस युद्ध मे मदद दे, तब जापान का सामना करना आसान होगा। क्रिप्स के प्रस्ताव का आशय यह था कि भारतवर्ष एक यूनियन या युक्त राष्ट्र बने। प्रस्ताव में कहा गया था कि युद्ध खत्म होने के बाद ही भारतवर्ष को जिम्मेदार सरकार दी जाएगी। गाधी जी ने क्रिप्स प्रस्ताव को 'दिवालिया बैंक पर आगे की तारीख लगा हुआ चेक' कहा। खास बात यह थी कि क्रिप्स प्रस्ताव के समय वैयक्तिक सत्याग्रह बन्द रहा।

क्रिप्स प्रस्ताव की असफलता के कारण अब काग्रेस के सामने इसके सिवा कोई चारा नही रहा कि लडाई छेड़े। इस बातों को भग करते हुए मौलाना

अबुल कलाम आजाद ने यह साफ कह दिया कि ऐसा मालूम होता है कि सरकार भारतवर्ष की ठीक-ठीक रक्षा नही करना चाहती, बल्कि उसे इसीकी फिक्र पड़ी हुई है कि कैसे साम्राज्य कायम रहे।

इन्ही दिनों सुभाष बाबू जापानी अधिकृत देशों से रेडियो से भाषण दे रहे थे। अवश्य ही सुभाष बाबू के भाषण का उन दिनों यही अर्थ लगाया जाता था कि वे जापान की जीत चाह रहे है। इन सब विचारो तथा गिरती हुई आर्थिक अवस्था का यह परिणाम हुआ कि जनता ने क्रिप्स प्रस्ताव को बिल्कुल पसन्द नहीं किया। क्रिप्स प्रस्ताव की असफलता पर किसीको दु:ख नही हुआ। सब यही चाहते थे कि धोखेबाज ब्रिटिश सरकार की कोई मदद न की जाए।

'भारत छोड़ो'

बम्बई मे 1942 के अगस्त मास मे अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ। उसमें सुप्रसिद्ध अगस्त प्रस्ताव पास हुआ और 'करो या मरो' का नारा दिया गया। इसी प्रस्ताव को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव का नाम दिया गया। प्रस्ताव का स्पष्टीकरण करते हुए पण्डित नेहरू ने साफ-साफ कह दिया कि "प्रस्ताव कोई धमकी नही है। यह तो एक निमन्त्रण है। इसके द्वारा हमने बताया है कि हम क्या चाहते हैं। हमने सहयोग का हाथ और बढाया है। पर इसके पीछे एक साफ इशारा भी है कि यदि कुछ बातें नहीं हुई तो परिणाम क्या हो सकता है। यह स्वतन्त्र भारत के सहयोग का दावतनामा है। किसी दूसरी शर्त पर हमारा सहयोग प्राप्त नही हो सकता। उसके अलावा हमारा प्रस्ताव केवल संघर्ष तथा लडाई का वादा करना है।" महात्मा जी ने इसी अवसर पर भाषण देते हुए 'करो या मरो' का नारा दिया। यह नारा वह चिनगारी साबित हुआ जिससे सारे देश मे विद्रोह की जबरदस्त आग भडक उठी।

सुप्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव 8 अगस्त को रात मे पास हुआ। उसी रात को अर्थात् अंग्रेजी हिसाब के अनुसार कुछ घण्टे बाद 9 अगस्त को बम्बई में एकत्र सब नेता गिरफ्तार कर लिए गए। 9 अगस्त की शाम को आम सभा में भाषण देने जाती हुई कस्तूरबा गांधी भी गिरफ्तार हुई। नेताओ की गिरफ्तारी से देश में एक अजीब परिस्थिति पैदा हो गई। यह किसीने नही सोचा था कि इतनी जल्दी सरकार अपना हमला बोल देगी। सरकार ने अपने ख्याल से ठीक ही किया था। पर काग्रेस के नेता इसके लिए पूर्णतः तैयार नही थे। गांधी जी ने प्रत्येक प्रान्त से कुछ खास कार्यकर्ताओं को 9 अगस्त को बुलाया था। वे उन्हे अपना कार्यक्रम बताने वाले थे पर उसका मौका ही नही आया।

सत्याग्रह के आरम्भ में साथ-साथ तोडफोड़ का कार्यक्रम चालू किया गया क्योंकि क्रान्तिकारी तत्त्वों ने आन्दोलन को अपने हाथों में ले लिया। जनता के

अन्दर से हज़ारों नये वीर सामने आए। रेल की पटरियां उखाड़ी गईं, तार काट दिए गए, कहीं-कहीं जेलें तोड़ दी गई। यहां तक कि बलिया, मेदिनीपुर, शोलापुर आदि स्थानों में ब्रिटिश सरकार के स्थान पर जनता की सरकार कायम कर दी गई। गांधी जी जेल में बैठे-बैठे नाराज होते रहे, और वायसराय को पत्र लिखते रहे। ये पत्र सरकार ने पुस्तकाकार छापे ताकि लोगों का मनोबल गिर जाए।

1942 के 16 अक्तूबर को बंगाल के दक्षिणी जिलों में विशेषकर मेदिनीपुर और चौबीस परगने में इतनी प्रबल आंधी आई कि हजारों लोग बेघर-बार हो गए और खेत खराब हो गए। पर मेदिनीपुर में 1942 के आन्दोलन में भाग लेने वालों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उनमें कोई कमी नहीं आई। परिणाम यह हुआ कि यहां दुर्भिक्ष शुरू हो गया। मेदिनीपुर में तो प्राकृतिक कारणों से दुर्भिक्ष हुआ था। पर 1943 में सारा बंगाल एक दूसरे ही ढंग के दुर्भिक्ष के पंजों में फंस गया। यह प्राकृतिक कारणों से नहीं बल्कि सरकार की बदइन्तजामी और अत्याचार के कारण हुआ था। सरकार ने लड़ाई में हार के डर से लोगों से नावें तथा साइकिलें छीन लीं, जिससे दुर्भिक्ष बहुत भयंकर हो गया क्योंकि अनाज नहीं पहुंच सका और व्यापारियों ने खूब पैसे बनाए।

1942 में जापानी मलाया पहुंच गए, तो बहुत-से भारतीय सिपाही उनके हाथों कैद हो गए। तब फिर इनको संगठित करने का प्रयत्न हुआ। मेजर फूजीवारा ने यह वादा किया कि भारतीयों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सहायता दी जाएगी।

आजाद हिन्द फौज की नींव पड़ी

इसपर 9 और 10 मार्च को सिंगापुर में मलाया के देशभक्त भारतीयों की एक सभा हुई। हार्डिंग बम मामले के फरार श्री रासबिहारी ने इसको और संगठित रूप देने के लिए टोकियो में मार्च के अन्तिम सप्ताह में जापानी अधिकृत देशों के भारतीयों की एक सभा बुलाई। यह सभा उन्हींके सभापतित्व में हुई, और इण्डिया इंडिपेंडेंस लीग जोरों के साथ काम करने लगी।

सुभाष बाबू घर से गायब होकर काबुल के रास्ते भारतवर्ष से निकल गए थे। काबुल में कुछ दिन रहने के बाद वह जर्मनी पहुंचे। 1943 के 2 जून को सुभाष बाबू टोकियो या सिंगापुर पहुंचे। वहां नये ढंग से कार्य का सूत्रपात हुआ। सुभाष बाबू के महान व्यक्तित्व के कारण जापान अधिकृत देश के भारतीयों में एक नई उमंग पैदा हुई। 4 जुलाई को पूर्वी एशिया के भारतीयों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें सुभाष बाबू सर्वसम्मति से सभापति चुने गए। आजाद हिन्द फौज नये जोश से बनने लगी। सुभाष बाबू 'नेताजी' कहलाने लगे। रासबिहारी ने बड़े प्रेम से सुभाष के हाथों आन्दोलन की बागडोर सौंप दी, क्योंकि वह जानते

थे कि कार्य का तकाजा यही है।

1943 के 21 अक्तूबर को आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की गई। सुभाष बाबू इसके सर्वाधिनायक, फौजी तथा वैदेशिक मन्त्री और प्रधान सेनापति हुए। जब रंगून जापानियों के कब्जे में हो गया, तो 1944 की 7 फरवरी को आजाद हिन्द फौज का प्रधान दफ्तर उठकर रगून चला गया। इस फौज मे करीब 50 हजार सैनिक थे।

आजाद हिन्द फौज केवल भारतीय स्वतन्त्रता के लिए एक गौरवमय चेष्टा ही नही थी, बल्कि इसने बाद की भारतीय राजनीति पर कुछ बहुत गहरे प्रभाव डाले। आजाद हिन्द फौज की प्रशसा के कारण ब्रिटिश भारतीय फौज मे जिन भयंकर विस्फोटो का सूत्रपात हुआ, और बराबर होता रहा, उनके कारण भारत से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पैर उखड गए। ब्रिटिश सरकार को अपनी भारतीय फौज मे विश्वास नही रह गया। इसी कारण अंग्रेजो ने अब स्वय ही भारत छोड़ने की एक निश्चित तारीख तय कर ली।

इस प्रकार भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई।

आजाद हिन्द फौज का अन्तिम हथौड़ा

आजाद हिन्द फौज द्वारा अन्तिम धक्के के मूल्यांकन का समय आ गया है, पर कई स्थितिया ऐसी है जिनका मूल्याकन अभी नही हो सकता। यदि आजाद हिन्द फौज के नेता सुभाष बोस के जीवन से उसकी परिस्थितियों पर दृष्टिपात किया जाए तो ऐसा ज्ञात होगा जैसे कि मैंने लिखा है कि उनमे सबसे बडी प्रवृत्तियां विद्रोह की थी। वह आजन्म विद्रोही थे और जैसा कि एक विद्रोही के लिए उचित है वह कभी विद्रोह करते समय यह नही सोचते थे कि मुझे इससे क्या लाभ होगा। जवाहरलाल भी उनके साथ-साथ चले। विद्रोही भी रहे, पर उनकी आखें बराबर वैयक्तिक उपलब्धि पर लगी रही। क्रातिकारी सुभाष और जवाहरलाल के व्यक्तित्वों की यह तुलना मनगढन्त नहीहै। बल्कि बहुत ठोस तथ्यों पर आधारित है। नतीजा भी यह हुआ कि जवाहरलाल भारत के 17 साल तक प्रधानमत्री रहकर मरे, जब कि सुभाष की मृत्यु अज्ञात ढग से हुई और बहुत-से लोग तो कहते है कि मृत्यु हुई ही नही। इस आस्था को सम्मान देने का एक तरीका है। कृष्ण-राम मर गए, पर हनुमान और अश्वत्थामा अमर माने गए।

इस प्रकार सुभाष और जवाहरलाल की तुलना करने के बाद हम यह देखते है कि सुभाष के जीवन मे सबसे प्रबल विरोध गांधी जी की तरफ से प्राप्त हुआ। बहुत-से लोग इस तथ्य को भुला देते है और वह भुला इस वास्ते देते हैं कि नाम के वास्ते गांधी जी के चेलों का भारत मे राज्य हो गया है। नाम के वास्ते इसलिए कह रहा हूं कि वास्तविक रूप से गाधी जी के मूल विचारों से जो गांधी के नाम-

लेवा पानी देवा थे वे बहुत कुछ हट गए और भारत के लिए यह अच्छा ही हुआ। गाधी जी के जितने भी मूल विचार थे, वे सिवा इसके कि त्याग या शहादत भी एक ऐतिहासिक राजनैतिक शक्ति है—सब गलत और अव्यावहारिक थे और स्वतत्र भारत ने उन्हे तिलांजलि दे दी, यह बहुत अच्छा हुआ।

सुभाष गाधी के सारे विचारो के विरुद्ध थे। जवाहरलाल भी इन विचारो के विरुद्ध थे जैसा कि उनकी आत्मकथा से स्पष्ट है। उसमे धनी समाज के ट्रस्टी हैं या हो सकते है, इस विचार का खुलकर मजाक उड़ाया गया है। पर जवाहरलाल कूटनीति के कारण कभी मुह पर यह बात लाते नहीं थे और कुछ उनको गाधी जी से मोह-सा भी था। जवाहरलाल ने प्रधानमंत्री के रूप में गाधी जी के विचारों से जिस प्रकार भारत को धीरे-धीरे, चुपके-चुपके बराबर गाधी जी की जय बोलते हुए मुक्त किया वह इतिहास की एक बहुत अद्भुत कहानी है। गाधी जी का सामाजिक विचार यह था कि परिवार प्राचीन परिवारों की तरह हो और यदि देश को और सन्तानों की जरूरत नही है तो पति-पत्नी को ब्रह्मचर्य से काम लेना चाहिए। कहना न होगा कि यह विचार बहुत ही हास्यास्पद था। यदि पति पत्नी के पास साल में एक बार भी जाए, तो भी वह 12-14 बच्चों का बाप हो सकता है और सम्भव है कि ऐसी हालत मे उसका बाप होना और भी निश्चित हो जाए।

इस सम्बन्ध में एक बात की ओर दृष्टि आकृष्ट की जाए और वह यह कि गाधी जी के इन विचारों के प्रभाव मे रहकर कुमारी अमृतकौर ने सरकारी सतह पर इस सिद्धात को आजमाना चाहा, जिसे यौन विज्ञान में बहुत पहले ही विस्फोटित सिद्धात घोषित किया जा चुका था। वह सिद्धांत यह था कि स्त्रियों के कुछ दिन ऐसे होते है, जब उनका गर्भ धारण नही होता। यदि उस समय पुरुष उनके पास जाए, तो उनको गर्भ नही रहता। यह बात ठीक है, पर प्रत्येक स्त्री के अलग-अलग दिन होते हैं। इसके अतिरिक्त हरेक स्त्री वह दिन जब-तब बदला करती है। ऐसी हालत मे उन निरापद दिनों के आधार पर परिवार नियोजन की चेष्टा करना बिल्कुल ऐसा है जैसे कोई बालू से मकान बनाने की चेष्टा करे। पर इसमें राष्ट्र की गाढी कमाई के न जाने कितने करोड़ रुपये खर्च किए गए और कई साल तक सरकारी सतह पर यह तमाशा चलता रहा। राजकुमारी को जनता की गाढी कमाई के करोडो रुपये एक अवैज्ञानिक कुसंस्कार के लिए होमने का क्या अधिकार था?

अब हम गांधी जी के दूसरे विचार पर आते हैं, जो 1909 मे लिखे हुए हिन्द स्वराज्य नामक पुस्तक मे ही आ चुका था। वह विचार यह था कि हर राष्ट्र को आत्मनिर्भर होना चाहिए और बड़े उद्योग नही होने चाहिए। बल्कि छोटे उद्योगों से ही देश का सारा काम चलना चाहिए। दूसरे शब्दों मे गाधी जी

मुख्यतः भारी उद्योग के विरुद्ध थे, पर स्वतंत्र भारत ने इस नीति पर लात मार दी। नतीजा यह हुआ कि बड़े इस्पात की मिलें खुलीं। केवल यही नहीं, ये इस्पात की मिलें कहा किस प्रांत में हों, इसपर प्रांतों में बराबर बहुत चख-चख और झगड़े चलते रहे। बुखारो के बाद जो इस्पात की मिल होगी वह कहां होगी, कन्नड़-भाषी प्रांत में या आन्ध्र में, इसे लेकर कन्नडभाषियों में और तेलुगुभाषियों में बहुत झगड़े चले, यहां तक कि भारत सरकार के लाखों रुपये मूल्य के इंजन और रेल की पटरियां नष्ट कर दी गईं। आज का भारत यह विश्वास नहीं करता कि भारी उद्योग के सिवाय और भी कोई गति है। जवाहरलाल नेहरू ने गांधी जी का नाम लेकर बराबर उनकी जय बोलते हुए भारत को इस विचार से मुक्त कर दिया। इसलिए वह धन्यवाद के पात्र हैं।

इस प्रकार एक तीसरे विचार को लीजिए जिसे गांधी जी के सबसे बड़े विचार के रूप में प्रचार किया जा रहा है। वह है—अहिंसा-सम्बन्धी विचार। भारत सरकार ने अहिंसा की नीति बिल्कुल त्याग दी है। सच तो यह है कि जब गांधी जी के हत्यारे को फांसी दे दी गई, उसी दिन इस अहिंसा के सिद्धांत का अन्त हो गया। जिस सिद्धांत में यह कहा जाता है कि तूने मेरे एक गाल पर चपत मारी है, तो दूसरा गाल तुम्हारे सामने करता हूं, उस सिद्धांत में किसी भी व्यक्ति के लिए फांसी का कोई स्थान नहीं है। दुःख है कि इस सम्बन्ध में उस समय कोई आवाज नहीं उठाई गई। मैं स्वयं फांसी के विरुद्ध नहीं हूं (लेनिन भी मृत्युदंड को जरूरी समझते थे) या कम से कम यह मौका नहीं है जिसपर कि मैं इस संबंध में अपने विचार रखूं। कई क्षेत्रों में फांसी अच्छी साबित हो सकती है; पर जो भी हो, एक तरफ अहिंसा का नाम लिया जाए और दूसरी तरफ अहिंसा के सबसे बड़े चेले किसी व्यक्ति को अहिंसा के गुरु को मारने के लिए फांसी पर चढ़ा दिया, यही नहीं उनके मुकदमे में कई लोगों को बिल्कुल सब तरह के कानून के विरुद्ध मरते दम तक कैद रखने की कोशिश की गई, यह मेरी समझ में नहीं आता। जो कुछ भी हो, भारत ने एक आधुनिक सैनिक शक्ति बनाई है जिसपर भारत को गर्व है और भारत चाहता है कि उसकी सेना और भी प्रबल हो, जिससे कि वह किसी भी आक्रमणकारी विरोधी को घूंसे का जवाब लात से दे सके। स्वतन्त्र भारत ने इस सेना का निर्माण किया है। रहा अणु बम, उसके सम्बन्ध में सिद्धांत के तौर पर यह तो कहा गया है कि हम उसे नहीं बनाते, क्योंकि ऐसा करना हमारे सिद्धांत के खिलाफ है। यह सरासर लचर और गलत बात है। असली बात यह है कि अणु बम बनाने के लिए जिस आर्थिक स्थिति की आवश्यकता है, वैसी हमारी नहीं है। पर चाहे जितनी मुलम्मेबाजी की जाए सेना तो चाहिए। अणुबम से हम बच नहीं सकते।

इन सारे विचारो में जवाहरलाल नेहरू और सुभाष गाधी जी के विरुद्ध थे और इसके लिए जवाहरलाल की प्रशंसा की जाएगी कि उन्होने गांधी जी का नाम लेते हुए गाधी जी के सारे मुख्य विचारों से भारत को, भारत सरकार को, योजना आयोग को मुक्त कर दिया। बहुत थोडे-से लोग इस रहस्य को समझते है, क्योकि वे ऊपरी सतह को देखते है, भीतरी चीज को नही देखते। दूसरे शब्दो मे कहा जाए, तो जवाहरवाद यह ठहरता है कि मुह से गाधी को सराहते हुए भी आधुनिक समाज-व्यवस्था की ओर बढ़ते रहो। जवाहरलाल ने समाजवाद के साथ भी वही बर्ताव किया, जो वह गाधीवाद के साथ करते रहे—समाजवाद का नाम लेना, पर उसे दूर रखना।

यदि सुभाष प्रधानमन्त्री होते तो इन मामलो मे वह भी वही करते जो जवाहरलाल ने किया, पर वह साथ ही साथ गांधीवाद की भी समाधि खोद जाते। सुभाष बचपन से ही क्रांतिकारियों के असर में थे और सच तो यह है कि बगाल मे किसी भी राजनीतिज्ञ के लिए यह सम्भव नही था कि वह क्रान्तिकारियों के विरुद्ध जाए और बगाल मे राजनीति करे। इसलिए वहा जो लोग गांधी जी के पक्के चेले होने का दावा करते थे, जैसे श्यामसुन्दर चक्रवर्ती आदि लोग वे बगाल मे कभी पनपे ही नही। बंगाल मे शुरू से ही इस सम्बन्ध मे झगडा रहा।

देशबन्धु चित्तरंजन दास की अकाल मृत्यु हुई और सुभाष बाबू बगाल के नेता बने। अवश्य एक दूसरे नेता भी थे, पर उनका बंगाल के युवको पर कोई प्रभाव नही था। सुभाष बाबू जल्दी ही भारत के मुख्य नेताओं मे हो गये। उन्होंने बाकायदा शिक्षक रखकर हिन्दी सीखी और उन्हे बहुत अच्छी हिन्दी बोलना आ गया। अफसोस है कि उनके हिन्दी के भाषण रिकार्ड किए हुए प्राप्त नही है। जो कुछ भी हो, उन्होंने सारे देश मे घूम-घूमकर गर्मदल का प्रचार किया।

'पट्टाभि की हार मेरी हार'

जब सरदार भगतसिह को फासी की सजा हो गई और उस सम्बन्ध में वायसराय से कुछ कांग्रेसी नेताओं के प्रतिनिधि रूप मे गाधी जी का वार्तालाप हुआ तो गाधी जी ने क्या किया यह हम देख चुके। सुभाष चाहते थे कि उन मामलो को लेकर कांग्रेस के अन्दर कोई दल बनाया जाए, पर जवाहरलाल ने उनका साथ नहीं दिया। ऐसे ही कई मामलो मे सुभाष बाबू और जवाहरलाल ने काम एक साथ शुरू किया जैसे इंडिपेंडेंस लीग की स्थापना। जवाहरलाल को कांग्रेस की अध्यक्षता मिली, उन्होंने फिर इंडिपेंडेंस लीग का रास्ता छोड दिया। सुभाष बाबू तो आगे बढ गए पर जवाहरलाल पीछे रह गए। सुभाष का व्यक्तित्व इतना ऊंचा

हो गया कि उन्हें गांधीवादियों की ओर से भी कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। इसके बाद सुभाष बाबू ने यह चाहा कि गाधी जी से कांग्रेस का छुटकारा कराया जाए और इसी रूप मे उन्होंने फिर एक बार काग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव की लडाई की और वह उसमे जीत भी गये। पर गांधी जी को यह बात पसन्द नही आई और उन्होने यह बयान दिया कि पट्टाभि की हार मेरी हार है। इसके बाद उन्होंने जो कुछ किया और जिस रूप मे सुभाष को काग्रेस की गद्दी से उतारा, उसके विषय में ब्यौरे में जाने की जरूरत नही है। यहा तक कि सुभाष को बगाल के नेतृत्व से भी हटा दिया। बल्कि काग्रेस की चार आने की मेम्बरी से भी निकाल दिया गया। कोई और व्यक्ति होता तो उसका राजनैतिक जीवन वही नष्ट हो जाता, पर सुभाष का व्यक्तित्व ऐसा था और उनमे ऐसी अदम्य देशभक्ति, साथ ही नवनवोन्मेष की सामर्थ्य थी कि वह इससे विचलित नही हुए। उन्होंने इसके बाद रामगढ मे समझौता विरोधी सम्मेलन किया जो, हम देख चुके, रामगढ कांग्रेस से भी अधिक सफल रहा और इसके बाद वह निरन्तर इस बात मे,जुट गये कि सारे देश में उस समझौते के विरुद्ध आन्दोलन किया जाए। अब सुभाष का जवाहर से एकदम अलगाव हो चुका था। इसीके बाद द्वितीय महा-युद्ध आ गया और सुभाष को कैद कर लिया गया। कैसे वह कैद से पैरोल पर छूटे और किस प्रकार उन्होंने चुपके-चुपके दाढी बढ़ाई और किस प्रकार वह पेशावर के रास्ते बर्लिन पहुचे और वहा से किस प्रकार सबमेरिन से सिंगापुर पहुंचे और एक दूसरे क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस के नेतृत्व मे संगठित आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया, कैसे उन्होंने उसको सगठित किया यह हम बता चुके है। उसके ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही है।

आजाद हिन्द फौज के कारण भारत स्वतन्त्र हुआ

सबसे बड़ी बात इस संबंध में यह है कि जैसे सुभाष को गांधीजी ने, जवाहर लाल नेहरू ने, गोविन्दवल्लभ पन्त ने तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं ने काग्रेस से निकाल दिया और यह चेष्टा की कि उनका राजनैतिक जीवन समाप्त हो जाए, वही सुभाष बाबू कैसे इतने महत्त्वपूर्ण हो गये कि उनकी आजाद हिन्द फौज ने ब्रिटिश साम्राज्य को अन्तिम धक्का दिया, यह इतिहास की कहानी है। सभी अंग्रेज अफसरों ने भी यही कहा है। महामत्री एटली ने एक भारतीय जज को यही कहा कि हमारी फौज पर हमें भरोसा नही रहा, इस कारण हम चले गए।

आजाद हिन्द फौज का भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जो दान है वह बहुत ही बडा है। आजाद हिन्द फौज फौज के रूप मे तो भारत पर कब्जा नही कर सकी, कारण उसकी जय-पराजय जापानी सेना से बंधी हुई थी, पर आजाद हिन्द

फौज के अफसरों पर जो मुकदमे दिल्ली के लाल किले में चले, उनका नतीजा यह हुआ कि बल्कि यह कहना चाहिए कि उसमें से कुछ ऐसी शक्तियां निकली कि अब ब्रिटिश सरकार के लिए भारत में रहना असम्भव हो गया। बात यह है कि अब सरकार भारतीय फौज पर विश्वास नहीं कर सकती थी।

इसके कारण ब्रिटिश सरकार को यह संकल्प करना पड़ा कि वह भारत छोड़कर चली जाए। इसके अलावा एक दूसरा कारण भी था, वह यह था कि अंग्रेजों ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि क्रान्तिकारी शक्तियां बहुत प्रबल हो रही हैं। केवल अंग्रेज फौज की बदौलत 2-4 साल और भारत में रहा जा सकता था, पर उस हालत में जाते समय राज्य की बागडोर क्रान्तिकारियों और आजाद हिन्द फौजियों के हाथों में छोड़कर जाना पड़ता।

इसी कारण ब्रिटिश सरकार ने यह तय किया कि वह भारत छोड़कर चली जाए। और देश का विभाजन कर मुस्लिम लीग और कांग्रेस को शक्ति सौंपी जाए। दूसरे शब्दों में इसी कारण स्वतन्त्रता आई।

यहां यह स्पष्ट बता दिया जाए कि यह जो निरन्तर प्रचार कार्य किया जा रहा है और जिसको पाठ्य-पुस्तकों में मां के दूध के साथ बच्चों को पिलाया जा रहा है कि भारत को कांग्रेस दल ने स्वतन्त्र किया यह एक बहुत ही मूर्खतापूर्ण और अनैतिहासिक बात है। गांधी शताब्दी के बहाने इसपर जोर दिया गया था, क्योंकि इससे चुनाव जीतने में फायदा है, पर यह बिल्कुल असत्य है। सच बात तो यह है कि 1942 में जो आन्दोलन कांग्रेस ने चलाया था, वह कांग्रेस के हाथों से निकल गया था और वह क्रान्तिकारी ढंग से चला था। फिर भी वह आन्दोलन दबा दिया गया था। या यों कहना चाहिए कि वह आन्दोलन अण्डरग्राउण्ड चला गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भीतर ही भीतर ज्वालामुखी भभक रही थी। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने छूटते ही यह बताया था कि 1942 में जो आन्दोलन चला यानी उसने बाद को जो रूप लिया उसमें उनका सम्पूर्ण विरोध था। दूसरे शब्दों में गांधी जी के आन्दोलन क्रान्तिकारी रूप के विरुद्ध थे। इसलिए यदि 1942 का कोई श्रेय मिलना है तो कांग्रेस को भी मिलेगा और क्रान्तिकारियों को भी। इसमें आकर दोनों धाराएं मिल गईं।

जो कुछ भी हो, भारत को स्वतन्त्र कराने में अन्तिम धक्का आजाद हिन्द फौज के अफसरों पर चलने वाले मुकदमे ने दिया। इसके अलावा चेन-रिएक्शन यानी एक के बाद इनकी कड़ियां मिलती चली गईं। नौसैनिक विद्रोह तथा बहुत-से विस्फोट हुए जिनके सम्बन्ध में यहां हम ब्यौरे में नहीं जाएंगे।

क्रान्ति के अनुयायियों का राज्य नहीं हुआ इसलिए स्वाभाविक रूप से उनको बहुत महत्त्व नहीं दिया जाएगा। पर आशा है इतिहास बाद को चलकर दूध का दूध और पानी का पानी कर देगा। स्वतन्त्र भारत क्रान्तिकारियों को कभी भुला

नही सका और, भगतसिंह-आजाद जिस रूप मे भारत को देखते थे या यों कहा जाए कि क्रान्तिकारी जिस रूप में भारत को देखते थे, स्वतन्त्र भारत उसी तरफ लुढकता हुआ ही सही, उसीकी तरफ जा रहा है और जाएगा। इसमे यदि कोई बाधा है तो वह है शोहदा मार्का राजनीति। पर वह बाधा अब बहुत दिनो तक सामने नही रह सकती।

इक्कीसवा अध्याय

पूर्णाहुति—गणेशशंकर विद्यार्थी

क्रांतिकारी विचारों के इस इतिहास को सर्वांगपूर्ण करने के लिए गणेशशकर विद्यार्थी को इसमे स्थान देना बहुत आवश्यक है। यो तो यह कालक्रम से हमारा सत्रहवा अध्याय होता। पर यहा दिया जा रहा है।

गणेशशकर विद्यार्थी दो कारणो से अमर रहेंगे। एक तो उन्होने भारतीय, विशेषकर, हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र मे बहुत उच्च नैतिक आदर्श स्थापित किए और उन आदर्शो की रक्षा के लिए अन्त तक कष्ट उठाते रहे। सच्ची बात तो यह है कि उनका एक पैर जेल मे रहता था। दूसरे वह हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करते हुए, रपट पड़े तो हर गगा ढग से नही, जान-बूझकर शहीद हो गए।

पर यह दुख की बात है कि उनके चलाए हुए पत्रकारिता के आदर्श आज डांवाडोल है और पाकिस्तान बन जाने से दूसरा आदर्श भी खटाई मे पड गया, क्योंकि पाकिस्तान मुस्लिम स्वार्थ से नही, एक महाशक्ति का एजेण्ट बनकर भारतीय मुसलमानों को भड़का रहा है ताकि भारत भी घबडाकर उस महाशक्ति की गोद मे चला जाए। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी भारत के कुछ मुसलमान नही चेत रहे है। फिर भी आदर्श आदर्श ही हैं। वे कभी तो पूरे होंगे।

गणेश जी पर जवाहरलाल

गणेश जी पर प्रकाशित बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित पुस्तक की भूमिका मे जवाहरलाल नेहरू ने सुन्दर शब्दो में गणेशजी के जीवन का सार लिखा था, जो इस प्रकार है:

"गणेश जी जैसे जिए, वैसे ही मरे और अगर हममे से कोई आरज़ू करे और अपने दिल की सबसे प्यारी इच्छा पूरी करना चाहे, तो इससे अधिक क्या मांग

सकता है कि उसमें इतनी हिम्मत हो कि मौत का सामना अपने भाइयों की और देश की सेवा में कर सके, और इतना खुशकिस्मत हो कि गणेश जी की तरह मरे। वह शान से जिए और शान से मरे और उन्होंने मरकर जो सबक सिखाया, वह हम बरसों जिन्दा रहकर क्या सिखाएंगे !"

गणेशशंकर एक महान योद्धा नेता थे। उन्होंने 1923 में फतेहपुर जिला राजनैतिक सम्मेलन का नेतृत्व करते हुए कहा था, "मैं संग्राम का पक्षपाती हूं। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूं। फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो या जमींदारों की, धनवानों की हो या ऊंची जातियों की।" इस सम्बन्ध में उन्होंने 29 जनवरी को अपनी डायरी में लिखा था, "जीवन-भर अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा। ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूं।"

संघर्षमय जीवन

उनका जीवन बहुत ही संघर्षमय रहा, यहां तक कि उच्च शिक्षा पाने की इच्छा होते हुए भी गरीबी के कारण वह उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सके। यों तो वह पढ़ते रहे-पढ़ते रहे, यह दूसरी बात है; और उनका साथ भी अच्छे लोगों से रहा जैसे महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'कर्मयोगी'-सम्पादक सुन्दरलाल आदि। इसमें सन्देह नहीं कि वह हर मौके पर बड़े धैर्य और अभिनिवेश से काम लेते रहे। उनके सामने हर समय यही आदर्श रहा करता था :

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

यानी अभी मौत आए या युगान्तर में, धीर व्यक्ति सही रास्ते से नहीं डिगते। यदि यह कहा जाए कि वह इसी आदर्श पर जिए और इसी आदर्श के लिए मरे तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जेल विश्वविद्यालय बनी

उन्हें अपने राजनैतिक कार्यों के दौरान बार-बार जेल जाना पड़ा और यह जेल-यात्रा ही उनके लिए विश्वविद्यालय बन गई। उनके जीवनीकार देवव्रत शास्त्री लिखते हैं, "उन्हें साहित्य में भी बहुत रस मिलता था और वे साहित्यिक पुस्तकों को भी बड़ी रुचि के साथ पढ़ते थे। और तो और, 40 वर्ष की उम्र में—स्वर्गवास के तीन-चार मास पहले—जबकि वह हरदोई जेल में थे, उन्होंने वर्नडेगा, अपटन सिन्क्लेयर आदि विदेशी लेखकों की अनेक पुस्तकें तथा श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' नामक ग्रंथ मंगाकर पढ़ा था। जेल में उन्होंने खूब अध्ययन किया। सैकड़ों पुस्तकें पढ़ डालीं। हरदोई जेल से आई हुई सब चिट्ठियों से मैंने देखा कि हर दफे 10-15 पुस्तकें भेजने और लौटाने की बात लिखी रहती

थी। शेली, स्टुअर्ट मिल, स्पेंसर, ब्राउनिंग, अपटन सिन्क्लेयर, बर्नर्डशा, अनातोले फ्रांस, बालजक, एच० जी० वेल्स आदि विदेश के सभी प्रमुख राजनैतिक और साहित्यिक लेखकों की पुस्तकें उन्होंने पढी थी, और जो नई निकलती थी, मगाकर पढ़ते रहते थे। विदेशी लेखकों मे विक्टर ह्यूगो पर तो वह फिदा थे। उसकी तारीफ करते कभी अघाते न थे।"

आजीवन विद्यार्थी

साधारण पाठकों को अक्सर यह कौतूहल होता है कि विद्यार्थी जी अपने नाम के आगे 'विद्यार्थी' शब्द कैसे लगाते रहे। इस सम्बन्ध मे लेखक ने उसका उत्तर दिया है, "विद्यार्थी जी अपने नाम के साथ 'विद्यार्थी' क्यों लिखते थे, इसका रहस्य भी यहां बतला देना अप्रासगिक न होगा। उनका विचार था कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन-भर विद्यार्थी ही है, साधक है। जिन्दगी-भर वह कुछ न कुछ बराबर सीखता ही रहता है, फिर भी उसके ज्ञान का भण्डार पूरा नही होता। ससार की सुविशाल पाठशाला मे आजीवन शिक्षालाभ करते रहने पर भी मनुष्य का ज्ञान-भण्डार परिपूर्ण नही होता, वास्तव मे वह आचार्य नही हो पाता, विद्यार्थी ही बना रहता है। इसी विचार को ध्यान मे रखकर विद्यार्थी जी अपने नाम के साथ आजीवन 'विद्यार्थी' शब्द लिखते रहे। विद्यार्थी शब्द के इस महान अर्थ को समझने और उसके अनुसार आचरण करने वाले विद्यार्थी जी पहले व्यक्ति थे।" इसके साथ बेकन के वक्तव्य की तुलना करें। बेकन कहते है, "अध्ययन से व्यक्ति में पूर्णता आती है, वाद-विवाद से व्यक्ति प्रत्युत्पन्नमति बनता है और लिखने से व्यक्तित्व के कोण सुन्दर हो जाते है।"

पत्रकारिता का आदर्श

मैंने इस लेख के प्रारम्भ मे ही यह कहा है कि विद्यार्थी जी का दान मुख्यत: दो क्षेत्रो मे था, जिनमे एक क्षेत्र पत्रकारिता का है। वह बहुत ही ईमानदार पत्रकार थे। लेखक ने इसका बहुत लम्बा ब्योरा दिया है, पर थोडा-सा इस प्रकार है:

"वह इस बात का बहुत ख्याल रखते थे कि 'प्रताप' मे कोई ऐसी चीज न प्रकाशित हो जिसे उसके पाठक अच्छी तरह समझ ही न पाए और जिससे उनकी रुचि बिगड़ती हो। कई दफे ऐसा मौका आया कि हम लोग लेख और कविताए, खासकर कविताएं, सम्पादित करके उनके पास ले गए, कम्पोज होने के लिए देने से पहले प्राय: सब मैटर वह एक बार देख लेते थे, और उन्होंने उनमे जिसे क्लिष्ट देखा, छपने से रोक दिया। एक दफे हमारे एक सहकारी मित्र ने एक कविता प्रकाशनार्थ देनी चाही। नियमानुसार विद्यार्थी जी ने सब मैटर के साथ उस कविता को देखा। उन्होंने उस कविता का अर्थ उन महाशय से पूछा। वह कुछ सन्तोषजनक अर्थ बता

न सके। उन्होंने उसे निकालकर उसकी जगह दूसरी कविता देने को कहा। भाई बालकृष्ण जी को उस कविता का अर्थ मालूम था। कविता वास्तव में थी भी अच्छी, अतः उन्होंने उसे देने पर जोर दिया। विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया, 'भाई, जिस कविता को हम लोग नही समझते, उसको हमारे अधिकांश पाठक नही समझ सकते। ऐसी कविता अच्छी होने पर भी हमारे किस मतलब की?'

"तहकीकात कर चुकने के बाद वह सत्य और न्यायपूर्ण बात के प्रकाशन करने में कभी हिचकते न थे। जाच के बाद तो वह बड़ी से बड़ी विपत्ति का भी प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करते थे। सम्पादकीय कर्त्तव्य से इस अग का प्रतिपालन गणेश जी ने अपना तन-मन सब कुछ न्यौछावर करके किया। लोकसेवा का यह कर्त्तव्य सम्पादक का सबसे बडा कर्त्तव्य है, और गणेश जी ने बड़ी से बड़ी कीमत देकर भी इसका आजन्म पालन किया। इस दिशा में वह लासानी थे। अपनी इसी कर्त्तव्य-परायणता के कारण उन्हें न जाने कितनी बार जेल जाना पडा, जमानतें देनी और जब्ती तक करवानी पड़ी, न जाने कितने जमींदारों, ओहदेदारों, राजो और महाराजो की नाराजगी उठानी पड़ी और न जाने क्या-क्या कष्ट सहने पड़े। इस प्रकार के समाचार पाकर लोग अपना उल्लू सीधा करने की ताक में रहते है, मगर गणेश जी के उदात्त विचारो में इस प्रकार की गन्दगी कभी नही आई। वह बड़े से बड़े प्रलोभनों से भी विचलित नहीं हुए। पत्रकार के लिए अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा और भी अधिक से अधिक जानकारी हासिल करने के लिए उत्सुक रहना विशेष गुण समझा जाता है।"

पत्रकारो को श्री विद्यार्थी द्वारा चेतावनी

स्वय विद्यार्थी जी पत्रकारिता के सम्बन्ध में जो कुछ सोचते थे यह हमारे लेखकों, पत्रकारों और सम्पादकों के लिए बहुत ही मननीय है :

"ससार के अधिकाश समाचारपत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने मे उतने ही लगे हुए है, जितने कि ससार के बहुत-से चरित्र-शून्य व्यक्ति। अधिकाश बड़े समाचारपत्र धनी-मानी लोगो द्वारा सचालित होते है। इसी प्रकार के संचालन के लिए वे हर तरह के हथकण्डो से काम लेना नित्य का आवश्यक काम समझते है। इस काम मे वे इस बात का विचार करना आवश्यक नही समझते कि सत्य क्या है। सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते है। संसार-भर मे यह हो रहा है। इने-गिने पत्रों को छोडकर, सभी पत्र ऐसा कर रहे है। जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना पेशा बना रखा है, उनमें ऐसे बहुत कम लोग है, जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हो कि हमें सचाई की भी लाज रखनी चाहिए, केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन-भर मे कई रग बदलना ठीक नही

है। इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचारपत्रो और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है। हिन्दी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिचती जा रही है। यहां भी अब बहुत-से समाचारपत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे है। एक समय था जब इस देश मे साधारण आदमी सर्वसाधारण के हितार्थ एक ऊची भावना लेकर पत्र निकालता था, और उस पत्र को जीवन-क्षेत्र में स्थान मिल जाया करता था। आज वैसा नही हो रहा है। आपके पास जबरदस्त विचार हों, और पैसा न हो, और पैसे वालों का बल न हो, तो आपके विचार आगे न फैल सकेंगे, आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचारपत्रों का आधार धन होता जा रहा है। धन ही से वे निकलते है, धन ही के आधार पर वे चलते हैं, और बडी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत-से पत्रकार भी धन ही की कामना करते हैं। अभी यहां पूरा अन्धकार नही हुआ है, किन्तु लक्षण वैसे ही है। कुछ ही दिन पश्चात् यहां के समाचारपत्र भी मशीन के सदृश हो जाएंगे, और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुर्जे। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफतों के बुलाने की चाह न रहेगी, रह जाएगा केवल खीची हुई लकीर पर चलना। मैं तो उस अवस्था को अच्छा नही कह सकता। ऐसे बडे होने की अपेक्षा छोटे, और छोटे से भी छोटे, किन्तु कुछ सिद्धान्तो वाले होना कही अच्छा। पत्रकार कैसा हो, इस सम्बन्ध में दो रायें है। एक तो यह कि उसे सत्य या असत्य, व न्याय या अन्याय के झगड़े मे नही पडना चाहिए। एक पत्र मे वह नरम बात कहे, तो बिना हिचक; दूसरे में वह गरम कह सकता है, जैसा वातावरण देखे, वैसा करे, अपने लिखने की शक्ति से डटकर पैसे कमाए, धर्म और अधर्म के झगडे मे न अपना समय खर्च करे और न अपना दिमाग ही। दूसरी राय यह है कि पत्रकार की अपने समाज के प्रति बडी जिम्मेदारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का विचार रखकर लिखे, और अपनी मति-गति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं, लोकसेवा ही उसका ध्येय है, और अपने काम से जो वह कमाता है, वह ध्येय तक पहुंचने के लिए एक साधन मात्र है। संसार के पत्रकारों मे दो तरह के आदमी है। पहले दूसरी तरह की पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में पहली तरह के। उन्नति समाचारपत्रों के आकारो-प्रकारों मे हुई है। खेद की बात है कि उन्नति आचरणों में नहीं हुई। हिन्दी के समाचारपत्र भी कथित उन्नति के राजमार्ग पर आगे बढ रहे है। मैं हृदय से चाहता हूं कि उन्नति उधर हो या न हो, किन्तु कम से कम वे आचरण के क्षेत्र में पीछे न हटें, और जो सज्जन इन पंक्तियों को पढ़ें, वे आचरण-सम्बन्धी आदर्श को सदा ऊंचा समझें। पैसे का मोह और बल की

पूर्णाहुति—गणेशशंकर विद्यार्थी

तृष्णा भारतवर्ष के किसी भी नये पत्रकार को ऊंचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।"

प्रेमचन्द का आदर्श यही था

यहां यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि प्रेमचन्द भी इसी आदर्श को लेकर चले। उनका साहित्य केवल रेल की यात्रा करने का सम्बल नहीं है, वह पाठक का मनोरंजन करने के साथ (और यह बहुत जरूरी गुण है) उसे गहराई में जाकर सोचने को और अपने को बदलने को विवश करता है। पहले चिन्तकों का काम इतना-भर रहा कि वे जगद्व्यापार की कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा लाकर जैसे-तैसे एक व्याख्या प्रस्तुत करें, पर क्रांतिकारी चिन्तक समाज को आमूलचूल बदलने के लिए एक मुकदमा प्रस्तुत करना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य यह है कि वह जिस जगत् में आया, वह उसे उससे कुछ बेहतर बनाकर छोड़ जाए, चाहे वह ऐसा एक पेड़ लगाकर ही करे। 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास में प्रेमचन्द क्रांति की व्याख्या राजनैतिक परिवर्तन के आगे बढ़कर इस रूप में करते हैं :

"ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों, झूठे सिद्धांतों, परिपाटियों का अन्त कर दे, जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे।"

अफसोस है कि विद्यार्थी और प्रेमचन्द के आदर्श पर आज के लेखक-पत्रकार न चलकर सनसनीवाद, सेक्स का सुविधावादी रास्ता अपना रहे हैं।

क्रांतिकारियों से हेलमेल

स्वयं विद्यार्थी जी कांग्रेसी थे, पर वे इतने कट्टर नहीं थे कि दूसरे देशभक्तों, जैसे क्रान्तिकारियों, के प्रति उदासीन रहते। विद्यार्थी जी कभी षड्यन्त्रकारी नहीं रहे। वह षड्यन्त्रकारी लोगों को सदा इस पथ की कठिनाइयां समझाते थे। यह सब मानते हुए भी उनकी सहानुभूति सदा उनके साथ रहती थी। वह क्रान्तिकारी षड्यन्त्रकारियों के साहस, त्याग और देश-प्रेम को बड़ी इज्जत की नजर से देखते थे। उनका विचार था कि जिस समुदाय का जिस मार्ग में विश्वास हो, देश को आजाद करने के लिए वह अगर उस मार्ग का अनुसरण करता है, तो कोई पाप नहीं करता। हां, उसे समझाकर स्वराज्य का जो सबसे अधिक प्रशस्त मार्ग—अहिंसात्मक युद्ध है, उसपर लाने की चेष्टा करनी जरूर चाहिए, पर यदि वह समुदाय इस तरफ न मुड़े तो उसके विश्वास के अनुसार कार्य करने में बाधा भी नहीं डालनी चाहिए। पहले तो उन्हें अहिंसावाद पर विश्वास न था, पर बाद में वह इसके बड़े हामी और महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी हो गए। फिर भी विनि-

ग्रस्त षड्यन्त्रकारियों की मदद करना भी वह अपना कर्तव्य समझते थे। उनके मुकदमों की पैरवी और उनके माता-पिता और सम्बन्धियों की सहायता आदि के लिए वह सदा तत्पर रहते थे। मैनपुरी षड्यन्त्र मुकदमा, काकोरी षड्यन्त्र मुकदमा आदि के अभियुक्तों के मुकदमों की पैरवी तथा उनके प्रति लोगों की सहानुभूति आकृष्ट करने के लिए उन्होंने बड़ी कोशिश की थी। षड्यन्त्र के इन मुकदमों की महत्ता विद्यार्थी जी और उनके 'प्रताप' ने ही लोगों को बतलाई तथा शुरू से आखिर तक अभियुक्तों को बचाने, उन्हें न्याय दिलाने की शक्ति-भर चेष्टा की। काकोरी के शहीद श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल', रोशनसिंह आदि के माता-पिता को वह अपने अन्तिम समय तक मदद पहुंचाते रहे। इन नौजवानों के लिए भी गणेश जी के हृदय में कितना प्रेम था, वह निम्नलिखित वर्णन से भली भांति प्रकट हो जाएगा।

"काकोरी मुकदमे के सजायाफ्ता नौजवानों ने अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहारों के कारण सन् 1927 ई० में विभिन्न जेलों में अनशन शुरू कर दिया। इन अनशनकारियों में राजकुमारसिंह, रामकृष्ण खत्री, मुकुन्दीलाल, विष्णुशरण दुबलिस थे। विद्यार्थी जी दस दिन, पन्द्रह दिन, बीस दिन, पच्चीस दिन देखते रहे, पर सरकार टस से मस न हुई। विद्यार्थी जी ने होम मेम्बर को चिट्ठियां लिखीं, तार भेजे, कि जनाब और कुछ न सही, इन्सानियत के ही नाते इन नौजवानों पर रहम खाकर प्राण बख्शे जाएं। पर कुछ भी न हुआ। चालीस-चालीस, पैंतालीस-पैंतालीस दिन हो गए, मौत की नौबत पहुंच गई, फिर भी जब कुछ होते न देखा तो विद्यार्थी जी का कोमल हृदय कांप उठा, उन्हें उनके अनशन बन्द कराने की सूझी, क्योंकि उनकी प्राणरक्षा का अब कोई तरीका रह नहीं गया था। फतेगढ़ जेल दौड़े हुए गए और बहुत समझा-बुझाकर श्री योगेश चटर्जी, श्री गोविन्दचरण कर और श्री रामदुलारे का 41 दिन के उपवास के बाद अनशन बन्द करवाया। उसके बाद नैनी जेल गए और उपवास के 47वें दिन श्री विष्णुशरण दुबलिस, मन्मथनाथ का अनशन बन्द करवाकर इनकी प्राणरक्षा की। आगरा तथा बरेली जेल में रहने वालों के पास भी वह जाने ही वाले थे, पर इन दोनों जगहों के भाइयों के अनशन बन्द करने की बात सुनकर उन्होंने स्वयं ही अनशन बन्द कर दिया। इसी प्रकार 1929 ई० में जब लाहौर षड्यन्त्र केस के सरदार भगतसिंह, श्री बटुकेश्वर दत्त आदि अभियुक्तों को अनशन करते दो-दो मास से भी अधिक हो गए थे, तो आप वहां भी दौड़े हुए गए और उन लोगों का अनशन भी बन्द कराने की पूरी चेष्टा की।"

उनकी इन यात्राओं का उद्देश्य था कि प्राणरक्षा हो, साथ ही जिस कारण अनशन हो रहा था, वह सिद्ध हो।

धार्मिक विचारों में क्रान्ति का पुट

उनके धार्मिक विचार भी बहुत उदार थे। वह ईश्वरवादी थे, पर वह मन्दिर में जाकर मूर्ति-पूजा नहीं करते थे, सुबह-शाम आसन पर बैठकर सन्ध्या-गायत्री का जप अथवा हवन भी नहीं करते थे, चन्दन-टीका लगाने अथवा रुद्राक्ष की माला फेरने के भी हामी न थे, और न वह हिन्दुओं के 33 करोड़ देवताओं के ही भक्त थे। वह न आर्यसमाजी थे और न आजकल कहे जाने वाले सनातन धर्मावलम्बी, न जैनी थे और न बौद्ध धर्मावलम्बी, उन्हें न इस्लाम धर्म से घृणा थी और न ईसाई मजहब से विद्वेष, वह न कबीर-पन्थ को बुरा मानते थे और न राधास्वामी सम्प्रदाय को अग्राह्य।

व्यावहारिक क्षेत्र में वह बहुत ही उदार थे। एक बेड़िया (कथित अछूत) के पीछे पुलिस वाले बुरी तरह पड़े थे। उसे बहुत तंग करते थे। उन्होंने लिखा-पढ़ी करके उसे पुलिस के चंगुल से बचाने के लिए 'प्रताप' प्रेस में बुलाकर ठहरा लिया। प्रेस के कर्मचारी उसका छुआ हुआ पानी नहीं पीते थे, इससे स्पष्ट है कि 'प्रताप' में रहकर भी उपसम्पादक आदि कितने पोंगा थे, पर विद्यार्थी जी को जब पानी पीना होता सहज ही उससे मंगवाकर पीते थे। जब भी मौका पड़ता, मुसलमानों के साथ भी वह बैठकर खाया करते थे। वह अपने समय की दृष्टि से बहुत बड़े क्रांतिकारी थे।

छुआछूत के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए अक्सर वह कहा करते थे कि कारखानों में काम करने वाले हिन्दू मजदूर तो दिन-भर छू जाने के भय से भुने हुए चनों पर गुजर करते हैं, पर मुसलमान मजदूर अपने साथ रोटी और तरकारी ले जाते हैं और मजे से खाते-पीते हैं। फलस्वरूप मुसलमान तो सबल और सतेज रहते हैं, पर हिन्दू मजदूरों का शरीर दिन-दिन सूखकर काटा हो जाता है और वे थोड़े ही दिनों बाद बेकार हो जाते हैं।…धर्म उनको ऐहिक रूप से हानि पहुंचाता था, यह तो प्रत्यक्ष था।

महान बलिदान

उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है, उनकी शहादत। अब बहुत-से लोग उनकी शहादत की बात भूल गए हैं, इसलिए मैं उसका कुछ ब्योरा उद्धृत करता हूं।

■ 23 मार्च को भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु को फांसी होने के कारण सारे भारत का वातावरण क्रान्तिकारी हो गया। कैसे कानपुर में इस वातावरण को हिन्दू-मुस्लिम दंगे में बदल दिया गया, यह इतिहास का एक अनोखा अध्याय है। 24 मार्च, मंगलवार 1931 ई०, चैत्र सुदी 5, सं० 1988 को कानपुर में

हिन्दू-मुस्लिम दंगा शुरू हुआ। विद्यार्थी जी निकले और झगड़े के स्थानों मे पहुच-कर लोगो को शान्त करने, उनकी प्राण-रक्षा करने और उनके मकानो और दुकानों को जलने एवं लुट जाने से बचाने की कोशिश करने लगे। शाम तक वह इसी धुन मे मारे-मारे फिरते रहे।

" इसी बीच उनसे लोगों ने मुसलमानी मोहल्लों मे हिन्दुओ पर होने वाले अत्याचारों का हाल कहा। यह जानते हुए भी कि जहा की बात कही जा रही है, वहां मुसलमान ही मुसलमान रहते है और वे इस समय बिलकुल धर्मान्ध होकर पशुता का ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं, विद्यार्थी जी निर्भीकता के साथ उधर चल पड़े। उन्होंने रास्ते मे मिश्री बाजार और मछली बाजार के हिन्दुओं को बचाया और वहां से चौबे-गोला पहुचे। वहां पर उन्होंने विपत्ति मे फसे हुए बहुत-से हिन्दुओं को सुरक्षित स्थानों मे भेजा और औरो के विषय मे पूछ ही रहे थे कि मुसलमानों ने उनपर और उनके साथ के स्वयसेवकों पर हमला करना चाहा। इस समय उनके साथ दो हिन्दू और एक मुसलमान स्वयसेवक थे। मुसलमान स्वयसेवक के यह कहने पर कि 'पडित जी को क्यों मारते हो, उन्होंने तो सैंकडों मुसलमानों को बचाया है', भीड ने उन्हें छोड दिया। थोडी ही देर बाद मुसलमानों के एक दूसरे गिरोह का एक आदमी आगे बढ़ा। मुसलमान स्वयंसेवक ने उसे भी समझाया कि 'पडित जी ने सैंकडों मुसलमान भाइयों को बचाया है, इन पर वार न करो,' पर उसने इसपर विश्वास न किया और भीड को विद्यार्थी जी को मारने का इशारा कर दिया। इसी समय कोई एक सज्जन विद्यार्थी जी को बचाने की गरज से, उन्हें गली की ओर खीचने लगे। इसपर विद्यार्थी जी ने उनसे कहा, 'क्यों घसीटते हो मुझे? मैं भागकर जान नही बचाऊगा। एक दिन मरना तो है ही। अगर मेरे मरने से ही इन लोगो के हृदय की प्यास बुझती हो, तो अच्छा है कि मैं यही अपना कर्तव्य पालन करते हुए आत्म-समर्पण कर दू।' विद्यार्थी जी यह कह ही रहे थे कि चारो ओर से उनपर और स्वयसेवकों पर मुसलमान लोग टूट पड़े। लाठियां भी चली, छुरे भी चले और न जाने किन-किन अस्त्रों के वार हुए। मुसलमान स्वयंसेवक को थोडी मार के बाद मुसलमान समझकर छोड दिया गया। दोनों हिन्दू स्वयंसेवक बुरी तरह घायल हुए। इनमे श्री जवाहरलाल नामक एक स्वयसेवक तो वही स्वर्गवासी हुए, पर दूसरे की जान बच गई। विद्यार्थी जी को कितनी चोट लगी, वह कितनी देर बाद मरे और वहां से उनकी लाश को कब, कौन, कहां ले गया, इसका कुछ भी ठीक-ठीक पता आज तक नही चला।"

अन्तिम समय की वीरता

श्री शंकरराव टाकलीकर नामक जो दूसरे हिन्दू स्वयसेवक अन्त तक विद्यार्थी जी के साथ थे और जो बच गए, उनका बयान इस प्रकार है, "वह

(विद्यार्थी जी) मैदा बाजार की ओर बढ़े। साथ के मुसलमान स्वयंसेवक लोगों के घर बतलाते जाते और दूसरे स्थानो मे ले जाते। वहां से वह नये चौक गए। वहा मुसलमानो का जोर था। वहां के हिन्दुओं की रक्षा की गई। कुछ मुसलमानों की रक्षा भी की गई। इसी बीच एक भयभीत हिन्दू दौडता हुआ आया और बोला, 'मेरे घर के आदमी करीम की चक्की के पीछे घिरे है, दया करके उन्हे निकलवा दीजिए।' वह वही चल दिए। जब वह करीम की चक्की वाली गली मे पहुचे, तो देखा कि वहा हथियारबन्द मुसलमानो की भीड खड़ी है। सबको पीछे रोककर वह आगे बढे और वहा के उत्तेजित मुसलमानों को समझाने लगे। उन्होंने एक मुसलमान स्वयसेवक के साथ आगे बढकर इस व्यक्ति के घर वालों को बचाया। उनके मना करने पर भी हम लोग उनके पीछे चल दिए। साथ के मुसलमान सज्जन ने वहा के मुसलमानो से विद्यार्थी जी का परिचय कराया। उन्होने बतलाया कि उन्होंने (विद्यार्थी जी ने) 200 मुसलमानों की रक्षा की है। इसपर सब चुप रहे। लोगो ने हाथ मिलाया और सलाम किया। वहा के पीड़ित परिवारो की रक्षा कर उन्हे दूसरी जगह भिजवा दिया। अब वहा से मूलगज और लाठी मुहाल के मुसलमानो की रक्षा के लिए जाने का निश्चय हुआ। इतने ही मे एक मुसलमान आगे बढा और उसने विद्यार्थी जी पर वार करना चाहा। साथ के मुसलमान स्वयसेवक ने उसे रोका और विद्यार्थी जी का परिचय कराया। वह बिगडकर कहने लगा, 'यहा के हिन्दुओं को निकालने पहुच गए, लेकिन बगाली मोहाल मे फसे मुसलमानों की आपने रक्षा क्यों नही की?' मुसलमान स्वयसेवक ने उसे समझाया कि पण्डित जी ने वहां के बहुत-से मुसलमानों को बचाया है, और उन्हे पटकापुर भेज दिया है। उसने इसपर विश्वास नही किया, और अपने साथियो से कहा, 'मारो इन सालों को।' इतना कहते ही सब मुसलमान लाठिया, काते, बल्लम, कटार आदि ले-लेकर वार करने लगे। इस समय उनके पास एक मुसलमान और दो हिन्दू स्वयसेवक थे। उन्होने सिर झुका दिया। आततायियो के हृदय में लेश-मात्र भी दया का सचार न हुआ। वार हुए। एक हिन्दू स्वयसेवक मारा जा चुका था। मै घायल पड़ा था। मुसलमान स्वयसेवक पर मुसलमान होने के कारण थोडी ही मार पडी, वह छोड दिया गया। विद्यार्थी जी के सिर पर लाठी पडी। खून निकलने लगा। मुझे चक्कर आ गया। मैं विद्यार्थी जी का नाम लेकर चिल्ला पडा। इसपर किसीने पीछे से आवाज दी, 'गणेश जी जहन्नुम मे गए।' इस समय मुझपर फिर लाठिया पड़ी। एक वृद्ध मुसलमान ने दया करके मुझे घसीटकर पास की गली मे डाल दिया। मैं बेहोश हो गया। होश आने पर अपनेको सरदार नारायणसिह के मकान मे पाया।"

मरने के वाद लाश सड़ती रही

मारने के वाद मुसलमानो ने उन्हे शीघ्र ही वहा से हटाकर किसी मकान मे छिपा दिया और दो-तीन दिन वाद जव कि लाश फूलकर वहुत वदसूरत हो गई और पहचाने जाने लायक नही रही तव उन्होने उसे किसी प्रकार और लाशो के साथ मिलाकर अस्पताल मे भेज दिया।

फिर भी 26 ता० को दिन-भर उनकी खोज होती रही। 27 मार्च को एकाएक पता चला कि अस्पताल मे जो वहुत-सी लाशें पडी हुई है, उनमें से एक पर विद्यार्थी जी की लाश होने का सन्देह है। तुरन्त प० शिवनारायण मिश्र और डा० जवाहरलाल वहा पहुचे और यद्यपि लाश फूलकर काली पड गई थी, वहुत कुरूप हो गई थी, फिर भी उन्होंने उनके खद्दर के कपडे, उनके अपने ढग के निराले वाल और हाथ में खुदे हुए 'गजेन्द्र' (विद्यार्थी जी की वांह पर लडकपन से 'गजेन्द्र' खुद हुआ था। इस नाम से वह पहले लेख भी लिखते थे) नाम आदि देखकर पहचान लिया गया कि दरअसल वह विद्यार्थी जी ही की लाश थी। उनका कुर्ता अभी तक उनके शरीर पर था और उनकी जेव से तीन पत्र भी निकले जो लोगों ने विद्यार्थी जी को लिखे थे। उन्हें देखकर यह विल्कुल निश्चय हो गया कि लाश विद्यार्थी जी ही की है।

पूर्णाहुति

सव इन्तजाम कर लिया गया। उसके दूसरे दिन अर्थात् 29 मार्च को सुवह 7-30 वजे दाह-सस्कार हो गया। शव चुपचाप श्मशान घाट ले जाया गया, परन्तु इस अवस्था मे भी वात की वात मे वहा करीव 1000 आदमी एकत्र हो गए। शहर के सभी गण्य-मान्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति पहुच गए थे। इनके अलावा श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, श्री रमाकान्त मालवीय और जवाहरलाल नेहरू के वहनोई श्री आर० एस० पण्डित वहा उपस्थित थे। वडा ही रोमाचकारी, वडा ही मर्म-स्पर्शी और वहुत ही करुणाजनक दृश्य था वह। सभीकी आंखें आसुओं से छल-छला उठी थी। सभी कानपुर के ध्रुवतारे के अस्त होने की महान क्षति अनुभव कर रहे थे।

आधारभूत प्रश्न

यहा एक आधारभूत प्रश्न उठाकर इस प्रसंग को समाप्त करना चाहूगा। वह यह कि क्या ताराचन्दी ढग से यह छिपाया जाए कि विद्यार्थी जी की मृत्यु कैसे, किन परिस्थितियों मे हुई ? मैं कहता हू, नही। इसे छिपाना गलत होगा।

उनकी महान जीवनी मे देवदत्त शास्त्री एक वात पर जोर देना भूल गए कि

सरदार भगतसिंह आदि की शहादत मे उत्पन्न क्रांतिकारी वातावरण को नष्ट करने के लिए और उसे प्रतिक्रियावादी वातावरण मे बदल देने के लिए धूर्त ब्रिटिश सरकार ने यह दंगा कराया। थाने से सफेदपोश पुलिस वाले निकले और सरपट तागा चलाकर यह कहते हुए भागते रहे कि मुसलमान मारे जा रहे हैं। यानी बड़ी चालाकी से दगा कराया गया। पर इमसे हम यह नही कहना चाहते कि जो लोग इस प्रकार अनजाने में साम्राज्य के एजेण्ट बनकर हिन्दू या मुसलमान मारते रहे, वे दोषी नही है। वे दोषी हैं और अन्ततोगत्वा इसके लिए दोषी है धर्मों का 'अफीमत्व' अर्थात् धर्मान्धता। यदि इस प्रकार की भूमिका और टिप्पणी के साथ दगे का ब्यौरा छापा जाए तो उससे कोई हानि न होगी। ऊपर बताए हुए परिप्रेक्ष्य मे गणेशशंकर और स्वयंसेवक जवाहरलाल के हत्यारे बहुत ही दयनीय ब्रिटिश एजेण्ट के रूप मे उभरते है। उनपर क्रोध नही आता, दया आती है जैसे पागल पर।

उपसंहार

यह वैचारिक इतिहास है, अतएव अन्त में संक्षेप में इसका लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाए कि हम किन नतीजों पर पहुंचे :

(1) भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम का प्रारम्भ यदि 1857 ई० में माना जाए (असल में उसका आरम्भ उसी समय हुआ, जब अंग्रेजों के मनहूस कदम भारत पर पड़े) तो 1919 तक, यानी गांधी जी के भारतीय गगन में उदित होने तक, संग्राम के नाम पर केवल क्रान्तिकारी ही मैदान में थे। महात्मा गांधी के भारत में उदय के पहले सैंकड़ों फांसी पा चुके थे। कांग्रेस तथा अन्य संस्थाएं संग्राम नहीं, बल्कि आवेदन-निवेदन के दायरे के कोल्हू के बैलों की तरह थीं।

(2) 1921 ई० के आन्दोलन के बाद क्रान्ति दल और शान्ति दल समान्तर रूप में चले।

(3) 1921 ई० का असहयोग भी परोक्ष रूप से रौलट बिल से निकला और रौलट बिल का उद्देश्य (जैसा कि रौलट रिपोर्ट से जाहिर है) क्रान्तिकारियों को दबाना था।

(4) 1917 ई० की रूसी क्रान्ति के युगान्तरकारी धमाके को अपने में समाकर अपनेको समाजवाद के ऐश्वर्य से समन्वित करने वाले सबसे पहले लोग एम० एन० राय, हरदयाल, शचीन्द्रनाथ सान्याल, अवनी मुकर्जी आदि क्रान्तिकारी थे।

(5) एम० एन० राय ने ताशकन्द में प्रथम कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की। वर्तमान कम्युनिस्ट पार्टियां उससे नहीं निकलीं, बाद में 1925 में पैदा हुईं। फिर टूटकर टुकड़े-टुकड़े होती रहीं। सबसे ताजा टुकड़े करने वाले श्री डांगे हैं, जो आदि कम्युनिस्टों में हैं।

(6) समाजवाद को अपनाकर उसकी वाणी को हर तमोली की दुकान तक पहुंचाने वाले सरदार भगतसिंह थे, जिनकी 'मैं क्यों नास्तिक हूं?' पुस्तिका 1931 के 23 मार्च (उनकी फांसी की पुण्यतिथि) तक लिखी जा चुकी थी।

(7) 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' भारत के अन्दर का पहला समाजवादी दल था, क्योंकि इसके संविधान में कहा गया था कि मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त करना दल का उद्देश्य था। भगतसिंह और आजाद ने दल के नाम में 'सोशलिस्ट' शब्द जोड़कर और अदालत में तथा अन्यत्र वक्तव्य

देकर और लेख लिखकर यह स्पष्ट कर दिया कि समाजवाद से उनका मतलब वेदान्ती समाजवाद या इस्लामी समाजवाद नही, वल्कि रूस आदि देशो में चालू समाजवाद है।

(8) धर्म जनता के लिए अफीम है और उसीके कारण मुरादावाद आदि की जघन्य घटनाए हुई। हिन्दू-मुस्लिम मेल कराने के गाधी-नेहरूवादी थियोसोफी —तू भी भला मैं भी भला, ईश्वर अल्ला तेरे नाम वाला ढोंग-ढकोसला-भरा तरीका असफल हो चुका है, उसके वावजूद और गणेशशंकर विद्यार्थी और गांधी के इन महान वलिदानो की आवोहवा के वावजूद पाकिस्तानी सर्वइस्लामवादी वातावरण जारी है और रहेगा। इस वातावरण को शुद्ध करने का एकमात्र नुसखा है :

इन दोउन ने राह न पाई
तुरुकन की तुरुकाई देखी
हिन्दुअन की हिन्दुआई

कवीर ने इसीको कार्यरूप मे परिणत करते हुए कहा :

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पुजूं पहाड़।

और कहा :

कांकर पाथर जोरिकै मसजिद लई वनाय,
ता चढि मुल्ला वाँग दे क्या वहरा हुआ खुदाय।

और लट्ठमार तरीके से फुफकारकर कहा :

जो तू वाह्मन वाह्मनी को जाया
तो और ठौर ते क्यों नही आया ?

भगतसिह, आजाद, भगवतीचरण, यशपाल आदि ने 'धर्म जनता के लिए अफीम है' का मर्म हृदयंगम कर प्रत्येक धर्म को मानने वालों के लिए यह जरूरी समझा कि वह क्रान्तिकारी तभी समझा जाएगा जब वह सार्वजनिक रूप से अपने धर्म की कमियों का पर्दाफाश करेगा, झटका और हलाल गोश्त मिलाकर पकाया हुआ गोश्त खाएगा। इस मामले मे भगतसिंह, भगवतीचरण, चन्द्रशेखर आजाद की 'नौजवान भारत सभा' सारे पिछले क्रान्तिकारियों को पीछे छोड आई थी। अमरीका मे उत्पन्न गदर पार्टी धर्म को निजी विषय मानकर चुप रहने को कहती थी। पर भगतसिंह टोली ने कहा कि चुप्पी से काम नहीं चलने का। भगतसिह कवीर के उक्त कथनो मे परिचित रहे हो या न रहे हों, कवीर के वचनों से साबित होता है कि वह मार्क्स से पहले प्रचलित धर्मों के अफीमत्व से परिचित थे। गांधी-नेहरू खामख्वाह भटकते रहे और देश को भटकाते रहे। अव भी भारत सरकार उसी भटकाव की शिकार है। नतीजा यह है कि दगे वरावर होंगे और उनके जरिये विदेशी शत्रु भारत को हानि पहुचाएगे।

(9) मंचीय लफ्फाजी से कुछ नही वनने का। वहुत-से कम्युनिस्ट मच से

धर्म के विरुद्ध दहाड़कर धुआंधार भाषण देते हैं, पर अन्दर से वे वही है जो वह पहले थे। नतीजा यह है कि वे क्रान्तिकारी माने नहीं जाते, जैसा कि वे चाहते हैं कि वे माने जाएं, बल्कि इन लोगों ने एक नये ढंग का ढोंग पैदा किया है। सरदार भगतसिंह जिन दिनों फांसीघर में बन्द थे, उन दिनों एक सिक्ख जेल वार्डर पर यह जनून सवार हुआ कि क्यों न मैं इस भटके हुए नौजवान को नास्तिकता के कुए से निकालकर सिक्ख धर्म में वापस लाने का यश लूटूं। तदनुसार वह उनसे मिला। भगतसिंह ने बड़े प्रेम से उसकी बात सुनी। वह जानते थे कि वह उसे बदल नहीं सकते, इस कारण उन्होंने टालते हुए कहा, "देखो भाई, मुझे दो-चार दिनों में फांसी होने वाली है। अब अगर मैं तुम्हारी बात मानता हू, तो लोग कहेंगे, मैंने डरकर तुम्हारी बात मान ली···" (देखिए युगद्रष्टा भगतसिंह और उनका युग)

कथनी और करनी मे एकता के बिना कोई भी मतवाद तरक्की नहीं कर सकता। मंच पर धर्म-विरोध करते हुए छिपकर हनुमान चालीसा का पाठ या कुरानशरीफ की तलावत करने वाले कम्युनिस्टों से 'बन्दी जीवन' के लेखक क्रान्तिकारी शचीन्द्रनाथ सान्याल का दृष्टिकोण अच्छा और सुसगत था। वह कहते थे कि मैं आर्थिक-राजनैतिक क्षेत्र में साम्यवादी हू पर मैं दर्शनशास्त्र में वेदान्त पर चलना चाहता हूं, जिसके अनुसार वसुधैव कुटुम्बकम् है। कम्युनिस्ट देशों में अब धर्म का जिस तरह पुनरुत्थान-सा हो रहा है वह मेरी दृष्टि में इस कारण हो रहा है कि मृत्यु-भय से पीड़ित साधारण मनुष्य के लिए साम्यवादियों के पास कोई घोल या घुट्टी नहीं है, जिसे वे अस्पिरिन की तरह पिलाकर भय-पीड़ित मानव को भयहीन करें।

(10) अब रहा यह, जो हरेक व्यक्ति और पार्टी समाजवाद का गीत गा रहा है, उसे एक बात समझ लेनी है कि समाजवादी समाज में मिश्र उत्पादन-पद्धति की कोई गुंजाइश नहीं है। नेहरू समाजवाद की कसमें खाते रहे और मिश्र उत्पादन को प्रोत्साहन देते रहे। यह एक मतवाद है, पर इसे समाजवाद कहना उचित न होगा। संक्षेप में, यह भी समझा दू कि समाजवाद मे समान वेतन की कल्पना को प्रोत्साहन नहीं दिया गया, क्योंकि उसमें आलस्य को बढ़ावा मिलता। समाजवाद में सबके लिए समान सामाजिक सुविधाएं होंगी, पर जो आलस्य या प्रमादवश उन प्राप्त सुविधाओं को पाकर उनके लिए जरूरी परिश्रम न करे और बीच ही में धैर्य खोकर बैठ जाए, उसे और जो अन्त तक मेहनत करके पाठ्यक्रम को पूरा करे उन दोनों को समान वेतन समाज किस तर्कशास्त्र के अनुसार दे सकता है?

आज मजदूर आन्दोलन में कुछ ऐसे पेशेवर लोग आ गए हैं जो समाजवाद के प्रति कतई प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे अधिक वेतन पाने वाले श्रमिकों (लेबर अरिस्टोक्रैसी) को बरगलाने में समर्थ है। लेनिन आदि महान क्रान्तिकारियों ने मजदूरों का वेतन बढ़ाने और उनकी काम करने की स्थिति को आमूल-चूल सुधा-

रने का आन्दोलन इस कारण चलाया कि इस प्रकार उनमे क्रान्तिचेतना पैदा हों और वे यह समझकर क्रान्ति करें कि उसके बाद ही उनकी सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है। पर भारत के ये मजदूर नेता यह जानते है कि यदि सचमुच समाजवाद आ गया, तो उनका मजदूरों के पैसों पर गुलछर्रे उड़ाना और मालिकों से मेज के नीचे पैसा लेना बन्द हो जाएगा और उन्हे भी कठिन परिश्रम करना पड़ेगा।

दूसरे शब्दो मे, कहा जाए तो क्रान्तिकारी या समाजवाद के नाम पर चलने वाली दुकाने केवल कांग्रेस और जनता दल की बपौती नहीं है, कथित वामपंथी भी इस मर्ज के शिकार है। मार्क्स ने सारे मजदूर वर्ग को एक वर्ग माना है; पर देखा यह जा रहा है कि मजदूरो के वे हिस्से जैसे रेल, डाकतार, जहाजरानी आदि में लगे मजदूर तो हड़ताल करके प्रतिवर्ष अपनी मजदूरी बढाते जा रहे है, जब कि दूसरे उस प्रकार सारा कामकाज ठप्प करा सकने में असमर्थ मजदूर बराबर कुएं के नीचे पडे है। यह कहा का समाजवाद है !

इस प्रकार हम देखते है कि गरम-गरम नारों, धर्म, संस्कृति, राजनीति की आड मे बहुत तरह के सरीसृप और साप हमारे जीवन पर छाए हुए हैं। यदि साधारण व्यक्ति नारो का सही तरीके से विश्लेषण कर उनकी तह मे पहुंचकर चल सके, तभी देश का उद्धार होगा, नहीं तो हम इन चतुर दुकानदारो के फन्दो मे बच नहीं सकते।

(11) संसद्वाद तक सीमित कोई भी दल अपनेको लेनिनवादी अर्थों में कम्युनिस्ट कहलाने का अधिकारी नही, भले ही उसे रूस या चीन या युगोस्लाविया से ठप्पा प्राप्त हो।

*(12) हमारे उपमहाद्वीप मे कोई भी युवा सगठन तब तक क्रान्तिकारी कह-*लाने का अधिकारी नही है, जब तक कि ·

(क) वह 1857 से लेकर बागला देश के मुजीब तक शहीदो की परम्परा से प्रेरित न हो।

(ख) वह वैज्ञानिक समाजवाद को अपना ध्येय न मान ले।

(13) सर्वइस्लामवाद या सावरकर की हिन्दूपद पादशाही मुस्लिम तथा हिन्दू फासिस्टवाद है। इन मतो का खुलकर विरोध करना पड़ेगा। 'सारे जहां से अच्छा' के कवि बाद को (सावरकर की तरह) गिरकर सर्वइस्लामवादी होकर 'मुस्लिम है हमवतन है सारा जहां हमारा' के गायक हो गए। हम बाद के सावरकर का वर्जन करते है, साथ ही बाद के इकबाल का भी वर्जन करते है। भारत सरकार ने वोट के लालच मे किस इकबाल की जन्मशती के लिए लाखो का चन्दा दिया, यह साफ होना चाहिए। इकबाल के बारे मे यह स्वयं इन्दिरा गाधी ने कहा कि वह मरते समय समाजवादी हो गए थे। क्या इसका मतलब इस्लामी समाज--

बाद मे है ? क्या उन्होंने अपने सर्वइस्लामवादी कविताओ, कथनो और स्थापनाओं से तोबा किया था ?

(14) पुरुष और स्त्री के अधिकार समान है। प्रकृति ने स्त्रियों को कुछ हद तक कुछ असुविधाएं दी है, विज्ञान और कानून द्वारा उन असुविधाओं की क्षतिपूर्ति होनी चाहिए। गर्भरोधक गोलियो तथा अन्य उपायों ने कुछ हद तक, और गर्भपात का अधिकार देकर और कुछ हद तक, तथा सन्तान की उत्पत्ति के बाद लम्बी सपारिश्रमिक छुट्टियो का अधिकार देकर उन्नत समाजो ने क्षतिपूर्ति करने की चेष्टा की है। एक समय एक पुरुष एक ही पत्नी कर सकता है, इसके विरुद्ध पुराण, कुरान मे यदि कुछ है, तो वह त्याज्य है, क्योंकि वह मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण करने की छूट देता है।

(15) आबादी का बढना बरबादी है। मार्क्स के समय यह कोई समस्या नही थी। परिवार-नियोजन भारत मे तभी सफल होगा, जबकि किसी न किसी रूप मे लोगों के साथ जबर्दस्ती भले ही न की जाए पर उन्हे बिना जबर्दस्ती किए, हर तरह से मजबूर किया जाए। यदि धर्म (कैथोलिकवाद, इस्लाम या आर्यसमाज) बाधा दे तो उनसे लोहा लेना पड़ेगा।

(16) लोकतन्त्र पूजीवादी शासन को छिपाने के लिए अंजीर का पत्ता है। जब इस अजीर के पत्ते से स्वार्थ नही सिद्ध होता, तो पूजीवाद अपने असली उग्र-रुद्र रूप मे प्रकट होकर फासिस्टवाद हो जाता है। अमरीका जैसे देश मे चुनाव ने स्पष्टत सांपनाथ-नागनाथ का रूप ले रखा है। वहा जनता द्वारा राष्ट्रपति आदि का चुनाव सरासर धोखा है। काले धन से जीते गए चुनाव, चुनाव नही कहे जा सकते।

(17) भारतीय इतिहास का हिन्दू, मुस्लिम, ब्रिटिश युग मे विभाजन जनता के साथ धोखा है। यदि किसी धर्म के लोगों ने किसी अन्य धर्म के धर्मस्थानों को तोड़ा या बलपूर्वक धर्म फैलाया तो उसे न छिपाकर, पाठ्य पुस्तको मे प्रत्येक ऐसे कृत्य की निन्दा कर, पाठक के मन को तैयार करना पड़ेगा। लीपापोतीमूलक ताराचन्दी कथित प्रतिक्रियावादी तरीका गलत इस कारण है कि ऐतिहासिक सत्य अन्ततोगत्वा सामने आ जाते हैं।

●

कुछ संदर्भग्रन्थ

1. यश की धरोहर—भगवानदास माहौर
2. सिंहावलोकन (3 भाग)—यशपाल
3. संस्मृतियां—शिव वर्मा
4. कानाईलाल (बंगला)—मोतीलाल राय
5. हिन्द स्वराज्य—महात्मा गांधी
6. स्वाधीनता-संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—भगवानदास माहौर
7. क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास—मन्मथनाथ गुप्त
8. भगतसिंह ऐंड हिज टाइम्स (अंग्रेजी)—मन्मथनाथ गुप्त
9. फर्स्ट वार आफ इंडिपेंडेंस—(अंग्रेजी) सावरकर
10. हिस्ट्री आफ द फ्रीडम मूवमेण्ट इन इंडिया—(अंग्रेजी, 8 भाग) डा० ताराचन्द आदि
11. आटोबायोग्राफी—(अंग्रेजी) जवाहरलाल नेहरू
12. बन्दी जीवन—(बंगला)—शचीन्द्रनाथ सान्याल
13. भारत के क्रान्तिकारी—मन्मथनाथ गुप्त
14. दे लिव्ड डेंजरसली—(अंग्रेजी) मन्मथनाथ गुप्त



नामानुक्रमणिका



लेखक-परिचय

मन्मथनाथ गुप्त की दो पुस्तकें—जो क्रांतिकारी आन्दोलन पर लिखी गई थीं—ब्रिटिश सरकार द्वारा १९३९ में जब्त कर ली गई थीं। तब से यह क्रांतिकारी इतिहास पर बराबर लिख रहे हैं। अब तक इनकी इतिहास-विषयक कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनके नाम हैं—क्रांतिकारी आन्दोलन का इतिहास, युगद्रष्टा भगतसिंह और उनका युग, चन्द्रशेखर आजाद, भारत के क्रांतिकारी, वे अमर क्रांतिकारी, सुभाषचन्द्र बोस, भूले-बिसरे क्रांतिकारी आदि। इनके अतिरिक्त इनके स्वतन्त्रता-संग्राम और धर्मनिरपेक्षता से संबंधित चालीस उपन्यास, आधा दर्जन साहित्य-समालोचना-विषयक ग्रंथ और तीन पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में छपी हैं।

जन्म १९०८ ई० की सात फरवरी, काशी में। १९२१ के असहयोग आन्दोलन में पहली बार, तेरह साल की उम्र में, तीन महीने की सादी कैद। १९२७ में काकोरी कांड में गिरफ्तार, जिसमें इन्हें चौदह साल कैद की सजा हुई। १९३७ को छूटे। १९३९ में युद्ध-विरोधी व्याख्यान में गिरफ्तार। १९४६ में रिहा। जेलों में कुल बीस साल गुजरे।

स्वतंत्रता के बाद 'बाल भारती', 'योजना', 'आजकल' पत्रिकाओं का सम्पादन। अनेक पुरस्कार। सम्प्रति स्वतन्त्र लेखन में।